पिच्छि-कमण्डलु

लेखक :
पूज्यश्री विद्यानन्दजी मुनि

प्रकाशक :
जयपुर प्रिन्टर्स,
मिर्जा इस्मायल रोड,
जयपुर – १ (राज०)

प्रथम संस्करण : १९६४ ई०
द्वितीय संस्करण : १९६७ ई०
(परिवर्द्धित, संशोधित)

मूल्य : ३ रु०

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स,
मिर्जा इस्मायल रोड,
जयपुर (राज०)

अन्तरङ्ग

"परसमयतिमिरतरणिं भवसागरवारितरणवरतरणिम् ।
रागपरागसमीरं वन्दे देवं महावीरम् ।।"

—वीरस्तुति, जैनरत्नसार, १

'पिच्छि-कमण्डलु' इह - परलोक - समन्वय - अन्वित कतिपय निबन्धों का संकलन है। ये प्रबन्ध मार्गोपदेशकमात्र हैं। मार्ग का जहाँ पर्यवसान होकर गन्तव्य ध्रुवप्रदेश की अधिगति होती है वह इस अक्षरविग्रहात्मक पुद्गलपारिप्लव से इतर ऊपर की वस्तु है। क्योंकि आत्मप्रदेश स्वेतरभिन्न अथ च स्वसमयात्मक है। उसके प्राप्य प्रकारों की निरूपणसाहस्री का संक्षेप अथवा विस्तर ग्रन्थों का, प्रवचनो का, बुद्धिविमर्श का विषय रहा है। यह निरूपण स्वशक्तिपरिमाण से एक पण्डित, एक त्यागी, एक शास्त्र अनादिपरम्परा से करता आया है। मूलस्रोत के रूप मे इसका प्ररूपण केवली भगवान् ने किया है। 'केवलीपण्णत्तो धम्मो मगल' यह धर्म केवलीप्रज्ञापित (प्रज्ञप्त) है और मगलात्मा है। अत एव द्रव्यश्रुतानुबन्ध से इसका लोकविश्रुत महत्त्व व्यवहार का अवार्य अग स्वीकार किया गया है। इसका समर्थनात्मक सुन्दर उदाहरण घटरूप मे देते हुए श्लोकवार्तिक में कहा गया है कि जब घट का निर्माण किया जाता है तब उसके लिए कुलाल को मृत्पिण्ड, चक्र, चीवर, सूत्र आदि की अपेक्षा होती है किन्तु जब वह पाकोत्तीर्ण होकर स्वसंस्कार में परिपक्व हो जाता है तब जलाहरणक्रिया के समय उल्लिखित किसी साधन की आवश्यकता नही रह जाती[1]। भगवान् वीतराग के परमधर्म मोक्ष के विषय मे भी यही सत्य चरितार्थ होता है। पाकोत्तीर्ण होने से पूर्व जैसे सुवर्ण ताडन, छेदन, ताप, कुट्टन आदि स्थिति-मार्गो से विशुद्धि-प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है वैसे ही यह आत्मा अपने अनादिकाल से इस कर्मफलगृहीत, पुण्यापुण्यास्रवजायमाण शरीरसंयोग से नाना योनियो में परिभ्रान्त होकर, प्रतिवार इन वहिर्भावों के संगदोष से परिमुषित होकर जन्म-जरा-मृत्युचक्रमणरूप किट्ट

---

१. "मृत्पिण्डदण्डचक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते ।
उदकाहरणे तस्य तदपेक्षा न विद्यते ।।" — श्लोकवार्तिक

कालिमा में निगृहीत होता आ रहा है। इसकी अग्निविशुद्धि स्वस्वरूपावस्थान है। उस स्वोपलब्धि के वैज्ञानिक सोपान को जिनवाणी स्वानुभव से लोकहितार्थ प्ररूपित करती है। एतावता कहना चाहिए कि शास्त्र अथवा पिच्छि-कमण्डलु आत्मा के लिए सोपानमार्ग की सृष्टि करनेवाले हैं। यही इनका प्रयोजन है। इससे आगे आत्मा को स्वयं ऊर्ध्वमन्थी होना है। यदि इसे यों कहें कि पिच्छि-कमण्डलु आदि आत्मा के असद्भूत लक्षण हैं, सद्भूत नही तो अधिक उपयुक्त कथन होगा। 'दण्डी देवदत्तः' – अर्थात् देवदत्त का लक्षण पूछने पर यदि कहा जाए कि वह व्यक्ति जो हाथ में दण्ड रखता है, देवदत्त है तो यह उसका सर्वकालाविसंवादी स्वलक्षण नही माना जाएगा, क्योकि दण्डधारण उसका स्वांग नही है, किसी आंगिक अशक्ति के सहयोग के लिए गमनागमनक्रिया में उसे दण्डसहकार प्रयोजनीय है, ततःपश्चात् नही। शुद्ध, निर्विकल्प आत्मस्थिति से पूर्व साधनावस्था में, संस्कार-स्थिति मे शौच-संयम-स्वाध्यायादि के उपकरण अपेक्षित है, इसके पश्चात् नही।

भवन की छत पर पहुँचने के लिए सीढियाँ लगाई जाती है, बालक के गत्यात्मक पदचंक्रमणशिक्षणार्थ त्रिचक्रिका (तीन पहियो की साइकिल) का उपयोग किया जाता है, संसार में प्रचलित समस्त वाहन प्राप्तव्यपर्यन्त पहुँचाने वाले साहाय्य साधन है, स्वय साधक नही। इसके पश्चात् भवन की अन्तिम सीढी का परित्याग कर छत पर पाँव बढ़ाने वाला तो स्वय व्यक्ति है। यदि वह उस सोपानपक्ति पर ही अवस्थित रहेगा तो छत पर नही पहुँच पाएगा। मयूरपखों को लेकर यदि कोई सिद्धालय की उड़ान भरना चाहेगा अथवा कमण्डलुमात्र से भवसिन्धुसन्तरण की वाञ्छा करेगा किंवा कतिपय आप्तवाणी के पाठ कण्ठाग्र कर मुक्तिरमा से पाणिग्रहणकी अभिलाषा रक्खेगा तो यह अकृतकार्य होने की शखघोषणावत् होगा। क्योंकि –

> "नुडिवुदु पुद्गल, केळुवदु पुद्गल,
> कडेगे पुद्गल स्नेहकोपा।
> जडदेहनु कि नन्नेदेयोळिरय्या
> बानोला चिदम्बर पुरुषा॥" –महाकवि रत्नाकर, ६६

जिह्वारथ पर बैठकर श्रोत्रभवन में प्रविष्ट होनेवाले शब्द पुद्गल है, उसके स्फोटसहायक दन्त, ओष्ठ, कण्ठ, तालु आदि भी पुद्गल हैं, अधिश्रयण-अवाश्रयण के स्थानभूत जिह्वा और कर्णप्रदेश भी पुद्गल हैं। वाणीरूप शब्दमाध्यम से व्यज्यमान स्नेह तथा कोप भी पुद्गल है। देह भी जड-पुद्गल है। चिदम्बर

आत्मपुरुष उससे परे है, पुद्गलभिन्न है। अतः जो आत्मा पुद्गल का सवर्ण ही नही है, जिसके न जिह्वा है, न श्रोत्र है, न मुखयत्र है, न स्नेह-कोप हैं, और न शरीर है वह पुद्गलद्वारा परिभाषित राग-द्वेष के कथन को किस विधि से ग्रहण करे? और जब इनमें उसका स्व नही, तो क्यो ग्रहण करे? तभी तो इसके निरिन्द्रय, निर्देह, मुक्त स्वरूप को जानते हुए आ० कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा— 'यह एकत्वनिश्चयगत समय (आत्मा) लोक में सर्वत्र सुन्दर है। अतः जब यह बन्धनग्रस्त होता है तो अपनी सहज सुन्दरता खो बैठता है[१]।' आत्मा के ज्ञान-दर्शनरूप स्वलक्षण का निर्वचन आगमशास्त्र मे आचार्यों ने पदे पदे किया है। कथनशैली मे पदसघटनात्मक रीतियाँ बदली है, तत्त्वार्थ की एकरूपता कही द्विमुख नही हुई। उन्होने मुहुर्मुहुः इसी अर्थ का मन्थन-रोमन्थन किया कि—'ज्ञानदर्शन मेरे आत्मा का सद्भूत लक्षण है, यह शाश्वत है। शेष सयोगी भाव विभाव है, बहिर्भव है[२]।'

ये आत्मव्यतिरिक्त सयोगज बहिर्भाव जतुकाष्ठसंयोगवत् है, कमण्डलु में निहित जलतुल्य आधाराधेयभावपरिलक्ष्यमाण होकर भी पद्मपत्रवत् अन्योन्य-भिन्न है। तुषमाषभिन्नता का उपचार इसी भेदविज्ञान को पुष्ट करता है। जब तक व्रतादि से विशुद्धि न हो, इस भेदविज्ञान की यथार्थ प्राप्ति नही हो पाती। गेहूँ की रोटी जब अग्नि पर पक्व की जाती है तब उसके दो भाग स्पष्ट दिखायी देने लगते है, जिसे 'फूलना' कहते है। अग्निपाक से पूर्व उनकी विद्यमानता परिलक्षित नही होती। उस सिकी हुई रोटी को अग्नि पर से उतार लेते हैं क्योकि वह सिद्धान्न हो चुका है। इसी प्रकार आरम्भ मे व्रतादि, पिच्छि-कमण्डलु-शास्त्रादि आदेय है और सिद्धावस्था मे केवल अपना आत्मा ही उपादेय है। गीता मे भी इसी आशय को शब्दान्तर में निरूपण करते हुए कहा है कि—'जब मुनि योगाभ्यासी हो तो स्वचारित्रादि कर्तव्यो का आचरण करे किन्तु जब गन्तव्य पर पहुँच जाए तो उनसे विरत हो जाए, शमवृत्ति धारण करे[३]।'

---

१ "एकत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुदरो लोए।
बधकहा एयत्ते तेण विसवादिणी होई॥" — समयसार, ३

२ "एको मे शाश्वतश्चात्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः।
शेषा बहिर्भवा भावा सर्वे सयोगलक्षणा.।" — सामायिकपाठ, १२

३. "आरुरुक्षोर्मुनेर्योग कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शम. कारणमुच्यते॥" — गीता

उपरितन अनुभाग का आशय यही है कि रागमार्ग को हेय जानकर जो त्यागपथपथिक हुए है उन्हें पिच्छिकमण्डलु धारण करना योग्य है। क्योंकि यह जिनेन्द्रधर्माध्वनीनो की मुद्रा है, शौच संयम के लिए विहित शास्त्रानुमोदित उपकरण है, अपरिग्रह के सूचक लक्षण है, अव्याबाध विहार करने में सौविध्यो-पस्थापक है, सशरीरावस्था में ग्राह्य-अपेक्षा को पूरनेवाले न्यूनातिन्यून साधन है, पवित्र है, याञ्चादोष से मुक्त हैं तथा मुनिवृत्ति को प्रतिक्षण स्मरण करानेवाले हैं। परन्तु इससे अधिक आत्मा के सर्वस्व नहीं है।

आत्मा का सर्वस्व तो आत्मा ही है। एतावता साधना में लगे रहकर शनैः शनैः सम्पूर्ण परभावो से, परसमयो से, नयवादो से उन्मुक्त होने का प्रयास करते जाना चाहिए। आचार्य अमृतचन्द्र अपने 'समयसारकलश' में इन सम्पूर्ण बहिर्भूत वादकोलाहलो का प्रतिषेध करने का मार्मिक प्रबोध देते हुए कहते हैं – 'अये जीवात्मन् ! क्या करता है तू ? प्रवचन, शास्त्रपाठ, पिच्छिकमण्डलु की सभाल और अधिक हुआ तो 'काले पाठः स्तवो ध्यानम्' और बस मान लेता है अपने को कृतकृत्य ! क्या इतने से शुल्क मे आत्मोपलब्धि हो सकेगी ? ये सब तो अकिंचित्-कर है। मेरा परामर्श सुनो ! एक षाण्मासिक योग धारण करो। छोड़ दो यह सब वाद, व्याख्यान ! क्या है ये ? एक शब्दपरम्परा ! एक कोलाहल ! कोलाहल मे लोग आत्मस्थ नही हुआ करते। सुना है माघनन्दी को ? उन्होने ध्यानसूत्रो की रचना की है। वे सूत्र आत्मस्थ होने में उपकारक है। परन्तु उनके लिए किसी प्रशस्त, प्रशान्त, एकान्त की आवश्यकता है। यात्रा में दो भले, किन्तु चिन्तन मे एक—यह अनुभूत लोकोक्ति है। अत सबसे अलग होकर ध्यानलीनता सिद्ध करो। देखोगे चमत्कार ! आत्मोपलब्धि होगी। इससे उत्तम क्या चाहिए ? अपेक्षित है अपने स्वरूपबोध के लिए त्वरता, तत्परता, एक विकलता जिसकी परिसमाप्ति आत्मसाक्षात्कार होने पर होगी[1]।'—

आचार्य का यह उपदेश हृदयग्राही है। इतना ही नही, यह परसमय से पराङ्मुखकर स्वसमय में आने का सरस-मधुर निमन्त्रणपत्र है। यदि जीवन प्रवचन-कोलाहलो मे ही अवसित हो गया तो आत्मोपलब्धि का उपाय क्या होगा ? महाव्रती

---

१ "विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृत. सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुस पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति कि चोपलब्धि "—समयसारकलश, ३४

तपस्वियों का परमलक्ष्य तो आत्मसाक्षात्कार अथ च कैवल्याधिगम है। उसके लिए पर्याप्तकाल रहते ही प्रयत्नवान् होना अभीष्ट है। 'अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो रात्र्या प्राक्'– अथर्ववेद की इस पीयूषपंक्ति का यही भाव है कि व्रतशील वह है जो रात्रि-आगमन से पूर्व दिन-दिन से आत्माभिमुख हो जाए। क्योकि दिन जीवन का पर्याय है और रात्रि मृत्यु का। विजेता वही है जो जीवित रहते अपनी मृत्यु पर विजय पा ले। स्वेच्छया मुक्तिमार्ग पर जीवनविसर्जन करनेवाले धन्यभाग्य पुरुष ही तो ऐसा कह पाते है कि – 'अहो ! मैने अपनी आँखो से अपनी अरथी को (मरणमहोत्सव को) देख लिया। यह अनुपम आनन्द का विषय है। यह दुष्कर तप:समुपात्त समाधि मेरा चरम मरण है। अब न मृत्यु होगी और न जन्म। 'नास्ति जन्म कुतो मृत्युर्नास्ति मृत्यु कुतो भयम्' – जन्म नही होगा तो मृत्यु कैसी और मृत्य न होगी तो भय कैसा ? इसीकी यथार्थ उपलब्धि वांछित है तो स्वय एकान्त में साधना करो। तीर्थंकरो ने, सिद्धो ने, केवलियो ने जन्ममृत्युनिवृत्ति प्राप्त की यह बहुत पढा, बहुत सुना और बहुतो को सुनाया। परन्तु इस अन्यनिष्ठ सत्य को स्वय साक्षात् करो। वही सत्य तुम्हे भी प्रतीत होगा, जिसका अमृतास्वादन ध्रुव, अचल, अनुपमगतिप्राप्त सिद्धो को हो चुका है। क्योकि यह विषय आगमशास्त्रवर्णित तो है तथापि इसकी प्राप्ति वर्णबोध से ऊपर है। तभी तो इसे 'स्वयमपि निभृत. सन्'– कहा गया है। यह सिद्धि सत्य होते हुए भी प्रत्येक भिन्न है। किसी तीर्थंकर की सिद्धि में किसी अन्य के लिए इसका याचनासुलभ-अनुदान नही। यहाँ तो स्वपुरुषार्थ ही सवल है। हाँ, मार्गोपदेशरूप में प्रक्रिया-विधान स्वाध्याय से प्राप्त किया जा सकता है। जिसके लिए निम्नचिन्तन निष्कर्ष हो सकता है –

राग और त्याग दो मार्ग है। रागमार्ग बन्धकारक और त्याग मुक्तिप्रद है। इसे इन्द्रियवृत्ति तथा आत्मवृत्ति (अनिन्द्रियवृत्ति) भी कहा जा सकता है। इन्द्रियों का स्वभाव पराङ्मुखता है और आत्मा का प्रत्यङ्मुखता अर्थात् स्वमुखता। सभी का यह स्वभाव होता है कि वह अपने सजातीय से, उसके सम्पन्न होने से प्रसन्न होता है। सगीतमय स्वर कर्णरन्ध्रों को प्रसन्न करता है, रूप नेत्रो को आह्लादित करता है, सुरभि से घ्राणेन्द्रिय पुलकायमान हो उठती है। इन इन्द्रियो के प्रिय विषय जिन्हे इनकी तन्मात्राएँ कहा जाता है अपने अपने पुद्गलप्रदेशों से प्राप्त होते है। क्योकि इन्द्रियविषय आपातरम्य है अत: अधिकांश लोग इन्द्रियास्वाद से ऊपर नही उठ पाते। सहस्रो व्यक्तियो मे कोई एक धीर पुरुष अक्षों को

उपेक्षित कर आत्मार्थी होता है। वही राग को त्यागता है और त्याग को अनुरागता है। वही उस आत्मा का साक्षात्कार करने में कृतकाम होता है। कठोपनिषद् में वर्णन है कि 'इन्द्रियाँ बहिर्मुख होने से बाहर-बाहर देखती है। परन्तु कोई धीर पुरुष अमृतत्व की इच्छा रखकर प्रत्यगात्मा हो जाता है'[1]। अन्ततः दुर्लभ उपलब्धियो के स्रोत यदि अमृतमय है तो व्रत, तप, सयम, आचार आदि कृच्छ्रसाधनाओं का अनुपालन भी चाहते है। ऊँची शाखा पर लगे हुए फल किसी प्रलम्बपाणि को प्राप्त हो सकते है, नितान्त वामन को नही। स्वय प्रत्यगात्मा होने का यह आत्यन्तिक आग्रह आत्मोपलब्धि मे स्वपुरुषार्थ की घोषणा का उद्गान है। आचार्य अमृतचन्द्र, भर्तृहरि, पद्मनन्दी तथा अन्य आचार्य महानुभाव इसकी प्राप्ति मे स्वानुभूति को एकमात्र प्रमाण मानते आये है[2]। द्रव्यश्रुत यष्टि-आलम्बन है उससे भावश्रुत का अधिग्रहण अभीष्ट है।

ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय में श्रीहरिभद्र सूरि ने जैनदीक्षा को स्वसमयदीक्षा कहा है। 'समयाख्यात्र दीक्षा'— इस समयस्थिति को सामायिक तथा सामायिक को मोक्षांग माना गया है। 'सामायिक च मोक्षागम्'— आत्मा के अपने गुण ज्ञान का अभीक्ष्ण उपयोग स्वाध्यायमुख से कथचित् होता है। अत स्वाध्यायहैतुकी प्रेरणा से 'पिच्छि-कमण्डलु' को अवलोकित करना वाञ्छनीय है। साथ ही 'न निमित्तद्वेषिणा क्षेम' तथा 'शेषा. बहिर्भवा भावा:'— के अवसरोचित अर्थों का समन्वय स्वप्रतिभान से करना चाहिए। किमतिपल्लवितेन। 'आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत्।'

---

१. "पराचि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीर. प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥" – कठोपनिषद् ।२।१

२. 'नम· समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते'—अमृतचन्द्र
'स्वानुभूत्या भवेद् गम्यम्' —पद्मनन्दी
'स्वानुभूत्येकमानाय' —भर्तृहरि

दो शब्द (प्रथम संस्करण)

प्रस्तुत पुस्तक मे सब मिलाकर १४ निबन्ध हैं और वे सभी परिश्रम से लिखे गये हैं। इनकी भाषा भी प्रांजल, उदात्त और प्रवाहमय है। मेरा ऐसा खयाल है कि ये निबन्ध खासकर विद्वानों के काम के हैं। वे ही इनकी भाषा ठीक रूप से समझ सकते हैं। वैसे तो कोई भी शिक्षित इनका उपयोग अपनी ज्ञानवृद्धि के लिए कर सकता है।

इस पुस्तक का नामकरण 'पिच्छि और कमण्डलु' नामक निबन्ध के आधार पर किया गया है। किसी भी मुख्य निबन्ध या कहानी के आधार पर अपने संग्रह का नाम रखने की परम्परा आज चालू है। यह परम्परा ही पुस्तक के नामकरण के औचित्य का समर्थन करती है। अन्यथा इसका दूसरा भी कोई नाम हो सकता था। इस सग्रह के उक्त निबन्ध और 'निर्ग्रन्थ मुनि' नामक प्रबन्ध मे मुनियों के आचार पर आवश्यक प्रकाश डाला गया है। इस दृष्टि से इस सग्रह को 'मुनियो की आचार संहिता' नाम भी दिया जा सकता था जब कि इसमे 'दीक्षाग्रहण क्रिया' नामक निबन्ध भी है।

इसके निर्माता महाराज श्री मुनि विद्यानन्दजी अध्ययन एवं स्वाध्याय मे बहुत रस लेते है और अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग को पर्याप्त महत्त्व देते हैं। ज्ञानाराधना के प्रति उनकी यह जागरूकता इतर मुनियो के लिए वस्तुतः अनुकरणीय है। साधु जब तक विद्वान् और वक्ता न हो तब तक वह अपने व्यक्तित्व से दूसरो को प्रभावान्वित नही कर सकता और न दूसरो के उपयोग का ही सिद्ध हो सकता है। मैं समझता हू, इस पुस्तक का बारहवां 'वक्तृत्वकला' नामक निबन्ध इसी ओर इगित करता है। जगत् के अद्वितीय तार्किक आचार्य समन्तभद्र और भट्टाऽकलकदेव जिनशासन का माहात्म्य अपनी लोकातिशायिनी वक्तृत्वकला के आधार पर ही अभिव्यक्त कर सके थे। आज के त्यागी, तपस्वी अगर इस तथ्य को हृदयगम कर ज्ञानार्जन के लिए जुट जाए और किसी भी दूसरे झगड़े मे न पड़ें, तो न केवल वे अपना कल्याण कर सकते हैं अपितु लोकोद्धार के पुनीत कार्य मे भी सहायक सिद्ध हो सकते है। आचार्य कुन्दकुन्द के 'आगम चक्खू साहू' और 'अज्झयणमेव झाण' की ओर किसी भी गृहत्यागी एव तपस्वी का ध्यान जाना जरूरी है। साधु के लिए जितना निष्कलक चरित्रवान् होना जरूरी है उतना ही विद्वान् होना भी आवश्यक है।

इस सग्रह के 'धर्म और पन्थ, 'नरजन्म और उसकी सार्थकता', 'समाज, संस्कृति और सभ्यता', 'चारित्र बिना मुक्ति नहीं' आदि अनेक निबन्ध सभी के पढ़ने योग्य हैं। इनके अध्ययन से सभी को प्रेरणा मिलेगी। इसलिए कि ये सब एक तपस्वी की कलम से प्रसूत हैं।

किसी २ निबन्ध मे फिर से ऊहापोह करने की जरूरत है। उस ऊहापोह के बाद ही इसका द्वितीय सस्करण सम्पन्न होना चाहिए। इससे यह सग्रह और भी परिष्कृततर एव परिष्कृततम हो जाएगा। किसी भी कृति की समुज्ज्वलता के लिए यह आवश्यक है कि उसकी कमियों की ओर ध्यान दिया जाए, और सम्भव हो तो उसका कायाकल्प कर दिया जाए।

महाराज श्री का यह पावन प्रयत्न सभी दृष्टियों से वांछनीय एव प्रशंसनीय है। मुझे आशा है, यह निबन्धसंग्रह जनमानस को प्रबुद्ध करने मे अवश्य सहायक होगा।

दि० जैन सस्कृत कालेज, जयपुर
२५-१०-६४

चैनसुखदास

ण वि देहो वंदिज्जइ ण विय कुलो ण विय जाइसंयुत्तो ।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेव सावयो होइ ।।२७।।

—आ० कुन्दकुन्द, दर्शनपाहुड

न तो देह की वन्दना की जाती है, न कुल की और न जातिश्रेष्ठ मनुष्य की। गुणों की वन्दना की जाती है। गुणहीन श्रमण हो अथवा श्रावक; वन्दनीय नहीं है। धर्मपरीक्षा, परिच्छेद १७ में लिखा है कि—**'गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते। यतस्ततो बुधैः कार्यो गुणेष्वेवादरः परम् ।।'** जाति गुणों से बनती है और गुणो के ध्वस से मिट जाती है। अत बुद्धिमानो को गुणों का ही समादर करना चाहिए।

अनुक्रमणिका

मंगलमन्त्र

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं

मंगलोत्तमशरण-पाठ

चत्तारि मंगलं । अरिहंता मंगलं । सिद्धा मंगलं । साहू मंगलं । केवलीपण्णत्तो धम्मो मंगलं । चत्तारि लोगुत्तमा । अरिहंता लोगुत्तमा । सिद्धा लोगुत्तमा । साहू लोगुत्तमा । केवलीपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो । चत्तारि सरणं पव्वज्जामि । अरिहंते सरणं पव्वज्जामि । सिद्धे सरणं पव्वज्जामि । साहू सरणं पव्वज्जामि । केवलीपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ।

जिनेन्द्र-भक्ति

भक्ति का अर्थ है तन्मयता। अपने उपास्य के स्वरूप में एकाकार होना भक्ति की सिद्ध उपलब्धि है। विना उपास्य के स्वरूप और गुणसाम्य की प्रयत्नशीलता के भक्ति अपूर्ण है। अपने इष्टदेव को जो-जो रुचिकर है, उसे ग्रहण करना और जिनका निषेध या वर्जन है, उन्हें मन, वचन और काय से अस्वीकार करना भक्ति के लक्षण हैं। 'तद्द्वेष्ये विरागस्तत्स्पृहणीये चानुराग:' अपने प्रभु को अच्छे न लगनेवाले विषयों से विराग और उसके स्पृहणीय पदार्थों पर अनुराग दर्शाते-दर्शाते वे ही राग-विरागमयी प्रवृत्तियाँ एकचित्त होकर उस साधक भक्त का स्वभाव बन जाती हैं। यदि प्रभु अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को पसन्द करते हैं तो उनका भक्त भी उन्ही व्रतों को धारण करना अभिवाञ्छित समझेगा। यदि भगवान् को हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह प्रिय नहीं तो भक्त इन मे रति कैसे कर सकता है? इत्यादि प्रकार से अपनी सम्पूर्ण रुचियों और स्वभाव को अपने आराध्य के साथ तन्मय कर तन्मनस्क होनेवाला वास्तविक भक्तिरस के मूल को पाता है। भक्ति की फलश्रुति का निर्वचन करने वालो ने 'वन्दे तद्गुणलब्धये' लिखकर भक्तिविषयक विशाल प्रबन्ध की महावाक्यता को एक सूत्र मे कह दिया है। यदि वर्षों दीप जलाकर घण्टावादन कर, पूजा-प्रक्षाल करने के उपरान्त भी तद्गुणलब्धि नही हुई तो भक्ति शब्द का शाब्दिक अर्थ भी पल्ले नही पडा उसके भावात्मक अधिग्रहण का तो प्रश्न ही दूर है। जिनचतुर्विंश-तिका की उक्ति है कि—'हे जिनेन्द्र! इस ससार मे वही बुद्धि का पारगामी विद्वान् है, वही सस्कन्धश्रुत समुद्र का हेलया सन्तरण करनेवाला है और वही गुणरत्नों (रत्नप्रतिम गुणावली) से विभूषित तथा श्लाघनीय है जो ससारसर्पविष का अपहार करने मे मणिसमान आपके गुणों को अपने श्रोत और हृदय के अलंकार बनाता है। अर्थात् सुनता है तथा श्रद्धान करता है।[1]

---

१. 'प्रज्ञापारमित: स एव भगवन्! पारं स एव श्रुत-
स्कन्धाब्धेर्गुणरत्नभूषण इति श्लाघ्य स एव ध्रुवम्।
नीयन्ते जिन! येन कर्ण हृदयालंकारतां त्वद्गुणा:
संसाराहिविषापहारमणयस्त्रैलोक्यचूडामणे:॥' — जिनचतुर्विंशतिका, ७.

तद्गुणलब्धि का यह प्रयत्न असामान्य कार्य है। सिद्धालय की ऊंचाइयों को हेलया नही छुआ जा सकता। मन, वचन और काय के बहुमुखी व्यापार को ध्येय की एक बिन्दु पर ले आना उतना सरल नही जितना 'जहँ ध्यान, ध्याता, ध्येय को लय' पदावली को गा देना। गुणलब्धि के लिए आचरण करना होता है, विचारों मे अनेकान्त सप्तभंगी का और चारित्र मे अहिसा का अदमनीय–आत्म-वृत्ति से अनुध्यान, चिन्तन, मननपूर्वक सहजगति से चारित्रप्रवर्तन करना होता है और तब कही साधना के पथ पर सिद्धि के दूरगामी चरण दिखाई देते है। जैसे बास के आश्रय से नट ऊचा चढने मे सफल हो जाता है उसी प्रकार भक्ति के मणिसोपान (सीढियो) के सहारे मनुष्यभव उन्नतावस्था प्राप्त करने में कृतकार्य हो जाता है क्योकि स्तुति करते २ उसे जो तन्मयता प्राप्त होती रहती है, उससे उसे दैहिक विषय-विकारों पर विजय तथा वितृष्णा की आनुषगिक उपलब्धि होती है जिससे शुभोपयोग मे वृद्धि आती है। वह इस तन्मयता मे गाने लगता है कि 'हे जिनेन्द्र'[1] हे तेज पु ज के अधिपति ! मै तुम्हारी श्रद्धा मे डूबा रहूँ, तेरा अर्चनमात्र याद रहे शेष सभी बाते मै भूल जाऊ, मेरे हाथ अजलिबद्ध होकर तुम्हारे समक्ष मेरी अकिचन भक्ति का नैवेद्य लिए रहे, कानो मे तुम्हारी पवित्रकथा सुनायी देती रहे और आँखे त्राटकसिद्ध होकर अनिमेषवृत्ति मे तुम्हारे ही दर्शन का लाभ लेती हुई इन्द्र के सहस्रलोचननिरीक्षण को भी मन्द कर दे। हे देव ! मुझे कोई व्यसन न हो और यदि व्यसन शब्द का अर्थ 'अतिप्रसग-अतिसेवन' है तो मुझे आपकी स्तुति करने का व्यसन रहे एव यह मस्तक तुम्हारी गुरुभार श्रद्धा से निरन्तर नतिपरायण रहे। पूजा के नारिकेल-सा तुम्हारे चरणमूल मे धरा रहे। मैं तुम्हारी ही कृपाओ के प्रसाद से प्राप्त इस अमृतजीवन को जीकर तेजस्वी, सुजन और पुण्यवान् रहूँ। इस प्रकार के उद्गार जब छन्दोमयी वाणी पर स्वत प्रस्फुटित होने लगे तब स्थाणुसमान शरीरवृक्ष पर दैवीवरदान का अमृत-वसन्त कुसुमित हुआ जानना चाहिए। इस भक्तिकुसुम मे विहँसते वसन्त को पाने मे मन के जाड्य (शिशिरभाव) को दूर करना मात्र पर्याप्त है फिर तो 'शक्तिस्तस्य हि तादृशी' उस परमदयाक्षमामूर्ति परमात्मा की करुणा के स्रोत नवीन आकाशगगा

१ 'सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते
हस्तावजलये कथाश्रुतिरत कर्णोऽक्षि सम्प्रेक्षते।
सुस्तुत्या व्यसन शिरोनतिपर सेवेदृशी येन मे
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेज पते !॥' – स्तुतिविद्या, आ० समन्तभद्र.

को प्रवाहित करने लगते हैं जिनमे अवगाहन कर भक्त भक्ति के अनिर्वाच्य रस को पा लेता है। भक्ति से ही मुक्ति है और भुक्ति भी भक्ति से ही है। भुक्ति तथा मुक्ति के लिए जिनचरणारविंद का मधुलिह (भ्रमर) होना अपरिहार्य है। भगवान् जिनेन्द्र ने अपने समस्त दोषों को शान्त कर दिया है इसलिए उन्हें आत्म-शान्ति प्राप्त है और सिद्ध है कि जिसे जो वस्तु प्राप्त है उसमे से वह दूसरों को भी बाँट सकता है और प्रभु शरण मे आए हुओं को शान्ति प्रदान करते हैं[1]। जो श्रद्धा तथा विश्वास के युगलनेत्रो से भगवान् की भक्ति (शरण) ग्रहण करता है उसे निश्चय परमकृतार्थता मिलती है अन्यथा इन बाह्य नेत्रेन्द्रियमात्र से उस श्रद्धामूर्ति का दर्शन होना कठिन है। भगवान् की स्तुति करते हुए एकी-भाव प्राप्त करना भक्त का ध्येय होना चाहिए। 'मम परमविशुद्धि.' जैसे उद्गार उसके समक्ष निकलने चाहिए। यदि भगवान् से पुत्र-पौत्र, धन-सम्पदा और क्षुद्र लौकिक अपदार्थों की याचना की गई तो यह केसर के खेत मे जाकर कुश ग्रहण करने के समान होगा। ये लौकिक वैभव तो मुक्ति के लिए कृत-करिष्यमाण प्रयत्नो की तुलना मे कुछ नही है। अत. याचना के भाव उठे तो उन प्रचित सम्पदाओं के धनी से मुक्तिलक्ष्मी की याचना करना उचित है कि वा मुक्तियाचना से भी क्या? वह तो भक्ति का शुल्क है अर्थात् जहाँ शुल्क रूप मे भक्ति भेंट की और मुक्ति प्राप्त हुई[2]। अत' परिणामविशुद्धि के लिए प्रथम भक्ति की याचना ही मुख्य है। भला, जिनेन्द्रचरणकमलो का मधुप क्या जन्म-जरा-मृत्युबाधाग्रस्त अधमता को पाता है? अथवा हिमालय के दुरारोह शिखर पर खडा होकर कोई मैदानो के मुट्ठीभर ककर-पत्थर चाहता है? जिनेन्द्रबिम्ब को देखनेमात्र मे अशाश्वत विषयादि परिग्रह-मुह्यमान सुखो मे उसे विरक्ति हो जाती है और वह केवलज्ञानरूप अग्नि मे अपने पुण्यों की आहुति (विसर्जन) देने के लिए आकुल हो उठता है[3]। देव के समक्ष अपने पाप दग्ध करने के लिए तो अनेक आते है परन्तु पुण्य भी बन्धपरिणामी है, ऐसा मानकर उनका भी पुष्पाजलिवत् विसर्जन करनेवाले कितने वीतराग हैं, यह अनुभूति से ही जाना जा सकता है। 'विषापहार'

---

१ 'स्वदोषशान्त्या विहितात्मशान्ति शान्तेर्विधाता शरण गतानाम्।
भूयाद् भवक्लेशभयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्य'॥' –शान्तिजिनस्तोत्र, ८०

२. 'श्रीपतिर्भगवान् पुष्याद् भक्तानां वः समीहितम्।
यद्भक्ति. शुल्कतामेति मुक्तिकन्याकरग्रहे॥' –क्षत्रचूडामणि, १।१

३. 'अर्हत्पुराण पुरुषोत्तम पावनानि वस्तून्यनूनमखिलान्ययमेक एव।
अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवलबोधवह्नौ पुण्य समग्रमहमेकमना जुहोमि॥' नित्यपूजा, १२

स्तोत्रकार ने सुन्दर ढंग से भक्ति और तदुद्भूत फलश्रुति का अंकन करते हुए कहा है कि—'हे भगवन् ! मैंने आपकी स्तुति की है एतावता मुझे स्तुतिदक्षिणा दीजिए यह मैं नही कहूगा क्योंकि स्तुति की है तो अपने मन से की है, अपनी इच्छा से और अपनी परिणामविशुद्धि के लिए की है। आपने तो मुझे स्तुति-पाठक नियुक्त नही किया। करते भी कैसे ? वीतराग जो है। और स्तुति करने के लिए यदि स्वर्गपति भी सेवानियुक्त हो, उतने से आप की अनन्तगुणसंवलित अतिशयता मे कौन-सी अभिवृद्धि हो जाती है ? यह तो इन्द्रादि के सौभाग्यो की सूचना है कि वे आपकी सेवा मे है[1]। जहाँ तक स्तुति का प्रश्न है, उसके लिए कहा जा सकता है कि अतिशयोक्ति नामक अलकार स्तुति-अर्थ मे प्रयुक्त किया जा सकता है। अर्थात् किमी मे तिलप्रमाण गुण हो और कोई वाणीपति मेरु प्रमाण वर्णन कर पाए, तब तो वह स्तुति हुई और यदि मेरु की वर्णना करते हुए उसके तिलभाग का वर्णन करने मे ही शेमुषी कुण्ठित हो चले उस हीनोक्ति को अतिशयोक्तिमूलक 'स्तुति' के अर्थ मे लेगे[2] ? किन्तु बालक अपनी तुतलाहट को इसलिए तो नही छोड सकता कि पिताजी के पाण्डित्य के समक्ष ये तुच्छ है। भले तुच्छ हो, अच्छ और स्वच्छ तो हैं। क्योकि हृदय की शुद्धता मिली हुई है। स्तुतिकर्ता भी अपने को अशेषवक्ता नहीं मानता। वह भी यत्किंचित् वाणीगम्य सप्त स्वरो को गा-बजा लेता है। विश्वभर मे कितने स्वर है, उसका अखिल-गुम्फन उसके लिए अशक्य है। वह तो अपने दुरिताजन-नाश के लिए, पवित्र होने के लिए स्तुति को ही माध्यम समझता है[3]। वीतराग जिनेन्द्र तो स्तुति-निन्दाओ से परे है। नदी पर न जाने कितने लोग आते है और कितने प्रयोजनो से आते है। एक पानी पीने आता है, दूसरा पत्थर से पानी उछालता है, तीसरा नहाता है और

---

१. 'इन्द्र सेवा तव सुकुरुता कि तया श्लाघनं ते
तस्यैवेयं भवलयकरी श्लाध्यतामातनोति।
त्व निस्तारी जननजलधे सिद्धिकान्तापतिस्त्व
त्व लोकाना प्रभुरिति तव श्लाघ्यते स्तोत्रमित्थम् ॥' — एकीभावस्तोत्र०, २०

२ 'गुणस्तोक सदुल्लघ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः।
आनन्त्याते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥' स्वयम्भू० ८६

३. 'न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ ! विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्न पुनाति नित्य दुरिताजनेभ्य ॥' स्वयम्भू० ५७
'तथापि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम्।
पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किंचन ॥' स्वयम्भू० ८७.

चौथा कहीं बंसी डालकर मछली की घात लगाता है। और भी कोई पांचवां आ सकता है जो तैरकर या नाव डालकर धार के पार पहुँचना चाहता है। इन विविध प्रयोजनापेक्षी जनों से नदी को क्या काम ? उसकी कोई लहर, गति-क्रम का कोई छन्द किसी के आने-जाने से इधर-उधर नहीं होता। प्यासे को नीर पीना हो तो परिसर के उपकूलों पर उतरे, झुके, अंजलि भरे और पिये यथेच्छ अघाकर, तृप्त होकर। कौन हाथ थामता है कि बस करो। नही पीना चाहे तो भले यावज्जीवन खड़ा रहे। कौन नदी ऊपर उठकर उसके मुख में उतरती है ? यही वीतरागता है। भगवान् परमवीतराग हैं अतः कोई स्तुति करे या निन्दा। उनके समभाव में अन्तर नही आता। उन्हे न तो पारिजातमालाओ से मुग्ध किया जा सकता है और न कण्ठ में सर्प पहनाकर विचलित अथवा क्रुद्ध किया जा सकता है। उनके स्वाभाविक समत्व को चुनौती नही दी जा सकती[१]। ये हर्ष-विषाद, क्रोध-मोह और वासना-कषाय की स्थितिया तो ससार-परायण को प्राप्त होती है। समत्व से आप्यायित मुनीन्द्र पर इनका प्रभाव उसी प्रकार व्यर्थ जाता है जिस प्रकार तैल से चिकने हुए कलश पर पानी। फिर भी जैसे सर-सरिता मे डुबकी लगानेवाले को जलकी शीतलता, पीनेवाले को तृपाशामकता स्वत. प्राप्त होती है वैसे ही प्रभुपदशरणागतो को आत्मिक शान्ति अवश्य मिलती है। इसीको 'शक्तिस्तस्य हि तादृशी' कहा गया है। कोई डुबकी लगाये और इच्छा करे कि शीतलता का स्पर्श न हो, यह वस्तुस्वभाव से विरुद्ध बात है। इसीलिए तो 'कश्छायया याचितया-ऽत्मलाभ'—वृक्षतले अवस्थित होकर छाया मांगना तो प्रवहमान निर्झर को वहने के लिए कहने जैसा है। और याचना करने पर फल-पुष्प तो मिल सकते है किन्तु छाया नही। यदि छाया भी मिला करती तो लोग उसे भी पत्थर मारकर फलो के समान उतार लेते। एतावता यह विशिष्ट आधार तो चरणमूल मे उपासीन भक्तिदीन (भक्ति के लिए याचक) को ही मिल सकता है। यहाँ (उक्त पद में) जो 'आत्मलाभ' पद है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आत्मलाभ तो आत्मप्रकृति मे स्थित होना है। जो अदीन, अयाचक तथा परिपूर्ण आत्मा है वह क्या याचना करता है ? वह तो 'तुझ को देखूं और तुझ-सा हो जाऊं'—महावाक्य है। उसमें

---

१ 'एक' पूजा रचयति नर पारिजातप्रसूनै
क्रुद्ध कण्ठे क्षिपति भुजग हन्तुकामस्ततोऽन्य'।
तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्य स योगी
साम्याराम विशति परमज्ञानदत्तावकाशम् ॥' – ज्ञानार्णव, २७

न याचना है, न कोई इच्छा। अतः वीतराग से वीतरागत्व प्राप्त करना ही उक्त 'जिनेन्द्र-तरु' के नीचे (चरणमूल में) अवस्थान का अभिप्राय है। यदि च भगवान् जिनेन्द्र की शरण में आकर भी किसी प्रकार का दुःखादि शेष रह जाता है तो भक्ति-सपर्या मे ही कही त्रुटि है, ऐसा मानकर अधिक तन्मयता और निरलसता से भक्ति मे अनुरक्त होना चाहिए। क्योकि यदि एक वस्तु दस हाथ ऊची रक्खी हुई है और नौ हाथ की ऊंचाई जितना प्रयत्न करने तक वह प्राप्त नही होती है तो इसमे खिन्नता, अनुत्साह, अकृतकार्यता के भाव क्यो माने ? उसके लिए अपेक्षित एक हाथ भर का जो शेष उद्योग है, उसी मे प्रवृत्त होना पुरुषार्थपरायणता का चिह्न है। स्टेशन की दूरी बीच पथ मे हमारे थकने, श्रान्त-क्लान्त होने से समीपता मे नही बदल जाएगी। उसको समीप लाने के लिए तो हमे चलते रहना पड़ेगा और यह निश्चित है कि जितने कदम की वह दूरी है, उससे अधिक चलना नहीं होगा। हा ! जो मार्ग भूले हुए है, उन्हे कितना चक्रमण करना पडे, यह अवक्तव्य है। इसीलिए तो 'यावदेतेऽपवर्गं' और 'जिने भक्तिर्भवे भवे' कहा गया है। ये सूत्र आस्था की शक्ति को एकाग्र करने के लिए है, उसे हतोत्साह करने के लिए नही। कर्म की जितनी ग्रन्थिया उलझी हुई है, उनके सुलझाने मे अन्तर्मुहूर्त समय भी लग सकता है और अनेक जन्म भी। क्या सभी तद्भवमोक्षगामी होते है ? अनन्तानुबन्धी कर्म का रज्जु इतना सुदृढ भी हो सकता है कि तोडते २, सवर-निर्जरा करते २, उन्हे खपाते हुए कई जन्मो का पुरुषार्थ अपेक्षित हो। अत. भक्त को भाते रहना चाहिए कि 'श्रुत-स्वाध्याय से, वन्दना से, दर्शन से यदि दुःखो का प्रशमन नही हो रहा है तो अपने अनन्तानुबन्धी कर्म की अधिकता अथवा भाव-प्रवणता की कमी है[1]। और निश्चय ही भावशून्य क्रियाएं फलीभूत नही होती। भावात्मक एकता सम्पादन के लिए ही मूर्तिविद्या का आश्रय लिया जाता है और प्रतिमा-वन्दन, अर्चन (पूजा-प्रक्षाल) करने का आगम-सम्मत विधान है। नही तो 'न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये' कहकर उसकी भावशून्यपीठ पर अनुपस्थिति, असिद्धता घोषित नही की जाती। स्थूल से सूक्ष्म की ओर अथवा द्रव्य से भाव की ओर लौटना जीव के उद्धार का पथ है। उपास्य देव की भक्ति

---

१ 'आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि
नून न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दुःखपात्र
यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्याः' ॥ – कल्याणमन्दिरस्तोत्र, ३८.

करते २ उसे इसी का प्रयत्न करना चाहिए। श्रमणसंस्कृति में वीतरागता को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। मोह को मूर्च्छा और परिग्रहो को बन्ध कहा गया है। इसीलिए श्रमणमुनि दिगम्बर, निर्ग्रन्थ होते हैं। वे उपास्य जिनेन्द्र भगवान् के सम्यगाचरित मार्ग पर अग्रेसर होने के लिए यह दीक्षा लेते है। भवान्त के लिए रागादिक्लेशवासित चित्त का विरोध करते है। ज्ञान का इस मार्ग मे बहुत महत्त्व-पूर्ण स्थान है। विना ज्ञान के सम्यक्त्व का घण्टा कौन बजावे? तब सम्यक्त्व-संवलित ज्ञान को ही मोक्षपथ पथिक सम्यक् चारित्र का साधक सोपान बताया गया है। इस ज्ञान और मोक्ष के बीच मे जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है वही स्तुतिकार के रूप मे व्यक्त होता है। आचार्य समन्तभद्र श्रमणसस्कृति के युगद्रष्टा आचार्य हुए है। महान् दार्शनिक होने से उन्हे शुष्क एव नितान्तमस्तिष्कपोषी होना चाहिए था परन्तु वे उच्चकोटि के भक्त भी थे। स्तुतिपद लिखने मे अप्रतिम थे। उनकी ज्ञानधारा भक्तिमय थी इसीलिए उन्हे 'आद्यस्तुतिकार' विरुदालंकृत किया गया है। किन्तु क्यो परमदार्शनिक, वादिराट्, आचार्य होते हुए वे भक्तिरस से ओतप्रोत स्तुतिपदो के निमार्ता थे, यह रहस्य अत्यन्त रोचिष्णु है। भक्ति का अथवा भावो का अतिशय उद्रेक काव्यपदावली का कारण हो सकता है परन्तु आचार्य के लिए यह परिणामविशुद्धि का उत्पादक था। वास्तव मे स्तुति पुण्यप्रसाधक परिणामो की कामधेनु है, अचिन्त्य महाफलो की चिन्तामणि है। यह स्तोत्रमार्ग भक्ति धारा से प्रक्षालित होता हुआ मोक्षलक्ष्मी के आवास तक चला जाता है। जैसे असख्यात प्रदेश दूर रहनेवाला सूर्य अपनी किरणो के स्पर्श से कमलवन को विकसित कर देता है उसी प्रकार सिद्धालय मे विराजमान परमात्मा के गुणस्मरण से हृदयपद्म खिल उठता है और कर्म नष्ट होते है[1]।

इस दुर्लभ मनुष्यभव म जिसे जिनेन्द्रभक्ति मिली, उसे अन्य कुछ प्राप्तव्य शेष नही रहा। उसने दान का फल पा लिया, उग्रतपश्चर्या कर ली, पूजा-प्रक्षाल के शतसवत्सर पूर्ण कर लिये, सभी पवित्र गुणो के साथ शील का सर्वग्राही रूप प्राप्त कर लिया[2]। तन्मयता के एक क्षण मे भव-भव के वरदान उसे प्राप्त हो गये।

१. 'आस्ता तव स्तवनमस्तसमस्तदोष त्वत्सकथापि जगता दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्रकिरण कुरुते प्रभैव पद्माकरेषु जलजानि विकासभाजि॥' भक्तामर० ९.

२ 'दान ज्ञानधनाय दत्तमसकृत् पात्राय सद्वृत्तये
चीर्णान्युग्रतपासि तेन सुचिर पूजाश्च बह्व्यः कृता।
शीलाना निचय. सहामलगुणैः सर्व. समासादितो
दृष्टस्त्व जिन! येन दृष्टिसुभग. श्रद्धापरेण क्षणम्॥' – जिनचतुर्विंशतिका, ६.

संसार ने उसे गुणभूषण कहा, श्रुतस्कन्ध का पारगामी एव प्रज्ञापारमित बताया। समस्त सद्गुण और अच्छाइयां उसे कमकमलवत् प्राप्त हो गई। क्योंकि उसने भक्तिसरोवर में स्नान कर भगवान् से तन्मयवृत्ति स्थिर की[१]। भगवच्चरणारविन्द की सेवा सुलभ नही है। इन्द्र और अन्य देवगण, गन्धर्व, किन्नर तथा अप्सराएं उस सौभाग्य को क्षणकाल के लिए छोड़ना नहीं चाहते। 'जिन चतुर्विशतिका' मे लिखा है कि—'जिनेन्द्रदेव को देवेन्द्रो ने तो स्नान करवा दिया है, देवागनाओं ने मगल गा दिये है, गन्धर्वदेवो ने शरच्चन्द्र के समान शीतल, निर्मल और आह्लादक यश.स्तोत्र का पाठ कर दिया है और शेष देवों ने अपने-अपने भाग मे आईहुई सेवाएं निबटा दी है। इस प्रकार हे भगवन्! स्नान, मंगल, यशोगीत और अन्य पूजा-प्रक्षालोचित सभी काम इन सुकृतविलसितो ने पहले ही निबटा दिये है। हम जो, सेवा के लिए उपस्थित हुए है, वे क्या सेवा करे। किसी प्रकार की सेवा का अवसर न मिलने से हमारा चित्त दोलायमान हो रहा है। अहो! देवो ने कोई सेवा हमारे लिए छोडी ही नही[२]।' यह भक्त के उद्गार है, सेवा के लिए उपास्य के चरणो मे जब तक आत्मसवेदन, उत्कण्ठा, एकीभाव और अनन्यचिन्तन न हो, तब तक भक्ति के अर्थ पल्लवित, पुष्पित और फलित नही होते। क्षत्रचूडामणि की एक सूक्ति है कि 'जन्म और मरण की यह जीर्ण अटवी (पुराना जगल) ससार है। मनुष्य इस मे भटक रहा है क्योकि विषयो ने उसे अन्धा कर रखा है। उस विषयान्ध को मार्गदर्शन करानेवाला दिव्यनेत्र तो जिनेन्द्र-पदारविन्द की भक्ति है। वही मुक्तिदायिनी और मुक्तिमार्ग की प्रेरणा देने वाली है[३]। 'और यह उचित है कि मनुष्य स्वेष्टसिद्धि के लिए किसी एक निश्चित मार्ग का अवलम्बन करे। पल-पल पर मार्ग बदलनेवाला अभीप्सित स्थान को

---

१. 'प्रज्ञापारमित स एव भगवन्! पार स एव श्रुत –
स्कन्धाब्धेर्गुणरत्नभूषण इति श्लाघ्य स एव ध्रुवम्।
नीयन्ते जिन! येन कर्णहृदयालकारता ते गुणा
ससाराहिविषापहारमणयस्त्रैलोक्यचूडामणे ॥' — जिनचतुर्विशतिका, ७

२. 'देवेन्द्रास्तव मज्जनानि विदधुर्देवागना मगला-
न्यापेठु शरदिन्दुनिर्मलयशो गन्धर्वदेवा जगु।
शेषाश्चापि यथानियोगमखिला सेवा सुराश्चक्रिरे
तत् किं देव! वय विदध्म इति नश्चित्त तु दोलायते ॥' – जिनचतुर्विशतिका, २२.

३. 'जन्मजीर्णाटवीमध्ये जनुषान्धस्य मे सती।
सन्मार्गे भगवद्भक्तिर्भवतान् मुक्तिदायिनी ॥ क्षत्रचूडामणि, ६।३३

कैसे पहुंच सकता है ? वह तो प्रत्येक दूसरा पथ बदलते समय अपने पूर्वपथ को तय करने में हुए श्रम तथा समय को भी नष्ट करता है। अतः जिनेन्द्रपदकमलों में एकमात्र चित्तवृत्तियो को समर्पित करना भक्त को श्रेयोमार्ग प्रदान करता है तथा उसमें ग्रानेवाले अपायो (अन्तरायो) का नाश करता है। अशेष कामनाओं का दोहन करने में जिनभक्ति से बढ़कर अन्य साधन नही है[1]। जो भव्यजन यह निर्धारण कर भगवान् को अपने भक्तिरस से अभिषेक करता है उसके सब दु.खाकुरों का निर्वपन अवश्य होता है। मनुष्य अपने दु खशमन के लिए ही भगवान् की शरण में जाता है, इस विषय मे 'शान्ति-भक्ति' का एक श्लोक है कि हे भगवन् ! आपके चरणयुगल मे निरन्तर श्रद्धालुओ का सम्बाध लगा रहता है जिससे प्रतीत होता है कि प्रजाओ की भक्ति आपमे अत्यधिक है। किन्तु प्रभो ! स्वार्थ, चाहे लेशमात्र हो, प्रत्येक क्रिया मे विद्यमान रहता है अत आपके प्रति भक्ति रखनेवालों के स्वार्थ का पता लगाया तो विदित हुआ कि इनमे अधिकाश ससार के अभावो और वेदनाओ से त्रस्त है। यह ससाररूप महासमुद्र तैर जाना उनके वश मे नही है और इसी से रक्षा प्राप्त करने के लिए वे आपके चरणमूल मे आ-आकर विनम्र स्तुतिकुसुमाजलि अर्पित कर रहे है। क्योकि आप तरण-तारण है, भवाब्धिपोत है। जैसे ग्रीष्मऋतु मे लोग दिन मे छायातरुओ का आश्रय लेते हैं, शीतलजलवाले सरोवरो मे डूबे रहकर तापनिवारण करते है, शीतल पेय पीते है और रात्रि मे खले आकाश के नीचे इन्दु की शीतल किरणों से शान्ति प्राप्त करते है तो इसका कोई यह अर्थ लगाए कि उन्हे वृक्षो से, छाया से, शीतल जल और शीतल पेयपदार्थो से अथवा चन्द्रमा से प्रेम है, स्नेह है तो यह वास्तविक नही है। वह तो ग्रीष्मकाल के प्रचण्ड मूर्य का प्रभाव है जो जल-स्थल को उत्तप्त कर देता है, जिससे त्राण पाने के लिए प्रजाएं उन-उन शीतल पदार्थो का सेवन करती है। इसी प्रकार शरण मे आकर जो स्तुति-स्तोत्र का बखान करते है वे भी अपने सन्तापो का निवारण चाहते है[2] और हे भगवन् ! जो समर्थ है उसी से भिक्षायाचना की जाती है और इस प्रकार हे आशापूरण ! आपकी भक्तिरूप वायु से उत्फुल्ल भव्यजनरूप दृतिपात्र

---

१ 'एकैवास्तु जिने भक्ति किमन्यै स्वेष्टसाधनै ।
या दोग्धि काममुच्छिद्य सद्योऽपायानशेषत: ॥'—

२. 'न स्नेहाच्छरण प्रयान्ति भगवन ! पादद्वय ते प्रजा
हेतुस्तत्रविचित्रदु:खनिचय. ससारघोरार्णव.
अत्यन्तस्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्णभूमण्डलो
ग्रैष्म कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुराग रवि. ॥'–शान्तिभक्ति

सरलता से भवार्णव पार पहुच जाते हैं[1]। अत. जो आनन्दाश्रुपूर मे स्नान करते हैं, भक्तिस्तुति बोलतेहुए जिनके कण्ठ गद्‌गद हो जाते हैं, उन शरणागतों के देह मे से आधि-व्याधियाँ उसी प्रकार निकल जाती है जैसे वल्मीक (बांबी) मे से सर्प निकलता है[2]। अतएव भगवान् जिनेन्द्र का आह्निक पूजन-वन्दन-स्तवन करना अपने पापो से छुटकारा पाना है किन्तु जो गृहस्थ होकर षडावश्यकों मे परमावश्यक जिनेन्द्रदर्शन नही करते है, उनका जीवन निष्फल है और गृहाश्रम धिक्करणीय है[3]।

यह भक्ति परमात्म भाव को आत्म प्रतिष्ठित करने की सूचना है, कर्म निर्जरा का सकेत है, मोक्षपथ की ओर बढते हुए चरण है, हिसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म तथा परिग्रहरूप पच पापो का प्रायश्चित्त है, अपने आत्मज्ञान को प्रक्षालित करने का पवित्र नीर है, विवेक समद्र से उत्पन्न दिव्यमणि है, भगवान् के चरणों मे पहुचने के लिए अनुमतिपत्र है। जिसके हृदय मे भक्ति की उत्ताल उर्मिया आन्दोलित हैं, उसे पाप-पक स्पर्श नही करते। भक्त के लिए भगवान् के चरण मोहान्धकार का नाश करनेवाले हैं, विश्व के यावत्पदार्थो को तत्त्वार्थरूप मे प्रकट करनेवाले है, श्री से दीप्तिमान् और तेज पुञ्ज से श्रीमान् है, सन्मार्ग का प्रतिभास करानेवाले है, देवसमूह को पीयूष पिलानेवाले है, भव्यजनो के भक्ति-केन्द्र है और शान्ति तथा शरण प्रदान करनेवाले है। भगवान् के इस स्वरूप का अभीक्ष्ण तापहारी अनुचिन्तन पुन पुन होता रहे, यही जीवन की सार्थकता है[4]।

१ 'त्व तारको जिन ! कथ भविना त एव
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्त:।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून-
मन्तर्गतस्य मरुत' स किलानुभाव:॥'-कल्याणमन्दिर०,१०

२. 'आनन्दाश्रुस्नपितवदन गद्‌गद चाभिजल्पन्
यश्चायेत त्वयि दृढमना स्तोत्रमन्त्रैर्भवन्तम्।
तस्याभ्यस्तादपि च सुचिर देहवल्मीकमध्या-
न्निष्कास्यन्ते विविधविषमव्याधय: काद्रवेया॥' एकीभावस्तोत्र०,३

३ 'ये जिनेन्द्र न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फल जीवित तेषा, धिक् च तेषां गृहाश्रमम्॥, पद्मनन्दी, अ० ६ श्लोक १५.

४. 'मोहध्वान्तविदारण विशदविश्वोद्भासि दीप्तिश्रिय
सन्मार्गप्रतिभासक विबुधसन्दोहामृतावादकम्।
श्रीपाद जिनचन्द्र ! शान्तिशरण सद्भक्तिमानौमि ते
भूयस्तापहरस्य देव ! भवतो भूयात् पुनर्दर्शनम्॥'-क्षमापन, पचाग प्रणाम.

हे भगवन् ! मुनीश ! आपके चरण भक्त के हृदयप्रदेश में अन्धकार का नाश करनेवाले दीपकों के समान लीनहुए-से, कीलेगये-से, स्थिर, निखात-से (कील समान ठोककर गाड़े हुए-से), बिम्बित-से सदैव विराजमान रहे[1]। आप विश्व-वन्द्य है, सबसे विविक्त हैं, सर्वथा अनवद्य हैं, मुक्तिविभव के प्रदाता है। आपके पुण्यपदारविन्द में सहस्र २ नमस्कार है।

---

१ 'मुनीश ! लीनाविव कीलिताविव
स्थिरौ निखाताविव बिंबिताविव।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा
तमोधुनानौ हृदि दीपकाविव ॥' अमित० द्वात्रिंशिका, ४

गुरुसंस्था का महत्त्व

समाज अपने आदर्शों के आधार पर अवस्थित है और आदर्श चारित्र के वज्रलेप से चिरजीविता प्राप्त करता है। जिस समाज के पास अपरिमित भौतिक अथ च लौकिक विभूतियाँ हों किन्तु कोई अध्यात्मसमुन्नत पारलौकिक लक्ष्य न हो तो वह प्राणरहित देह के समान है जिसमे जीवन का तो सर्वथा अभाव है ही उस शवशेष की भी रक्षणीयता नही है। बहुत-से अंपरूप व्यक्ति आत्मा के उन्नत सौन्दर्यालोक मे अप्रशस्य नही लगते क्योकि उनकी कायिक कुरूपता आत्मिक सुरूपता से पराजित हो जाती है। यह आध्यात्मिक सम्पदा मनुष्य के महाप्रभावी पुण्यो की देन है। अध्यात्मभाव से परिचालित मनुष्य मे अवचक गुणो का समावेश होता है। वे गुण उसे निरन्तर परिणामविशुद्धि की ओर ले जाते है। यह परिणामपवित्रता ही धर्म की प्रसवभूमि है। धर्म सम्यक्त्वविशुद्ध आत्मा मे प्रतिफलित करणीय व्यवहारो की संहिता है। लोक मे एतादृश व्यवहरणीय आचरण को चारित्र सज्ञा दी गई है। अत यो कहना चाहिए कि सम्यक्त्व से प्रक्षालित चारित्र ही धर्म है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की '४७८वी गाथा'[1] मे धर्म का वस्तुस्वभाव, जीवस्वभाव, मोक्षमार्गनिरूपक स्वभाव और अहिसा परमस्वभाव के रूप मे निरूपण किया गया है। 'चारित्त खलु धम्मो' कहकर धर्माचार्यो ने धर्म को आचार का क्षेत्रीय अमृतफल बताया है। इस प्रकार धर्म की नीव चारित्र पर और चारित्र का अधिष्ठान तीर्थंकर परमदेव की वीतरागमुद्रा के धारयिता निर्ग्रन्थ मुनियो पर निर्भर है। सम्यक् चारित्र के परिप्रेक्ष्य मे अष्टाविशति मूलगुणो के पालयिता दिगम्बर मुनि साक्षात् धर्मस्वरूप है। वे स्वय उस सम्यक् चारित्र का आचरण करते हैं तथा भव्यजनों के हृदय एव व्यवहार मे उस आचरण के प्रति आस्था और अनुपालन के भावो को उद्रिक्त करते है। मन, वचन और काय से एकरूप होने से निर्ग्रन्थ मुनि ही वास्तविक गुरु है। 'पच वि गुरवे' कहते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने मुनि के गुरुत्व का उल्लेख किया है। निर्ग्रन्थमुनि के गुरुपद की अचल प्रतिष्ठा के उपोद्बलक आचार्यकल्प पडितप्रवर

---

१. धम्मो वत्थुसहावो खमादि भावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तय च धम्मो जीवाण रक्खण च धम्मो ॥स्वा०कार्ति०४७८

श्री टोडरमलजी ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में एक सूक्तिसदृश वाक्यरचना करते हुए कहा है कि यदि कोई शंका करे कि निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि से व्यतिरिक्त किसी को गुरु मानें तो क्या हानि है ? हृदयहारी उत्तरपट्टु पडितजी कहते है—हस पक्षी को ही हस कहा जाता है। यदि किसी सरोवर पर हस दिखायी न दे तो किसी बगुले को हंस मान लेगे क्या ? उक्ति अकाट्य है और गुरुत्वपद के लिए लालायित बकोटों के प्रतिनिधित्व को अमान्य करती है। ये साधु लोक मे उत्तम होने से शरण है, सम्यगाचारपरायण होने से मार्गोपदेष्टा है। पडित आशाधर[1] ने लिखा है कि कल्याणाभिलाषियों को नित्य ही गुरूपासना मे अप्रमत्त रहना चाहिए। गुरुरूप गरुड़ के पखो मे रहते हुए चलनेवालों को विघ्नरूप सर्प कभी बाधा नही करते। निर्ग्रन्थ गुरु इसलिए भी अधिक विश्वसनीय आधार है कि वे त्यागी है और त्यागमार्ग के उपदेष्टा है। संसार मे राग और त्याग दो ही तो प्रवृत्तियाँ है। राग बन्धनमूला प्रवृत्ति है और त्याग निवृत्तिमूला। सारे ससार-धर्मी राग के अपारवार पक मे प्रोथित है और उन्हे मार्ग दिखाने का अधिकार रखनेवाला स्वय भी यदि उसी रागसागर मे गहरे गोते लगाता हो तो मार्ग-दर्शन के नाम पर वह अपने अनुगामियों को राग की पकभूमियों मे ले जाएगा या त्याग की सिद्धशिला पर ?

इस अभिप्राय के अनुसार जो स्वय अवद्यमुक्त मार्ग मे प्रवृत्त है तथा अन्य-जनो को अनवद्य पथ पर प्रवृत्त करता है, किसी प्रकार की स्पृहा नही रखता, वही वास्तविक गुरु है और आत्महितैषी को उसीकी सेवा मे परायण रहना योग्य है, क्योंकि ऐसा गुरु ही स्वय भवसिन्धु को पार करता हुआ लोक को भी तारने मे समर्थ होता है[2]।

गुरु शब्द के अर्थबोध को स्पष्ट करनेवालो ने गुरु और लघु इन परस्पर विलोम शब्दों से गुरु शब्द की गुरुता का निर्देश किया है। तुला का जो भारी भागार्ध होता है वह दूसरे भागार्ध से अपनी गुरुता के कारण ही अधिक गरिष्ठ होता है, निश्चय उसमे कुछ अधिकता निहित होती है। अपने विशिष्ट गुण, धर्म और ज्ञान से यह गुरुता लघुता से सहज ही भिन्न भासित होती है। महाकवि

१. उपास्या गुरवो नित्यमप्रमत्तै. शिवार्थिभि ।
तत्पक्षताक्ष्यपक्षान्तश्चरा विघ्नोरगोत्तरा: ॥सागार०, २।४५.

२. अवद्यमुक्ते पथि यः प्रवर्तते प्रवर्तयत्यन्यजन च नि.स्पृह ।
स एव सेव्य स्वहितैषिणा गुरु स्वयं तरंस्तारयितु क्षमः परान् ॥सूक्ति मुक्तावली.

कालिदास ने कहा है—'रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय' अर्थात् जो रिक्त है वह लघु है और जो पूर्ण है (आभरित है) वह गुरु है, भारी है। यहाँ 'पूर्णता' यह एकमात्र शब्द गुरु के ज्ञानगम्भीर अशेष महत्त्व को एकपद में ही अभिव्यक्त कर रहा है। सम्बन्धपरक गुरु-शिष्य शब्दयुग्म मे गुरु उपदेष्टा, आचार्य इत्यादि अर्थों मे रूढ है। कलिकालसर्वज्ञ की उपाधि से विभूषित आचार्य हेमचन्द्र ने महान्, बृहस्पति, पिता, धर्मोपदेष्टा, भारी और दुर्जर अर्थ मे 'गुरु' शब्द का प्रयोग बताया है[1]। ज्ञान और चारित्र मे वृद्ध (बढ़े हुए) को गुरु कहनेवालो का अभिप्राय यह है कि 'जिनके आत्मतत्त्वरूप निकष से उत्पन्न भेदज्ञान से सवर्धित आलोकनेत्र (ज्ञानचक्षु) है, विद्वानो ने उन्हें ही वृद्ध निरूपित किया है। इसी प्रकार जो तप, शास्त्राध्ययन, धैर्य, ध्यान, विवेक, यम और सयमादि से परिवृद्ध है वे ही वृद्धसज्ञा को अन्वर्थ करने वाले है[2]। केवल वयोज्येष्ठ को अथवा जिसके केश पलित हो गए है उसे वृद्ध नही कहा जाता। युवा होकर भी जो ज्ञानस्थविर है वे ही गुरु है, वृद्ध है[3]। एतावता गुरुत्व द्रव्यलिगी कम और भावलिगी अर्थ मे अधिक प्रशस्य है। यह सम्यक्त्वपूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्र से, आरम्भपरिहारणपूर्वक अशेपकर्मग्रन्थिविमोचन से, ज्ञानपूर्वक आगम-स्वाध्याय से, कठिन तपश्चर्या से और रागादिपरिग्रहत्याग से तथा तुष-माष-प्रतीक गम्यमान स्व-पर-भेदज्ञान से व्यक्तिविशेष मे फलित होकर उसे लोकपूज्य, प्रणम्य उच्चासन प्रदान कराता है। जिस प्रकार शुक्लपक्ष मे एक २ कलाभाग को सचित कर चन्द्रमा पर्वतिथि को उज्ज्वलताप्रदायी पूर्णत्व प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार अशेष ज्ञानावरणोन्मूलनपूर्वक मोहनीय कर्म का नाशकर गुरु अपने स्वप्रतिष्ठमत्यअर्थ मे गुरुत्व को आसादित कर लेता है। तभी वह भुवन मे उच्च पीठ पर भास्वान् के समान विराजमान हो पाता है अन्यथा तो द्वितीया का क्षीण बालेन्दु जैसे पश्चिम के क्षितिज पर अल्पकाल के लिए अपनी तनुकान्ति को लेकर अस्तगत हो जाता है उसी प्रकार अनधीतशास्त्र, अनुपार्जिततप -

---

१. 'गुरुर्महत्यांगिरसे पित्रादौ धर्मदेशके। अलघौ दुर्जरे चापि'—अभिधानचिन्तामणि.

२. स्वतत्त्वनिकषोद्भूत विवेकालोकवर्धितम्।
येषा बोधमय चक्षुस्ते वृद्धा विदुषा मता ॥
तप श्रुतधृतिध्यानविवेकयमसयमै ।
ये वृद्धास्तेऽत्र शस्यन्ते न पुन पलिताकुरै ॥ज्ञानार्णव, १५।४-५

३ न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलित शिर.।
यो वै युवाप्यधीयानस्त देवा. स्थविर विदु ॥ महाभारत.

संयमाचार व्यक्ति भी चाहे वह नभोमण्डल जितनी ऊँचाई पर अवस्थित हो, पुरुषायुष भोग कर सामान्य दशा में ही अस्त हो जाता है। किन्तु विशिष्ट गुरुओं की महिमा नित्य अनस्तमित रहकर सम्यग् ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की आलोक-रश्मियाँ विकीर्ण करती रहती है। जैसे रत्नदीपक को भोर नहीं लगता वैसे स्वयंप्रबुद्ध गुरु सूर्य के समान दिने-दिने अस्तंगत नहीं होते। वे सदा सर्वदा सम-भाव के शिलापीठ पर अवस्थित रह कर निर्बाध ज्ञानचारित्र प्रदान करते है। कभी डूबते नही। बाहर और भीतर के अशेष दोष-तिमिर का निवारण कर वे शिष्य के लिए अपरावर्ती प्रकाश प्रदान करते है। गुरु की इसी महिमा को नमस्कार करनेवालों ने कहा है कि 'ज्ञानरूपिणी अजनशलाका से जिन्होने अज्ञान के अन्धकार मे भटकते लोक को चक्षु-उन्मीलन दिया, उस सद्गुरु को नमोऽस्तु।'[1]

जो भाग्यशाली है उन्हे गुरुओं का कृपाप्रसाद मिलता है[2]। भगवान् जिनेन्द्र की भक्ति, साधुओ की सगति, विद्वानो मे बैठकर दो घडी शास्त्रचर्चा, वाणी मे वाग्मिता का होना, कार्य के सुसम्पादन का चातुर्य, सदुपाय अर्जित वित्त, शील की शुद्धता, मति की विमलता एव सद्गुरुओ के चरणकमलो की उपासना, कमल मे भृग के समान अहर्निश गुरुपदो मे अनुरक्ति किसी पुण्यफल विना कैसे सम्भव है। शकुनविचारको के अनुसार जैसे भारद्वाज, हस और सोनचिडिया के दर्शन शुभनिमित्त के सूचक है और उषा की अरुणिमा जैसे नव विहान तथा सूर्य के सद्य समागम का निर्देश करती है उसी प्रकार सम्यक् चारित्र महाव्रती निर्ग्रन्थ का दर्शन एव सगतिलाभ शुभोदय की विज्ञप्ति करते है। ऐसे सच्चारित्र साधुओ को देखकर सूक्तिकार 'कुल पवित्र जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती वभूव' अथवा 'धन्य जननी धन्य भूमि, धन्य नगरी धन्य देश धन्य करनी धन्य सुकुल धन्य जहाँ साधुप्रवेश' कहने लगते हैं। सचमुच, उनके लिए, जिन्होने सर्वसावद्य से विरति ली है, जो परहितनिरत, सर्वस्वत्यागी,

---

१. अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरवे नम ॥

२. जैनो धर्मः प्रकटविभव सगतिः साधुलोके
विद्वद्गोष्ठी वचनपटुता कौशल सत्क्रियासु।
साध्वी लक्ष्मीश्चरणकमलोपासनासद्गुरूणा
शुद्ध शील मतिविमलता प्राप्यते भाग्यवद्भिः ॥

परमविरागी, मोहममताजयी, कामविजयी, तपस्त्यागसंयमादर्श, महाव्रतधारक और दिगम्बर है, धन्य शब्द के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है ? ऐसे गुरु जहाँ विराजमान हों वहा साक्षाद् धर्म ही कृतासन है, ऐसा मानना चाहिए। उनके विहारमार्ग मे ऋतुक्रम को भुलाकर प्रकृति पुष्पित-पल्लवित और फलित हो उठती है। दुर्भिक्ष पलायन कर जाता है और सुवृष्टि, सुभिक्ष, धन-धान्य आकीर्ण हो उठते है। सोमदेवसूरि ने यशस्तिलक चम्पू मे इसी आशय को लेकर एक हृद्य पद्य की रचना की है[1]। जैसे सूर्य का उदय अन्धकार के विनाश की अबाधित घोषणा है वैसे पिच्छिकमण्डलुपाणि, निर्ग्रन्थ, जिनेन्द्रमुद्रांकित, सम्यक्चारित्र-निष्ठ, अष्टाविंशतिमूलगुणपालक, संयमस्वाध्यायपरायण मुनियो का विहार भी प्रजाओं के कल्याण का संकेत है। सोमदेव सूरि की सूक्ति वाणी की रोचकता मात्र नही है उसमे अनुभूति का अमृतस्पर्श है। एक मराठी कवि ने लिखा है—'साध सन्त एति घरा, तोचि दीवाली दसरा।' दशहरा और दीवाली दोनो पर्व एक दिन, एक साथ नही आते, कुछ दिनो का अन्तर देकर एक-एक आता है। किन्तु अहो ! अहोभागी है वह दिन, जिस दिन तपस्वी मुनि किसी के घर का प्रागण पवित्र करते है। उस दिन दशहरा और दीवाली-दो पर्वो जितना उल्लास, हर्ष अपनी काल की दूरी को भूलकर एक दिन मे समा जाता है। धन्य है वे कवि, लोक-गुरुओं की वन्दना मे जिन्हे ऐसे छन्द सूझते है और जो अपनी कवित्वसामर्थ्य को सत्य दिशा मे लगाकर कृतार्थता अनुभव करते है।

जीवन की सस्कारशाला का आरम्भ गुरुचरणो की उपासना से किया जाता है। बालक जैसे अक और अक्षराभ्यास के लिए शिक्षाशाला मे प्रविष्ट किया जाता है उसी प्रकार सागोपाग सम्यक्चारित्रमूल अहिंसा परमधर्म के प्रशिक्षण प्राप्तिहेतु भव्यजीवो को गुरुचरणधूलि के नित्य ग्रहण का अभ्यास, रखना चाहिए। गृहस्थ के दैनिक षडावश्यको म गुरूपास्ति (गुरु की उपासना) विहित है। गुरु के सतत सान्निध्य मे निवास करने से मन, वचन, काय की विशुद्धि स्वत होने लगती है। वाक्सयम, इन्द्रियसयम, आहारसयम इत्यादि प्राप्त होने लगते है। नीतिकारो के अनुभवसिद्ध वचन इसमे प्रमाण है कि— **'यादृशं सेव्यते पुम्भिस्तादृग् भवति पूरुष'** अर्थात् मनुष्य जिस प्रकार की सगति मे बैठता है वैसा ही बन जाता है। एक ही पानी समुद्र म क्षार, गोस्तनो मे क्षीर,

१. पद्मिनी राजहंसाश्च निर्ग्रन्थाश्च तपोधना.।
य देशमुपसर्पन्ति सुभिक्षं तत्र निर्दिशेत् ।। यशस्तिलकचम्पू:

नदियों में नीर और हिमालय पर तुहिन बन जाता है। यही सिद्धान्त संगति का है। उत्तम गुरूपासना से प्राणी को कृताकृतविवेक मिलता है, स्वपर-प्रत्यायिका भेददृष्टि उपलब्ध होती है, जीवनमार्ग को प्रशस्त करने वाले आत्मिक प्रतिलेखन प्राप्त होते हैं। **'गुरुस्नेहो हि कामसूः'**—गुरु का शिष्य पर स्नेह अभिलषित का पूरक है। किन्तु उस स्नेह के आन्तरबाह्य स्वरूपों में कभी २ मार्दव और कठोरता का द्वैध परिलक्षित होता है। क्योंकि, गुरु शिष्य को योग्य और निर्दोष बनाना चाहते है इसलिए उस कलश बनानेवाले कुलाल के समान उन्हें दो हाथों के समान दो प्रकार की उपलालनवृत्तियों का आलम्बन लेना पडता है। कुलाल एक हाथ चक्र पर निर्मित होते घट के भीतर रखता है और दूसरे से उसे गढने के लिए चोट मारता है। कुलाल के अतिरिक्त कोई यदि कुम्भ पर आघात करे, चोट मारे तो कुम्भ टूट जाएगा क्योंकि चोट लगने से वस्तु टूटती है, यह नैसर्गिक है किन्तु कुलाल की वह चोट कलश को सुन्दर, सुडौल आकार प्रदान करती है क्योकि चोट मारते समय उसके भाव कलशनिर्माण के हैं, ध्वंस के नही तथा रक्षात्मक हाथ भीतर लगा हुआ है। इसीलिए अन्त करुणासलिल गुरुओं की बाह्य शुष्कता भी कलश को परिपक्व करनेवाले आवे के समान शिष्य की बुद्धि एवं चारित्र को पोषण प्रदान करनेवाली ही है और उसी से शिष्य जीवनधारण मे निपुण बनता है। इसी आशय का एक हिन्दीसूक्त प्रसिद्ध है—

गुरु कुलाल, शिशु कुम्भ है घड-घड़ काढत खोट।
अन्दर हाथ पसार के बाहर मारत चोट ॥

कवि भूधरदास ने ससार को समुद्र और गुरु को जहाज़ की रूपात्मकता से निरूपित करते हुए लिखा है—'ते गुरु मेरे मन बसो, जे भव जलधि जहाज। आप तिरे, पर तारहि ऐसे श्रीगुरुराज ॥' और विचारपूर्वक देखा जाए तो संसार की उत्ताल आन्दोलित समुद्राभ विषयवासना कषायबहुल तरंगो के प्रहार से चूर्ण-विचूर्ण होते शिष्य-पोत को कुशल नाविक के समान केवटकर उस पार पहुँचा देनेवाला गुरु ही है अन्यथा अज्ञानशिला पर बैठा मनुज डूब जाता है। ज्ञानरूप चिन्तामणि का प्रदाता गुरु ही है। शिष्य उसके अबुझ प्रकाश मे पथ-कुपथ की पहचान कर अपना स्व-पर विवेक प्रशस्त करता है। गुरु की सन्निधि विना अधिगत ज्ञान सन्दिग्ध होता है। गुरुमुख से ही शास्त्रश्रवण करने की परम्परा इसीकी द्योतक है। कोई भी नेत्रवान् गुरु का उल्लंघन नहीं करता। सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रतीक गुरुओं की कृपा से लोक-परलोक मे प्राप्तव्य

इच्छितों का मार्ग मिल जाता है। 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में उत्कृष्ट तपोधन साधुओं की महिमा का बखान करते हुए उन्हे प्रणाम (नमोऽस्तु) करनेवाले, दान (आहारदान) देनेवाले, उपासना, भक्ति और स्तुति करनेवाले श्रावकों को उच्चगोत्र, भोगैश्वर्य, लोकप्रतिष्ठा, सुन्दर रूप तथा कीर्ति-सम्पन्न होने का उल्लेख किया है[1]। साधुओ के दर्शनमात्र से भी पुण्यबन्ध होता है। साधु तीर्थरूप है। तीर्थ-कृत पुण्य तो समय आने पर फलदायी होता है किन्तु साधुदर्शन का पुण्यफल तो तुरन्त ही मिल जाता है[2]। इसकी सहेतुक प्रतिपत्ति यह भी है कि गुरु आत्महित मे अहर्निश लीन रहते है और सगति करने वाले को भी आत्महित में प्रवृत्त करते है और यह आत्महिताहित परिज्ञान ही जीवन मे सर्वश्रेष्ठ प्राप्य है। 'बुद्धे: फल ह्यात्महितप्रवृत्ति' यदि बुद्धिमान् होते हुए भी आत्मपरिणति से रहित है, उसे दयनीय समझना चाहिए। गुरुजन तपधारी होने से हितमित-भाषी होते हैं और आत्मपरिणामों की विशुद्धि के लिए अधिकतर मौन, उपवास, ध्यान-सामायिक परायण रहते है। ऐसी स्थिति मे वाचा उपदेश नही करने पर भी अपनी मुद्रा से ही आगमरहस्यो का, मोक्षमार्ग का निरूपण करने मे समर्थ होते है। 'मूर्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्ग वपुषा निरूपयन्त' लिखते हुए आचार्यो ने उनकी महाफला तप.साधना को अर्ध्याजलि दी है। किसी नीतिकार ने कहा है कि साधुजन उपदेशवचन बोले, तभी नही, प्रत्युत जब वे सामान्य वार्तालाप कर रहे होते है तब भी अमूल्य उपदेश ही उनकी वाणी से प्रवहमान होता है[3]। इसी हेतु को हृदयंगमकर 'छहढालाकार' ने लिखा है—

'जग सुहितकर सब अहितहर, श्रुतिसुखद सब सशय हरै।
भ्रमरोगहर जिनके वचन, मुखचन्द्र तै अमृत झरै।।'

भला, गन्ना मिठास से भिन्न क्या दे सकता है? पुष्प के पास सुरभि और मकरन्द के अतिरिक्त क्या मिलेगा? कपूर की डिबिया का ढक्कन जितनी वार उठाओगे, सुगन्धि से प्राण तृप्त हो जाएँगे। शुष्क वन-पादपो को हरा-भरा करना

---

१. 'उच्चैर्गोत्र प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात् पूजा।
भक्ते. सुन्दररूप स्तवनात् कीर्तिस्तपोनिधिषु।।' रत्नकरण्ड०, ११५

२ 'साधूना दर्शन पुण्य तीर्थभूता हि साधव।
कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधुसमागम.।।'

३ 'परिचरितव्या. सन्तो यद्यपि नोपदिशन्ति ते।
तेषां स्वैरकथालापा उपदेशा भवन्ति हि।।'

ही तो वसन्त का काम है। गुरुजन सहज स्वभाव से उद्विग्नतागज के अंकुश होते हैं। वे समभावी रहकर संसारी जनो में समभाविता का निर्माण करते है और धर्म के अमृत छन्दों को लोकप्राणों मे व्यापारित करते रहते है। यही उनकी महिमा है जो दिगम्बरत्व के पश्चात् और अधिक उन्हे आवेष्टित कर लेती है। 'वे गुरु चरण जहाँ धरें जग में तीरथ तेह। सो रज मम मस्तक चढो 'भूधर' माँगे येह ॥' उन गुरुचरणों की रज मस्तक पर उठाने मे सारा संसार 'भूधर' कवि के साथ है। कातन्त्रकार ने अढाई द्वीप मे विद्यमान तीन कम नौ कोटि मुनीश्वरों को गुरुभक्ति से 'नमोऽस्तु' कहा है[1]। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु ये पंच परमेष्ठी ही परम गुरु हैं। युगे २ भव्य जीवो ने इनकी उपासना कर स्वर्ग-अपवर्ग प्राप्त किये हैं। सम्पूर्ण पापो का प्रणाश करनेवाला, अशेष कामनाओं को प्रदान करनेवाला तथा सभी मगलो का प्रथम मगल 'पचनमस्कारमत्र' उपर्युक्त पच गुरुओ का ही अचिन्त्यचिन्तामणिप्रभावी मत्र है।

तप, ज्ञान और चारित्रसम्पन्न होना गुरु के लिए आवश्यक है। यह जो भवकान्तार के दुर्गम मार्ग पर पथदर्शक होकर सकल श्रावक समाज को अनुशिष्ट करते हुए अग्रपक्ति मे चलने का निरूपण गुरु महाराज के लिए किया गया है उसमें यह अनुक्त व्याहृत है कि गुरुपदेन समाज जिनका वैयावृत्य करता है वे धर्म के साक्षात् स्वरूप हो, तप-ज्ञान और सम्यक् चारित्र मे परिनिष्ठित हों। समाज उनके आचरण और तप देखकर स्वय नतमौलि हो जाता हो। क्योंकि काल के प्रभाव से आज भारतीयो मे ही नहीं, विश्वनागरिको मे भौतिकता का प्रवेश घर कर गया है। त्यागवृत्ति को आश्चर्य, उपेक्षा तथा जिज्ञासा की दृष्टि से देखा जा रहा है। नया युग, नयी पीढी के लोग यदि आस्थावान् हैं तो यह धर्म के लिए महती उपलब्धि है और यदि अल्प है या क्षीयमाण है तो उसका पुन: सवर्धन करना कर्तव्य है। इस सवर्धन के लिए चतु सघ ही उत्तरदायी है तथापि श्रावक से अधिक त्यागी का भाग इसमे अधिक है। नये युग के श्रावक नये वातावरण मे पल रहे है। नितान्त भौतिक और सुखसुविधासम्पन्न वातानुकूलित, अन्तर्ग्रहप्रवेशसक्षम, विविध वैचित्र्यपूर्ण तथ्यो की छाया मे वह पल रहा है। उसे धर्म और उसके सदेह प्रतीक गुरुओं के प्रति यदि आस्था नही है तो इसमे केवल उसी का दोष नही माना जा सकता। वह देशविदेशों मे शिक्षा के लिए, पर्यटन के लिए आता-जाता

---

१. 'गुरु भक्त्या वयं सार्धद्वीपद्वितयवर्तिन·।
वन्दामहे त्रिसंख्योननवकोटिमुनीश्वरान् ॥' – कातत्र.

रहता है। विश्व के अनेकविध धर्मगुरुओं को देखने-सुनने का अवसर उसे मिलता है। ऐसी स्थिति मे वेष पर आस्था रखते हुए भी गुणसन्निवेष की विशेष अपेक्षा यदि वह करे तो यह सगत ही कहा जा सकता है। उस आधुनिक को बलपूर्वक श्रद्धापरायण कर पाना बृहस्पति के लिए भी अशक्य है। तब दूसरा उपाय यही शेष रह जाता है कि ज्ञान चारित्र के निदर्शन गुरु ही उनके भौतिक अहंकार को आत्मिक चेतना से अनुगत करें। यदि वे ऐसा नही कर सकते तो लोकविमुखता के लिए उन्हे सन्नद्ध हो जाना चाहिए। क्योकि 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' भले ही आत्मकल्याण की साधना मे प्रवृत्त त्यागी के लिए यह अनिवार्य विहित न हो तथापि जिस समय धर्मविप्लव की सम्भावना हो, उस समय तो लोकसम्पर्क रखकर, उसे आस्थावान् बनाकर तथा धर्म के प्रति अज्ञता, अल्पज्ञता, सन्देह, भ्रान्ति एव अनिश्चय की स्थिति का उन्मूलन करना ही श्रेयस्कर है। प्राचीनकाल मे जिन्होने निरन्तर पर्यटन करते हुए नाना प्रकार के लोगो में उनकी अन्तर्दुरभिसन्धि जानने के लिए अनेक वेष तक परिवर्तित किये और जिन्हे उनके समकालीन तथा उत्तरवर्तियों ने वादिराज और सिद्धसारस्वत कहा, निश्चय उनकी मूल आत्मप्रवृत्ति लोकोन्मुख नही थी तथापि देश, काल और जिनधर्म के सरक्षण-सवर्धन के लिए उन्हे वैसा करना पड़ा[1]। आज विविध धर्मों मे प्राचीनकाल के समान सीधी टक्कर नही है। धर्म चर्चा के लिए वह 'अखाडा' पद्धति जिसे 'शास्त्रार्थ' कहते थे, कही दिखायी नही देती। किन्तु सर्वत्र धर्म के प्रति एक तटस्थता, उदासीनता एवं उपेक्षावृत्ति फैलती जा रही है। यह स्थिति उस शास्त्रार्थ-काल से भी अधिक भयावह है। उन्हें वीतराग होते हुए भी यदि कवि, वादिराज, पण्डित, दैवज्ञ, भिषक्, मात्रिक-तांत्रिक और आज्ञासिद्ध सिद्धसारस्वत[2] रूपो मे अपने को प्रस्तुत करना पडा तो इसका आशय यही है कि जैनधर्म के लिए वैसा करने को परिस्थिति उन्हे बाध्य करती थी। अत. यह नेपथ्य विविधता भी उनका तप ही कहा जाएगा। क्योकि वैसा करने

---

१ 'काच्या नग्नाटकोऽह मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्ड
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूव शशधरधवल' पाण्डुरागस्तपस्वी
राजन्! यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥' आ०समन्तभद्र.

२. 'आचार्योऽह कविरहमह वादिराट् पडितोऽहम्
दैवज्ञोऽह भिषगहमहं मांत्रिकस्तात्रिकोऽहम्।
राजन्नस्या जलधिवलयमेखलायामिलाया –
माज्ञासिद्ध किमिनि बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम् ॥' आ० समन्तभद्र

में भी तो उन्हें अनिच्छा से प्रवृत्त होना पड़ा और 'इच्छानिरोधस्तप:' इच्छाओं का निरोध तप है। अतः धर्म की रक्षा के प्रति उत्तरदायी का आचारांगधारी होने के साथ जिनागम एवं जैनेतर वाङ्मय में कुशल पारगामी विद्वान् होना, मेरु-गिरि की अकम्प-स्थिरता, पृथ्वी की सहिष्णुता, समुद्रों की मल-दोष-प्रमोष-क्षमता तथा सप्त भयों से विमुक्तता होना आवश्यक बताया गया है[1]। इतना ही नही, अपितु ज्ञान और तप को धारण न करनेवाले को श्रमणसंघ मे 'गणपूरक' (मात्र श्रमण संख्या मे वृद्धि करने वाला) बताया गया है[2]। यदि साधु में ज्ञान है और तप नही है, तप है और ज्ञान नही है अथवा तप और ज्ञान दोनों हैं तो इन तीनों स्थितियो के प्रति सन्तोष व्यक्त किया गया है तथापि ज्ञान तप-उभयहीन का कोई स्थान नहीं है। 'गुरु' शब्द का अर्थ लगानेवालो ने 'गु' और 'रु' दोनो अक्षरों के क्रमशः अन्धकार और तन्निवर्तक अर्थ करते हुए अन्धकार (अज्ञानजन्य तिमिर) के नाशयिता को 'गुरु' कहा है[3] तथा उस योग्यता परिच्छिन्न व्यक्ति की भवाब्धितारक शब्द से अभ्यर्थना की है। प्राचीनकाल से अद्यावधि इस प्रकार के प्रभविष्णु गुरुओ की एक परम्परा चली आई है जिसने धर्म और समाज को परस्परोपग्रहरूप अन्योन्याश्रयसम्बन्ध मे बाधे रखा है। आचार्य समन्तभद्र, आचार्य अकलंकदेव, आचार्य शान्तिसागर महाराज और पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी उसी परम्परा के कुछ विशिष्ट ख्यातनाम स्तम्भ कहे जा सकते है। इनमे आचार्य समन्तभद्र को तो धर्मप्रभावना के क्षेत्र मे निरन्तर लेखन और वादभिक्षा— दो-दो क्षेत्रों मे एक साथ कार्य करना पडा। कभी तो वह पाटलिपुत्र, मालव, सिन्धु, ठक्क (ढाका-बगाल), काचीपुर और विदिशा (भेलसा) मे वादभेरी बजाते हुए घूमते थे, कभी विद्वज्जनों से भरे-पूरे करहाटक की राजसभा मे सिहगर्जन करते हुए सुनायी देते थे[4]

---

१. 'आचारागधरो वा तात्कालिकस्वसमयपारगो वा, मेरुरिव निश्चल., क्षितिरिव सहिष्णुः, सागर इव बहि क्षिप्तमल , सप्तभयविप्रमुक्त आचार्य ।' —आ० वीरसेनस्वामी.

२ 'ज्ञान पूज्य तपोहीन ज्ञानहीन तपोऽर्हितम् ।
यत्र द्वय स देव. स्याद् द्विहीनो गणपूरण. ॥'

३. 'गु-शब्दस्त्वन्धकारे च रु-शब्दस्तन्निवर्तकः ।
अन्धकारविनाशित्वाद् 'गुरु' रित्यभिधीयते ॥'

४. 'पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान् मालवसिन्धुठक्क विषये काचीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽह करहाटक बहुमट विद्योत्कट सकटम्
वादार्थी विचराम्यह नरपते ! शार्दूलविक्रीडितम् ॥'

—श्रमणबेलगोला, ५४वें शिलालेख का पद्य.

तो कभी रत्नकरण्ड, युक्त्यनुशासन, देवागम, स्तुतिविद्या और स्वयम्भूस्तोत्र की अमृतसिक्त पदावली की रचना में निमग्न दिखायी देते थे। प्रायः यही भाग्य आ० अकलकदेव का रहा। उन्हे भी बौद्धो और वैदिकों से वादसंग्राम मे जूझना पड़ा। उन्होंने अपने एक सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ की चर्चा करते हुए कहा है कि–'मैंने सौगतों (बौद्धों) के नैरात्म्यवाद, क्षणिकवाद मे गिरकर जनसमूह को विनष्ट होते अनुभव किया तब उन आत्मवंचितों के प्रति मेरा हृदय करुणा से आप्लावित हो उठा। मुझे उनके उद्धार की चिन्ता ने अधीर कर दिया। यही कारण है कि बौद्धो और जैनो के बीच हिमशीतल नृपति की सभा मे, जिसमे प्रायः विद्वत् समाज बहुसख्या मे विराजमान था, मैंने जैन और बौद्ध दर्शन पर निर्णायक उस शास्त्रार्थ मे भाग लिया और नैरात्म्यवादियो के उस तान्त्रिक घट के साथ ही उनके अभिमानघट को भी पैर की ठोकर से फोड़ दिया। यह मैं अहकार अथवा द्वेषवश नहीं कह रहा हू[1]। इस प्रकार वादजय करते हुए उन्हे भी आगमशास्त्रो का उपबृहण करना पडा जिनमे राजवार्तिक, सिद्धि-विनिश्चय, न्यायविनिश्चय और लघीयस्त्रय आदि प्रमुख है। 'हिन्दू मन्दिरो मे हरिजनप्रवेश' सम्न्बधी विधेयक जब सामने आया तो उसके अन्तर्गत जैनमन्दिरों मे भी हरिजन प्रवेश को सम्मत मान लिया गया। यह मानकर कि जैन भी हिन्दू है अथ च जैनमन्दिर और हिन्दूमन्दिर समान है। उस समय आचार्य शान्तिसागर महाराज ने इस विधेयक को जैनमन्दिरो पर लागू न होने देने के लिए कठोर कदम उठाया। उन्होने अन्नत्याग कर दिया और देश भर मे श्रावक समाज को सक्रिय किया। परिणाम यह हुआ कि सरकार को जैनो तथा हिन्दुओ को पृथग् जाति-धर्म मानते हुए जैनमन्दिरो मे हरिजन प्रवेश को अस्वीकार करना पड़ा। इस प्रकरण मे एक शिष्टमण्डल २५ जनवरी १६५० को भारत के प्रधान मत्री प० जवाहरलाल नेहरू से मिला और उन्हे स्थिति से अवगत किया। जिसके परिणामस्वरूप ३१ जनवरी '५० को, भारत के प्रधानमत्री के मुख्य निजीसचिव श्री ए० वी० पाई ने प्रधानमत्री की ओर से एक पत्र लिखकर शिष्टमण्डल के दावे को मान्य करते हुए लिखा कि–'यह तो साफ ही है कि बौद्ध हिन्दू नही है। इसी

---

१ 'नाहकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवल
नैरात्म्य प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्धया मया।
राज्ञ. श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धौघान् सकलान् विजित्य स घटः पादेन विस्फालित ॥' आ० अकलकदेव.

प्रकार जैनधर्मावलम्बियों को भी हिन्दू नही माना जा सकता[1]।' इसी मन्दिर प्रवेशप्रकरण मे अकलूज ग्राम के दिगम्बर जैनमन्दिर की वह मुख्य घटना सम्मिलित है जिसने जैनमन्दिरों मे हरिजन प्रवेश की चुनौती को सदा के लिए परास्त कर दिया। कुछ हरिजनों को लेकर शोलापुर के कलेक्टर अकलूज दिगम्बर जैनमन्दिर मे प्रवेश करने पहुचे। मन्दिर के ताला लगा हुआ था, जिसे कलेक्टर साहब ने तुड़वाया और इस प्रकार अपने अधिकार को जताकर हरिजनों को मन्दिर प्रवेश करवाया। यह अभियोग बम्बई उच्च न्यायालय के मुख्य निर्णायक (चीफ जज) श्री अब्दुलकरीम छागला के समक्ष उपस्थित हुआ और वाद-विवाद के पश्चात् २४ जुलाई '५१ को श्री छागला और श्री गजेन्द्र गडकर ने 'Harijans Have No Right To Entry In Jain Temple As They Are Not Hindu Temples' अर्थात् 'हरिजनो को जैनमन्दिरप्रवेश का अधिकार नहीं है क्योंकि जैनमन्दिर हिन्दूमन्दिर नही हैं।' (सिविल अप्लीकेशन नं० ६१ ऑफ १९५१) इस आशय का निर्णय दिया। तात्पर्य यह है कि धर्मगुरुओ को धर्म का वर्चस्व जब खतरे मे हो, चुप नही बैठना चाहिए। क्योकि जैनमत मे श्रावको और श्रमणो का एक सयुक्त धार्मिक सगठन है, जिसे 'चतु सघ' कहते है। मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकाओ का समुदाय जैनसंघ कहा जाता है। इनमे मुनि और आर्यिका त्यागी वर्ग है तथा श्रावक और श्राविका गृही वर्ग है। ये दोनों वर्ग मिलकर चतु सघ कहे जाते हैं और जैनधर्म विद्यमान रहे, इसके लिए उक्त चारो का विद्यमान रहना आवश्यक है। त्यागी और गृही रूप मे पृथक् २ होते हुए भी दोनो अन्योन्याश्रित है तथा एक-दूसरे पर नियन्त्रण जैसा प्रभाव बनाये हुए है। त्यागीवर्ग को सघ मे गुरुपद प्राप्त है अत मार्गनिर्देश करते रहने का उस पर दायित्व है। विना चारित्र एव ज्ञान के समन्वय के इस दायित्व का निर्वहण कठिन हो जाता है। तभी तो 'द्विहीनो गणपूरण.' कहा गया है। यदि गुरु वास्तव मे ज्ञानचारित्रगुरु नही होगे तो गृहीजनो को सुदेष्टा कैसे बना पाएंगे। लोकाभाणक है कि 'छिन्नहस्तो विहस्तस्य कथ बध्नातु ककणम्' जिसके हाथ कटे हुए है वह दूसरे उस व्यक्ति के, जिसके हाथ नही है, कैसे ककण बाधेगा ? अथवा यो कहें कि 'न शिला तारयेत् शिलाम्' पत्थर की शिला दूसरी स्वसदृश शिला को

---

१ श्री एस जी पाटिल, प्रतिनिधि, जैनशिष्टमण्डल, १० सेण्ट्रल कोर्ट, नई दिल्ली को प्राप्त-मचिवालय से प्रधान मत्री के मुख्यसचिव श्री ए वी. पाई का पत्र सख्या ३३/६४/५० –पी०एम०एस० दिनाक ३१–१–५०

कैसे पार उतारेगी ? तो बुद्धिपरामर्श के अनुसार अयुक्त नही होगा। अपने सम्यक्चारित्र से उदीयमान तथा सम्यग्ज्ञान से प्रकाशमान सूर्यसदृश गुरुओं की संगति से ही आत्मकल्याण का मार्ग मिल सकता है।

हीनजनो के साथ संगति करने से बुद्धि हीन होती है, समान वय:शीलों के साथ समता को प्राप्त होती है किन्तु उसमे विशिष्टता, अधिकता तथा गुणोत्कर्ष तो अपने से विशिष्ट गुरुओ की सेवा में रहने से ही प्राप्त होते हैं[1]। यह ससार विकटवन है प्राय. लोग पथभ्रान्त है इसमे से निकल पाना कठिन है किन्तु गुरुजन इसके पारदर्शी होते है। भवाटवी की भूलभुलैया से वे सहज ही पार लगाने का मार्ग बता सकते है। इसीलिए तो गुरुदेव का स्मरण किया जाता है। 'बड़ा विकट यमघाट, गुरु विन कौन बतावे वाट'– वाट (मार्ग) तो गुरु ही बता सकते है। गुरुओं की सगति के अतिरिक्त अन्य संगति अकरणीय है क्योकि प्राकृतजनो से संगति करने से दोषों की प्राप्तिसम्भावना रहती है अत 'संग' सर्वात्मना त्याज्य.[2]' संग का सर्वथा त्याग करना श्रेष्ठ है किन्तु स्वभाववश यदि सग न छोड़ा जा सके तो साधुजनों से ही करना चाहिए क्योकि गुरु, सन्त सत्सग की दिव्य विभूतियाँ है। उनके सग से निसग होने की शिक्षा मिलती है तथा इतर लौकिक जनो के सग से नि.सग भी कभी-कभी सगस्पृही हो सकते है। 'जनेभ्यो वाक् तत स्पन्दो'[3] यह जो एक प्रसिद्ध सूक्त है का अभिप्राय यही है कि त्यागी जब अधिक जनसम्पर्क मे आता है तब उसे जन-जन से वाक्सम्पर्क करना होता है। वाक् मन की प्रेरणा से उत्पन्न होती है। इस मन.प्रेरणा से वाक् और वाक्-प्रतिवाक् से चित्तविभ्रम होना, मन मे लौकसम्पर्कानुविद्ध आर्तरौद्र परिणाम होना आरम्भ हो जाता है जिससे लक्ष्यीभूत पुरुषार्थ की हानि होती है। ऐसा सोचकर त्यागी को तो सग का सर्वथा त्याग करना ही श्रेयस्कर है। तथापि स्वहितानुबन्ध से लोक उनकी चरणच्छाया अवश्य चाहता रहा है अत वह अपने लाभ के लिए एकान्त मे तीव्रतपश्चरित गुरु की सेवोपलब्धि का अवसर खोज निकाले यह उसी के कल्याण का सेतु है। रात्रि होने

---

१. 'हीयते हि मतिस्तात ! हीनैः सह समागमात् ।
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥'

२. 'सग सर्वात्मना त्याज्य स चेत्यक्तु न शक्यते ।
स एव सद्भिः कर्तव्य सन्त' सत्संगभेषजम् ॥'

३ 'जनेभ्यो वाक् तत स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमः ।
भवन्ति तस्मात् ससर्गं जनैर्योगी विवर्जयेत् ॥' समाधिशतक, ७२.

पर लोग अपने अन्धकारावृत प्रकोष्ठों को दीपप्रभा से आलोकित करते हैं, नदी की धारा को पार करते हुए हाथ में जल की थाह लेने के लिए लकड़ी लेकर चलते हैं और प्रखर दिवाकर किरणों के ताप से त्राण पाने के लिए छत्र तान लेते हैं– ऐसा करते हुए वे दीपक, दण्ड और छत्र पर कृपा नहीं करते प्रत्युत अपने लिए ही आलोक, सुरक्षा और शीतलता प्राप्त करते हैं। समाज भी श्रेष्ठगुरुओं से, उनका वैयावृत्य करते हुए अपने कल्याण का पथदर्शन करता है। क्षत्रचूड़ामणिकार ने अपनी एक सूक्तिमणि में कहा है कि 'रत्नत्रय से विशुद्ध होते हुए भव्य जीवरूप पात्रों पर (धर्मसवर्धन के लिए) स्नेह रखने वाला, मोक्षरूप परमपुरुषार्थ मार्ग में संलग्न और दशलक्षण अहिंसा परमधर्म का परिपालन करनेवाला गुरु ही भवसिन्धु मे डूबते हुए भव्यों के लिए तरण-तारण है[1]। वे गुरु सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र के नायक होते है, गम्भीर चारित्रसमुद्र और मोक्षपथ के उपदेष्टा होते हे[2]। उनके त्याग का निरूपण करते हुए कवि भूधरदास ने लिखा है – 'कदलीतरु संसार है त्याग्यो यह सब जान' – उन्होंने ससार की असारता को कदलीवृक्ष के समान जान लिया है और सदा के लिए इसका परित्याग कर दिया है। केले का पेड़ ससार की असारता की ओर सकेत करता है। इसे छीलते जाइये और एक छिलके के नीचे दूसरा छिलका छीलते-छीलते अन्त मे अन्तिम छिलका हाथ मे रह जाएगा। इस प्रकार जैसे कदलीवृक्ष छिलको की एक पर एक पर्त तहाकर खडा दिखता है वैसे नश्वर विषयो के कोट लगाकर मानव अपने तुच्छ जीवन को सम्राट् मान रहा है। वह अपनी भौतिक विपुलता के भार से दबा जा रहा है, पिसा और कुचला जा रहा है। आत्मधर्म की अछोर सम्पदाओ से लदे हुए कल्पवृक्षों से वह वचित है तथा निम्ब के कड़वे फलों को ही द्राक्षा मान बैठा है। जिम नरभव को सुरेन्द्र भी तरसता है उसे मिट्टी के भाव उछाल रहा है। उसे पता नही कि जैसे समुद्र मे गिरी हुई मणि का पुन. मिलना अत्यन्त दुष्कर है वैसे ही मनुष्यभव का प्राप्त होना पुन. पुन· अतिकठिन है। अनेक सागर तक लट, पिपीलिकादि योनियो मे (अपनी खग-मृगजीवनिकाय योनियो मे) पापच्यमान यह जीव 'करम योगते नरगति लहे' कर्मयोग मिलने पर मनुष्यगति का बन्ध कर पाता है। मानो, 'उस

---

१. 'रत्नत्रयविशुद्ध.सन् पात्रस्नेही परार्थकृत्।
परिपालितधर्मो हि भवाब्धेस्तारको गुरु ॥' क्षत्रचूडामणि

२ 'गुरव. पान्तु वो नित्य ज्ञानदर्शननायका.।
चारित्रार्णवगम्भीरा मोक्षमार्गोपदेशका ॥'

जीव के लिए यह सयोग रत्नमणियों की वर्षा है, कल्पवृक्षों की प्राप्ति है। रत्नत्रय के पालन का हिरण्य-अवसर (गोल्डन चांस Golden chance) है। अत. नरभव की प्राप्ति को सार्थक करने के लिए देह मे प्राणों की सबल स्थिति जब तक विद्यमान है प्रयत्नशील रहना चाहिए क्योंकि जल जाने पर (जल चुकने पर) लकड़ी के अंगार भस्म रह जाते हैं और बीत जाने पर समय अनुपयोग के पश्चात्ताप को छोड़ जाता है। इस सदुपयोग की उपलब्धि के कर्णधार सद्गुरु है। इस गुरु सस्था की नित्यता के लिए श्रावको को उतना ही सचेष्ट रहना चाहिए जितना वे अपने वश की रक्षा के लिए होते है। यदि अपना औरस पुत्र नही है तो वे किसी सगोत्रबान्धव के अपत्य को दत्तक लेकर भी वशबेल को उच्छिन्न होने से बचाएंगे।[1] यह उनके भौतिक संसार की रक्षा हुई। इसी प्रकार अपने अध्यात्मलोक के सरक्षण के लिए उसे 'साधु' सस्था को अनुच्छिन्न रखना चाहिए, उसके वैयावृत्य और गुणो के उत्कर्ष को सवर्धित करने मे अपना योगदान करना चाहिए ताकि श्रमण-सस्कृति का यह चतु सघ जीवित रहे और जिनरूप धारण करनेवाली 'गुरुसंस्था' बनी रहकर ध्रुवसूची का काम करती रहे।

---

१ 'जिनधर्म जगद्बन्धुमनुबद्धुमपत्यवत् ।
यतीन् जनयितु यस्येत्तथोत्कर्षयितुगुणै ॥' प० आशाधर सूरि

नरजन्म और उसकी सार्थकता

श्रमण संस्कृति के अमर गायक आचार्य अमितगति ने संसार की चतुरशीतिलक्ष योनियो मे मनुष्यभव को सर्वप्रधान अथ च सर्वश्रेष्ठ बताया है। 'भवेषु मानुष्यभव: प्रधानम्' यह उनकी घोषणा है। वस्तुत: मनुष्य के समान अन्य कोई जीवपर्याय इतना उत्कृष्ट नही है जिसे सिद्धालय की ऊँचाइयाँ सुलभ हों। प्राय. क्षुद्र योनियो मे भटकता हुआ जीव 'काल अनन्त निगोद मँझार, बीत्यो एकेन्द्रिय तन धार' और 'एक श्वास मे अठदश वार, जन्म्यो, मरयो, भरयो दुखभार'— छहढाला की उक्त पक्तियो के अनुसार अनन्त काल तक निगोद में ही रचपचकर दुःखभार सहन करता रहता है। यदि उस एकेन्द्रिय जीव को त्रसपर्याय मिल जाता है तो इसे दुर्लभ चिन्तामणि की प्राप्ति बताया है। इस प्रकार क्षुद्र कीट-पिपीलिका, सिहादिक क्रूर पापानुबन्धी पर्यायो की वध-बन्धमयी दारुण व्यथा का अनुभव करते हुए यह जीव शुभ्रसागर मे पड़ा रहता है। अनेक सागर प्रमाण समय उन मनुष्येतर योनियो मे जन्म-मृत्यु की अबाध चक्की मे पिसता हुआ नरक की मेरु-प्रमाण लोह को गला देने वाली उष्णता मे, शीतलहर मे अवर्णनीय यत्रणाओ को पाता है। जीव की इस अनन्तानुबन्धिनी दयनीयता पर उच्छ्वसित होकर प० दौलतराम कहते है— 'करम जोगतें नरगति लहै'— किसी शुभकर्म का निमित्त मिलने पर नरगति प्राप्त होती है। यह विवेचन साक्षी है कि मनुष्य जन्म कितना दुष्प्राप्य है। और ससार मे जो जितना दुष्प्राप्य होता है उसका मूल्य उतना ही बढ जाता है। उपलब्धि तथा उपयोगिता अथ च उस वस्तु की आवश्यकता उसका मूल्य निर्धारण करती है। विक्रम के १९५६वे सवत्सर मे अकाल पडा तो अकालग्रस्त क्षेत्रो के लोगो ने स्वर्णमुहर देकर कुछ मुट्ठी अन्न प्राप्त किया और अनेक लोग वृक्षो के पत्ते तथा छाल चबा गये। स्वतन्त्रता के लिए सघर्ष करते हुए राणा प्रताप को घास की बनी रोटिया निगलकर रहना पड़ा। ऐसे समय मे एक-एक रोटी का मूल्य सोने की तश्तरी बराबर लग चुका है। इसीलिए वस्तुओ का मूल्य अकथनीय है। दक्षिण भारत के चन्दनबहुल प्रदेश के निवासी उस अमूल्य लकड़ी को साधारण काष्ठ समान जलाते हैं और वही बाजार मे बहुमूल्य होकर बिकती है। इस प्रकार वस्तु का मूल्याकन उसकी उपलब्धि की सुगमता या

कठिनता पर बहुत निर्भर है। यह मनुष्यभव भी चन्दन की लकड़ी है जिसे क्षुद्र—कामोपभोग — वासनाओं के कुण्ड मे जलाना अकिंचन प्रयोजन के लिए आत्मसर्वस्व को नष्ट करने के समान है। मनुष्य की शारीरिक क्षमता उसके बौद्धिक बल से मिलकर अतुल्य हो जाती है। इहलोक को प्रकृति के सौन्दर्य से व्यतिरिक्त जो नगर, ग्राम, हाट, बाजार, रत्न, वस्त्र, धन-धान्य-समृद्धि से आकीर्ण भौतिक रूप मनुष्य ने दिया है वैसा अन्य योनिधारी जीव नही कर सकते। यह संस्कृति और सभ्यता का आन्तर-बाह्य विशाल क्षेत्र मनुष्य के उर्वर, बुद्धिबली मस्तिष्क की उपज है और इस प्रकार यदि मानवबुद्धि के विस्तार को आका जाए तो पृथ्वी के एक सिरे से दूसरे छोर तक इसकी स्वनिर्मित वस्तुओ के नमूने से एक सग्रहालय तैयार हो जाएगा, जिसे देखने के लिए भी अनेक युग चाहिए। अन्य प्राणिजगत् की तुलना में मनुष्य का यह सर्वोपरि वैशिष्ट्य ही सूचित करता है कि मनुष्यजन्म कितना महान् है। आज भी अन्य प्राणी उसी पूर्वावस्था मे है, जिसमे अपने अनादि जन्म समय मे थे और उनके सभी व्यापार उतने ही सीमित है, जितने पूर्व युग में थे। मनुष्यो के साथ, बस्ती मे रहनेवाले पशु-पक्षियो ने मनुष्य के समान प्रगति कहाँ की। वानर आज भी शाखाओ पर विश्राम करते है और युगो पुराना 'शाखा-मृग' शब्द उनके लिए आज भी लागू है। किन्तु मनुष्य ने ईट-पत्थरो के ही नही, आधुनिक विज्ञानशोध से न गिरनेवाले, न टूटनेवाले प्लास्टिक के मकान बना लिये है। बैलगाड़ियो की मन्थर यात्रा रेल, मोटर से गुजरती हुई अतिस्वन विमानो मे द्रुत पर उड़ रही है। रूई के स्थान पर 'टेरेलीन' आगई है। चूल्हे मे लकड़ी का धुंआ नही उठता, वहा विद्युत् का 'स्पेशलकुकर' तैयार हो गया है। तात्पर्य यह कि मनुष्य प्रतिक्षण नवीन होकर जी रहा है।

मनुष्यजन्म की विशिष्टता का यह आधा निदर्शन है। क्योंकि जीव की यह परिणति भौतिक है। आध्यात्मिक पूर्णता ही इसे पूर्ण कर सकती है। अध्यात्म का यह विवेक नरभव की वह सम्पत्ति है जिसे क्षीरसमुद्र के चौदह रत्नो से, अमृत-कलशो से और कुबेर की कोषसम्पदा से नही खरीदा जा सकता। वह तो अमूल्य है और सृष्टि के समस्त उपादान एक ओर के तुलाभाग मे रख दिये जाएं तब भी दूसरी ओर धरीहुई इस आत्मसपत्ति का पलड़ा भारी रहेगा। अध्यात्मविज्ञान की यह खोज मनुष्य के भौतिकविज्ञान की समस्त उपलब्धियो से ऊपर है। यों कहना चाहिए कि भौतिक परमाणुवाद से ऊपर जहाँ विज्ञान कल-परसो पहुँच सकेगा, उससे आगे अलक्षित मे सुरक्षित इस स्वपर विज्ञान को ज्ञान ने जान लिया है।

आध्यात्मिकता का यह आत्मदर्शी निरभ्र स्फुरण भारतीयों को ही मिला है और यदि इसके संवादी स्वर विश्व मे अन्यत्र कहीं सुने जा रहे हैं तो वह भी भारतीय भूमि से उड़े हुए बीज हैं, इसमें सन्देह नही। भारत के लोग मृतक को जला देते हैं, यही इनकी अध्यात्मसिद्धि है। 'ममी' बनाकर उस नश्वर पर मोह करना और जिस पृथ्वी पर जीवन स्वतंत्र होकर विचरण करता है उसी पर मृत्युग्रस्त शवों की विद्रूप ठठरियों को सजाकर रखना, उनकी दुर्गन्ध को फैलाना, किसी आत्मवादी के लिए अकल्पनीय है। इस विचार में तो चार्वाक भी, जो भारतीय दर्शनो मे भौतिकवादी दार्शनिक हुआ है, उन 'ममी' घरों से उत्तम है जो कहता है— 'भस्मान्तं शरीरम्' शरीर का भस्म के साथ अन्त हो जाता है। अर्थात् जीवित दशा मे शरीर के प्रति अत्यन्त मोह रखनेवाला और भौतिक आनन्द मात्र को पल्लवित करने का उपदेश देनेवाला भी मृत्यु के बाद उसके शव में आसक्त नही है। तत्काल उसे भस्म करने की स्वीकृति उसके दर्शन मे भी है। भारतीय अध्यात्मधारा के अनुचितक वैदिको और श्रमणो ने समान रूप से जिस बात को मान्यता दी वह आत्मा की अमरता है। उन्होने जीवन को जन्मलेते, बढते, स्थिर होते, ह्रास को लौटते और मृत्यु दशा को प्राप्त करते काय मे अत्यन्त सूक्ष्मदृष्टि से देखा है। इस जीवन के साथ अभिन्नहोकर निवास करते आत्मा को पहचानने मे उनके सहस्रवार्षिक स्वाध्याय और तप: सत्र लगे है। 'मै कौन हूं' इस प्रश्न ने उन्हे युगों तक अधीर रखा है और आत्मसिद्धि के क्षण ही ऐसे थे, जिन्हे प्राप्तकर वह (दार्शनिक) जीव मुक्त दशा को प्राप्त हुआ। उसने अपने भौतिक शरीर मे एक अपर शरीर को देखा जिसे अविनाशी आत्मा की सज्ञा उसने दी। आत्मा की इस प्राप्ति ने उसका सारा दृष्टिकोण ही बदल दिया। कर्म परिणामो मे गुम्फित आवागमन के सहस्र जन्म-मृत्यु बिब देखकर, उनकी नारकयंत्रणाओं के अनुभव कर उसके विवेक ने प्रश्न किया—हे जीव! नाम और रूप तथा गन्ध-स्पर्शयुक्त इन पुद्गलो को कितनी वार तुमने भोगा। आयु कर्म के साथ शेष होकर भी ये निश्शेष नही हुए। बार-बार कटे हुए केशों के समान, छीले हुए नखों के समान फिर-फिर जन्मान्तरों में बढते गये और अभी तुम्हारी इच्छा और भी है। कैसी है यह तृष्णा? भूख और भोगते रहने की अमिट लालसा? भला, भुक्तशेष थाली पर, जूठन खाने के लिए उच्छिष्टभोजी होने के लिए विज्ञजन तत्पर होते है[1]? हे भव्य! ये बाह्य दृश्य

---

१. 'अहो! मुहुर्मुहुः भुक्ता मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
तेष्वेव भुक्तशेषेषु मम विज्ञस्य का स्पृहा॥'

जगत् और इसके अनन्त पुद्गलस्कन्ध जो तुम्हें स्त्री-पुत्र-कलत्र-मित्रादि रूप में दिखायी दे रहे हैं, कुछ नहीं हैं, सारविहीन हैं, मृगतृष्णा के विशाल सरोवर हैं, नारियल के बूर से बधे हुए मोदक हैं, जिनमें न मिठास है, न क्षुधाशांति। तुम भी उनके लिए कुछ नहीं हो। यह विचार स्थिर करो और मुक्ति पाने के लिए स्वस्थता प्राप्त करो[1]। आत्मा से आत्मा की दर्शनानुभूति करते हुए, दर्शन-ज्ञानमय होकर समाधिलीन रहो[2]। ये जो लोचनों को लुभावने लगनेवाले यावत् पदार्थ है, निश्चय मायानगरी के वचक है, जो ठगी के लिए बाह्य मनोरम रूप की हाट सजाकर तुम्हें उद्देश्यपथ से विरत करते है। इस आत्मदृष्टिको प्राप्तकर श्रमणसंस्कृति ने विरागवृत्ति का अवलम्बन किया। उनके तप-तेज, सयमाचार से उन्हें निर्भ्रान्ति-दर्शन की प्राप्ति हुई जिसे सम्यग्दर्शन के नामसे उन्होने पुकारा। मिथ्यात्व का नाश करने से उनके समक्ष आत्मपरिणामो को विशुद्ध करनेवाले ज्ञान और चारित्र प्रकट हुए। श्रमणमहर्षियो ने भगवान् की दिव्यध्वनि से प्रसूत 'सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग.' सूत्र को प्राप्त किया। अनन्तानुबन्धी कर्मगज का अकुश जैसे मिल गया। मोह का ऊपरी आवरण दाल के छिलके समान उतर गया। भेदविज्ञान ने अनन्तरोमकूपों से समाच्छादित, चर्मावृत शरीर को जाना, उसकी तृष्णा रक्त-मासरूप को पहचानकर भोग-बुद्धि से विरक्त हुई और मानव ने सयम सीखा, अहिंसक आचरण स्वीकार कर लोक से हिंसा का निराकरण किया, मिथ्या भाषण, ब्रह्मचर्यभग, परिग्रहपरायणता जीवन से अलग हटते गये और जैसे नतो-दर भूमि मे पर्वतो का जल बहकर एकत्र हो, ऐसे महाव्रत, मूलगुण और दैनिक आवश्यक कर्तव्य आ-आकर आत्मपरिणामों को शुद्धोपयोग में लगाने लगे। पूर्व-काल का जीवन, जो वासनाओ का दास था, आत्मरति होने से उनपर प्रभु बन गया। यह परिवर्तन मनुष्य ने अपनी तपश्चर्या से किया। जिस प्रकार किसी पक भरे नाले मे फसे हुए रथ को बैलो की जोड़ी लगाकर निकाल बाहर किया जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र ने मिलकर जीवन के अध्यात्मरथको वासना-पक से उबार लिया। यह महान् विजय का दिन था मानव के इतिहास मे। अब नरजन्म सार्थक हुआ था। अधोगामी वृत्तियो का उन्मूलन कर उर्ध्वगामिता के

---

१ 'न सन्ति बाह्या मम केचनार्था भवामि तेषा न कदाचनाहम्।
इत्थ विनिश्चित्य विमुच्य बाह्य स्वस्थ सदा त्व भव भद्र मुक्त्यै ॥'
—अमितगति द्वात्रिंशतिका, २४

२. 'आत्मानमात्मन्यवलोकमानस्त्व दर्शनज्ञानमयो विशुद्ध।
एकाग्रचित्तः खलु यत्रतत्र स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम् ॥' अमितगति द्वात्रिंशतिका, २५.

पथ आत्मा ने, आत्मा के सहयोग से, आत्मा के लिए ज्ञान लिये थे। तीर्थंकरों का तप सफल हुआ, उनकी दिव्यध्वनि ने कोटि-कोटि जन्म-व्याधिजरा-आकीर्ण जनों को मुक्तिपथ बताया। महान् व्यक्तियों का तप अपने कल्याण के साथ लोककल्याण करनेवाला होता है। सूर्य का ताप संसार की जड़ता का भी नाश करता है, यह उत्तम तप का स्वाभाविक परिणाम है। दुर्लभ वस्तुओ के लिए तप करना आवश्यक है। तप का उल्लघन कोई नहीं कर सकता[1]।

आध्यात्मिक सम्पदा से मनुष्य में ज्ञान, वैराग्य का उदय होता है और सत्-असत् का विवेक निश्चयता को प्राप्त करता है। श्रम और तप–ये दो नाम क्रमश भौतिक तथा आत्मिक उद्यम को बतानेवाले है। जितना भूतसर्ग-जन्य सुख है, उसके लिए श्रम की आवश्यकता है और जितना आत्मसुख है, उसे प्राप्त करने के लिए तपश्चर्या की। श्रम का परिणाम श्रान्ति-थकान है और तप का परिणाम आत्मा का उत्थान है। इसीलिए 'तप' का विलोम शब्द 'पत' (पतन) है। जो शरीरी तप नही करता, उसका पतन निश्चित है। केवल श्रम करने से इहलोक के अस्थायी सुख मिल सकते है किन्तु तप से श्रम के परिणाम शुभ होते है। 'विद्यातपोभ्या भूतात्मा' इस भूतपिण्ड, पुद्गलस्कन्ध शरीर की शुद्धि विद्या और तप से होती है। यह विद्या सम्यग्ज्ञान है और तप सम्यक्चारित्र का नामान्तर है। जीवन मे जब सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सुप्रतिष्ठित हो जाते है तभी निःश्रेयस को, कल्याण की प्राप्ति होती है। नरजन्म को अर्थवान् करने के लिए प्रबुद्धचेतनाशील व्यक्ति इस कल्याणपथ को स्वीकारते है। श्रमण तीर्थंकरों की इस सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रमूल अध्यात्मसंपत्ति को आचार और विचार नाम से अभिहित किया गया है। विचारपूर्वक परिशीलित ज्ञानचारित्र को (उभयसमन्वय को) श्रेयोमार्ग बताते हुए कहा गया है कि 'अकेला ज्ञान पगु (पदहीन) है और अकेली क्रिया अन्धी है तथा श्रद्धारहित स्थिति मे ज्ञान और क्रिया समन्वित होकर भी अर्थयुक्त नही हैं। मोक्षपद के लिए तो ज्ञानक्रिया तथा श्रद्धा तीनो सम्मिलित रूप मे हो तभी सफल है[2]।' इन तीनो का समन्वय मन-वचन और काय का अनन्यस्थान है। क्योकि लौकिक हो चाहे पारलौकिक–कार्यमात्र मे त्रिकरणशुद्धि अपेक्षित है। यदि

---

१. 'यद् दुर्गं यद् दुरापच यच्च दुर्धरतास्थितम्।
तत् सर्वं तपसा साध्य तपो हि दुरतिक्रमम्॥'

२. 'ज्ञान पगु क्रिया चान्धा निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम्।
ततो ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रयं तत्पदकारणम्॥'

मन-वचन-काय की त्रिपुटी का संयोग नहीं होगा तो व्यस्त अध्यवसाय से निष्पन्न कार्यों मे एला के दानों की महक नही आएगी। एला की तिहरी बाड़ ही भीतर की सौरभ को सुरक्षित रखती है। अतः ज्ञान को क्रियासिद्ध करने के लिए तथा क्रिया को ज्ञानोपेत रखने के लिए विद्वान् इस ज्ञानक्रिया के उभयसंयोग को आवश्यक मानते हैं। क्योकि, इस संयोग का लाभ लेकर अन्ध और पंगु जो गहनवन मे भटके हुए है, परस्पर-सहयोग से नगर प्रवेश करने की पगडंडी पकड़लेगे[1]। नहीं तो उस हरिणी के समान, जो आगे खड़े बाणहस्त व्याध से, पास में बिछायी हुई जाल-मालाओं से, पीछे दहकती हुई अग्नि से, बायी ओर से झपटकर आते हुए शिकारी कुत्तों से घिर गई है और जिसके पैरों मे मृत्युभय से छिपकर, उलझ-सुलझ चलते शिशु है, ससारमार्ग पर वासनादिसे ग्रस्त मनुष्यो की दुर्दशा होने वाली है। ऐसी स्थिति मे, 'किंकरोमि क्वयामि' क्या करूं और कहा जाऊ–यह पश्चात्ताप ही शेष रह जाता है। क्योकि 'प्रोद्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यम कीदृशः'–जब भवन में आग लग चुकी है तब कूप खोदने का परिश्रम क्या भवनदाह को बचा सकता है ?[2] ज्ञानपूर्वक क्रिया करने मे और ज्ञान विना क्रियासम्पादन मे यही मौलिक अन्तर है। ऐसे मनुष्य क्षमा, त्याग, तप और ध्यान तो करते है किन्तु उनके पीछे उस दृष्टि का अभाव है जो सम्यक्त्व नाम से पुकारी जाती है। उनको अपने किये हुए कर्म का लाभ नही मिल पाता। उनकी क्षमा, उनका त्याग, तप और ध्यान निर्बलता, नाश, क्लेश और अकर्मण्यता का नामान्तर होकर रह जाता है। भर्तृहरि ने ऐसे अनृतोद्यमियो को लक्ष्य कर एक सूक्ति कही है–'क्षमा तो हमने की, परन्तु धर्म के विचार से नही, घर के सुखचैन तो छोडे, परन्तु सन्तोषपूर्वक नहीं, हमने शीत-आतप-वर्षा-क्लेश तो सहन किये किन्तु तप भावना से नही, अपितु दरिद्र होने से। ध्यान हमने भी किया, किन्तु धन का – शिव (मुक्ति) चरणों का नही और इस

---

१ 'हतज्ञान क्रियाहीन हता चाज्ञानिना क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पगुलः ॥'–राजवार्तिक
'सयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञा नह्येकचक्रेण रथ. प्रयाति।
अन्धश्च पगुश्च वने प्रविष्टौ तौ सम्प्रयुक्तौ नगर प्रविष्टौ ॥'–राजवार्तिक

२. 'अग्रेव्याधः करधृतशरः पार्श्वतो जालमाला
पृष्ठे वह्निर्दहति नितरा वामत सारमेयाः।
एणी गर्भादलसगमना बालकं रुद्धपादा
चिन्ताविष्टा वदति हरिणं किं करोमि क्व यामि? ॥'

प्रकार जिन आचरणों को मुनि करते हैं, हमने भी किया किन्तु फल से वंचित रहे[१]। क्योंकि, हमारी क्षमा और मुनियो की क्षमा भिन्न-भिन्न थी। हमने तो—

> 'क्षमा क्षमाविन कीन, विना सन्तोष तजे सुख।
> सहे शीततप घाम, विना तप पाय महादुख।।
> धरचो विषय को ध्यान, मुक्ति को पथ नहि ध्यायो।
> तज्यो सकल ससार, प्यार जब उन विसरायो।।

इसीलिए शास्त्रकारों ने भी सम्यक्चारित्र पालन मे ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) के सहभाव को आवश्यक समझा है। 'कलश' काव्य मे आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि जो व्यक्ति मोक्षप्राप्ति साधनभूत कर्मों की कृच्छ्रचर्या से क्लेश उठा रहे है, वे भले वैसा करते हुए अपनी कष्टसहिष्णुता का परिचय दे और जो महाव्रतो एव तप-भार से भग्न हो रहे है, वे भी उस अतिभार से टूटते रहे। क्योकि ज्ञान की अनुपूर्वी के विना किये हुए ये कष्टमय व्यापार मोक्षप्राप्ति मे सहायक नही हो सकते। क्योकि मोक्षप्राप्ति का साक्षात्कारण तो सम्यग्ज्ञानविशिष्ट सम्यक्-चारित्र है। उस ज्ञानगुणवर्जित ज्ञानविना आचरित चारित्र से मोक्षप्राप्ति नही[२]। अत. चारित्र के पीछे ज्ञानमय दृष्टि आवश्यक है। इसके लिए यदि यो कहे कि ज्ञान स्वपर प्रत्ययकारक है और चारित्र स्वप्रत्यय से प्राप्त दृष्टि (दर्शन) को सार्थक करने का श्रेयोमार्ग है, तो समीचीन होगा। ससार के प्रत्येक कार्य-व्यापार मे उसका ध्येयावच्छिन्न दर्शन ही मूल है। जब तक लक्ष्य नही बनता, दृष्टि बिन्दु पर नही टिकती और जब कोई गन्तव्य लक्ष्य नही चलने का, चारित्र का अवसर नही मिलता। चारित्र का परिज्ञान नही होता तब तक मनुष्य अपने नरभव को सार्थक नही बना सकता। और उस सामान्य दशा मे 'आहारनिद्राभयमैथुनानि सामान्यभूतानि पशोर्नराणाम्।' आहार, निद्रा, भय, अब्रह्म आदि सभी क्रियाए

---

१. 'क्षान्त न क्षमया गृहोचितमुख त्यक्त न सन्तोषत,
सोढा दु सहशीतवाततपनक्लेशा न तप्त तप।
ध्यात वित्तमहर्निश नियमितप्राणैर्न शम्भो पद,
तत्तत् कर्म कृत यदेव मुनिभिस्तैस्तै फलैर्वंचितम्।।' भर्तृहरि वैराग्य० १३

२ 'क्लिश्यन्ता स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः,
क्लिश्यन्ता च परे महाव्रततपो भारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षात् मोक्ष इद निरामयपद सवेद्यमान स्वय,
ज्ञान ज्ञानगुण विना कथमपि प्राप्तु क्षमन्ते न हि।।' —समयसार, कलश १४२।

मनुष्य और पशु में समान रहेगी। मनुष्य भी अपनी दिन और रात्रि की चर्या खाने-पीने और सोने तथा मैथुनी सृष्टि के उत्पन्न करने मे लगाता रहेगा। इस व्यामोहनिशा का प्रभात होते-होते प्राणपंछी को महाकाल के उन्मुक्त आकाश में उडने का निमत्रण आ पहुचेगा। उस दिन—'जब यह मन-पछी उड़ि जैहै। ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहै।' और 'घर के कहे वेगि ही काढो, भूत भये केहि खैहै'— उस दिन जब यह प्राणपक्षी तनपजर छोड़कर उड़ जाएगा, तब इस शरीर रूप वृक्ष के सारे पत्ते झर जाएगे। उस निष्प्राण शरीर को देखकर घरवाले कहेंगे, अरे! इस शव को शीघ्र बाहर निकालो, श्मशान मे ले जाओ। कहीं भूत हो गया तो खाने को दौडेगा। अब मुकाम बदल गया। कोमल गाव-तकिये लगानेवाला चुभनेवाली लकडियो पर (काष्ठचिता पर) सोयेगा। पत्नी का आलिगन करने के स्थान पर अग्निज्वालाओं का स्पर्श करेगा। जलते हुए शरीर की हड्डियों के जोड जब चटखेगे, रतिनूपुरो का शब्द होगा और हसते-गाते जीवन की कथा कुछ राख, कुछ अगारे बनकर रह जाएगी। सारा दर्प, भवन, धन, दारा, सुत, वैभव यहीं धरे रहे और जीव चला गया। अनन्तानुबन्धी कर्मों की शृखला मे कुछ वृद्धि और कर गया। योगी जिन्हे स्वेच्छा से त्यागता है, भोगी को विवश होकर उन्हे त्यागना पडा। एक ने त्यागकर निराकुलशान्ति प्राप्त की और दूसरा स्वय उनसे परित्यक्त होकर दीन बना। विषय तो जानेवाले ही थे। विषयसुखो की रात्रि लम्बी हो सकती है परन्तु शाश्वत नही। किन्तु जब यह रात्रि बीत जाती है तो विषयी के मन मे अन्धेरा हो जाता है। वह उन इन्द्रियसुखो को पुन. पुन. पाने के लिए पुन ससार रात्रि मे उच्छिष्ट-विषयशरावो को चाटता रहता है। अहो! त्याग और त्यक्त मे कितना अन्तर है? स्वय समय से पूर्व स्वेच्छया विषयो का त्याग करनेवाला अनन्त सुखशान्ति प्राप्त करता है[1]। वस्तुत. इन विषय-भ्रमरियो मे चक्कर खाता हुआ जीव अपने नरभव को सार्थक नही कर पाता। क्योंकि बचपन तो खेलते-कूदते अज्ञानदशा मे बीत जाता है, यौवन विषय-रति मे निकल जाता है और वृद्धावस्था तो ऐसी स्थिति है कि एक पैर श्मशान मे और दूसरा रोग-जरा से शिथिल हुआ ससार मे। आत्मरूपदर्शन के अवसरो पर आवरण

---

१ 'अवश्य यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया,
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्त स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनस,
स्वय त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनन्त विदधति॥' —भर्तृहरि वैरा० १६.

लगे हुए हैं[१]। इन पंकपथों पर चलता हुआ मनुष्य जब मृत्यु का अतिथि होता है तब ऐसा लगता है कि लाल (मणि) गवाकर कोई थका-हारा, लुटा-पिटा व्यक्ति श्मशान में शवो की शान्ति भंग करने आ पहुंचा है। अनन्त निराशा का कफन ओढ़कर जैसे यह यात्रा तय की है। परिताप की अग्नि मे जल-जलकर जैसे दग्ध अंगार ही चितामय होकर आ पहुचा है। जन्मभर कोदो की खेती कर उसके चारों ओर चन्दन-कपूर की बाड़ लगानेवाला, पंक धोने के लिए केसर के खेतों को मलिन करनेवाला, कोई हतभाग अविवेकी जैसे जन्मभर मिथ्यात्व की पगडंडी पर चलता रहा है। किसी समय निश्चय यह विषयो के पीछे पागल होकर दौड़ता रहा होगा किन्तु वृद्धावस्था ने अपूर्व भेदज्ञान नही तो कम से कम शरीर भेदज्ञान तो इसे करा दिया होगा। एक समय मन और तन एक होरहे थे। मन की आज्ञा पर तन दौड़ पड़ता था किन्तु काल पाकर शरीर जर्जर हुआ तो मन की तृष्णा के अंकुश कुंठित होगये। तनमन मे द्वैध आगया। तन मुर्दा मास के समान होगया और तृष्णा से तरुण मन अपने विषयो के अनुचिन्तन मे ही डूबा रहा। यह तृष्णा का मित्र, वासना-सहचर, कुपथ-व्यसनी, मिथ्यात्वकिंकर मन मृगतृष्णा के कान्तार में भटकता ही रहा[२]। यही तो रूप की छलना मे भरमाता है। माया के महालयों में पहुचाता है। दीवालघडी के 'पैण्डुलम' के समान इधर-उधर डोलायमान तो यह मन ही है जो अपने स्वरूप को स्थितप्रज्ञ होकर देखने नहीं देता। जैसे सहस्रछिद्र चालनी से पानी निकल जाता है, वैसे ही इन्द्रियवशवर्ती का आयुष्य समाप्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति नये-नये विचार करते रहते है किन्तु उसे क्रियान्वित नही कर पाते। करूंगा, करूंगा-आज नही कर सका, कल कर लूंगा, और कल नहीं तो परसो अवश्य करूंगा। फिर अभी इतनी शीघ्रता की आवश्यकता क्या है? अभी तो वर्षों जीवन शेष है। ऐसा विचार कर वह मृत्यु को भूल जाता है[३]। किन्तु इस एकपक्षीय विस्मरण से क्या अनन्त काल के लिए उसे मृत्यु भी भूल जाती है? नही। मृत्यु कायाधारी मे निविष्ट होकर बैठी है और यह प्राणधारी पल-पल में मरता तथा जीवित होता है। प्रत्येक श्वासोच्छ्वास मे जीवन-मरण निहित

१ 'बालपने मे ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणीरत रह्यो।
अर्धमृतकसम बूढापनो, कैसे रूप लखै आपनो॥' –छहढाला १४

२. 'जीर्यन्ति वर्णित केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यत।
जीर्यतीन्द्रियसघातस्तृष्णैका तरुणायते॥'

३. 'करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामीति चिन्तया।
मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति विस्मृतम्॥'

है। जो निकला हुआ श्वास पुनः लौटकर नही आया, उसी क्षण मृत्यु निश्चित है। और श्वास तो शरीर मे निकलते-प्रवेश करते रहते है। तब कौन भरोसा कि आगामी श्वास लौटेगा या नही। इसीलिए किसी समझवान् ने कहा—'श्व कार्यमद्य कुर्वीत'—कल का कार्य आज ही करलो। क्योंकि कोई नही जानता कि कल किसे क्या होगा। बुद्धिमान् वही है जो श्व. करणीयो को आज ही निपटा दे[1]। बीच समुद्र मे चलती नौका का तथा अधर आकाश मे उडते वायुयान का क्या विश्वास ? कौन-सी तरग उसे डुबा दे अथवा कब वह तूफान मे घिर जाए। अन्ततः यह तो निश्चित है कि जैसे एक दिन जन्म का आया था, वैसे ही एक दिन मृत्यु का आएगा। कोई उसे आने से रोक नही सकता। बड़े २ शूर-वीर, धनिक और धर्मात्मा काल के सम्मुख पराजित हुए है। कबीर का पद है कि 'आसपास जोधा खडे बहुरि बजावे गाल। मझ महल से लेचला ऐसा काल कराल'—किसी राजा की मृत्यु निकट थी। अनेक औषधोपचार से भी लाभ नही हुआ। भला, 'टूटी की बूटी' कही हुई है। 'रज्जुच्छेदे के घट धारयति' कुए से भरा हुआ पानी का कलश खीच रहे है, बीच मे आते २ रस्सी टूट गई और कलश कूए मे जा गिरा। उस समय गिरने से उसे कौन बचा सकता था। यही हाल राजा का था, वह आसन्नमृत्यु था, मरने के समीप पहुच चुका था। राजा के स्वामिभक्त वीर सैनिको ने उसे पक्ति बाधकर घेर लिया। अब ऐसा लगता था कि काल किधर से आएगा, कैसे राजा का स्पर्श करेगा ? किन्तु वे जडमति देखते रह गये। काल आया और प्राण खीचकर ले गया। सारे योद्धा 'गाल बजाते' डीग हाकते—रह गये। और सच भी है कि यदि धन चुकाने से, औषधि निगलने से और सिपाहियो की कतार लगाने से मरण को रोका जा सकता तो कम से कम धनवान्, वैद्य और राजा तो जीवित दिखाई देते। परन्तु काल के द्वार सबके लिए समान है। इसीलिए 'मणि मत्र तत्र बहु होई। मरते न बचावे कोई।' मरतेहुए को कोई नही बचा सकता। किसी कवि ने कहा है—'अगुलि के अग्रभाग पर थोडा-थोडा लेते-लेते कज्जल की डिबिया रिक्त हो जाती है और कण-कण बीनकर चीटिया एक टीला (वल्मीक) खडा कर देती है।' इसका रहस्य जाननेवाले को समय व्यर्थ नही खोना चाहिए। दान, अध्ययन, तप, कुछ न कुछ करना चाहिए[2]। अहो ! संचय

---

१. 'न कश्चित् कस्य जानाति कि कस्य श्वो भविष्यति।
अत श्व करणीयानि कुर्यादद्यैव बुद्धिमान् ॥'

२. 'अजनस्य क्षय दृष्ट्वा वल्मीकस्य च सचयम्।
अवन्ध्य दिवस कुर्याद् दानाध्ययनकर्मभि. ॥'

को बड़ी महिमा है। कण-कण करते कोष संगृहीत हो जाता है और क्षण-क्षण का उपयोग मनुष्य को बृहस्पति बना देता है। 'कुरल' काव्य की एक सूक्ति है कि यह नहीं सोचना चाहिए कि शुभकर्म के लिए जीवन का सन्ध्याकाल समुचित होगा। (क्योंकि एक श्वास की तांत पर बजनेवाले जीवनसंगीत के आरोह-अवरोहकाल का पता भी तो नही कि इसका सन्ध्याकाल अर्थात् अन्तिम स्वर कौन सा है) जब कभी समय मिले धर्म करते रहना चाहिए [1]। यह धर्म ही मृत्यु के पश्चात् जीव के साथ जायगा। वास्तव मे सत् सकल्पो को साधने के लिए काल की प्रतीक्षा नही करनी चाहिए। इस विषय मे किवदन्ती है कि एक बार भगवान् जिनेन्द्र की पूजा सम्पादित कर धर्मराज युधिष्ठिर मन्दिर से लौट रहे थे। उस समय एक याचक ने हाथ फैलाया। धर्मराज के दक्षिण हाथ मे पूजा-पात्र था अतः उन्होंने बाये हाथ से याचक को कुछ देना चाहा। याचक पठित था, बोला—दान दक्षिण हाथ से देना चाहिए। युधिष्ठिर बोले—दान लेनेवाले को हाथ बदलने जितने समय की उपेक्षा नही करनी चाहिए। क्योंकि इस क्षण मै दान देना चाह रहा हू और सम्भव है हाथ बदलते बदलते मेरे परिणाम बदल जाएं। तब हाथ तो दक्षिण (उदार) हो जाएगा और मन परिणाम वाम (प्रतिकूल) हो जाएगे। अर्थात् 'शुभस्य शीघ्रम्' शुभ कार्यों मे शीघ्रता आवश्यक है। क्योकि—'श्रेयासि बहुविघ्नानि'—शुभ कार्यो मे विघ्न बहुत आते है। अत 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्' मृत्यु ने केश पकड रखे है, यह सोचकर धर्माचरण करे। क्योकि—'जिस जीव के जिस देश और काल मे, जिस विधान से जन्म-मरण, सुख-दु ख, रोग-शोक-हर्ष-विषाद इत्यादि श्री जिनेन्द्र भगवान् ने देखे है, वह सब उस क्षेत्र तथा उस काल मे उसी विधान से होगा, उसे मिटाने की शक्ति किसी मे नही है। चाहे इन्द्र हो अथवा तीर्थकर, कोई भी शक्ति जन्म-मरण के परिवर्धन-नियोजन मे समर्थ नही है[1]। यहा तो—'एक उत्पद्यते तनुमानेक एव विपद्यते। एक एव हि कर्म कुरुते ह्येकल फलमश्नुते।' यह तनुधारी जीवात्मा एक ही उत्पन्न होता है, एक ही मरता है। एकाकी कर्म करता है और एकाकी फल भोगता है। इसमे किसी का

---

१. 'अण्डु अरिवम एन्नादु अरम सेय्य मद्र अदु।
पोण्डु गाल पोण्डुत्तणे।'—कुरल, ३६।४

१. 'ज जस्स जम्हि देसे जेण विहाणेण जम्हि कालम्हि।
णाद जिणेणणियद जम्म वा अहव मरण वा॥
त तस्स तम्हि देसे तेण विहाणेण तम्हि कालम्हि।
को सक्कइ वारेदु इदोवा अह जिणिदो वा॥' १२-१३

'सांभा' नहीं है । हां ! अपने ही पुरुषार्थ द्वारा तप-त्याग से अपने कर्मों का क्षय किया जा सकता है। यह शरीर अनित्य है, वैभव शाश्वत नहीं है और मृत्यु सदा पार्श्ववर्ती है इस विचार को न भूलते हुए धर्म-संग्रह करना चाहिए[१] । संसार की अनित्यता को जानकर योगी हुए विरक्त मनुष्य इन्द्र के समान वैभव को छोड़कर मुक्ति के लिए तप करते हैं[२], क्योंकि तत्वज्ञान ही ऐसा साधन है जो लोक-परलोक मे सुखदायी है[३] । उस भेदमूलक तत्वज्ञान को न पहचानने से मनुष्य संसार के परपदार्थों मे रति करता है और अपने को भाग्यवान् समझता है। परन्तु सत्य तो यह है कि विषयभोगों की प्राप्ति ही मनुष्य का अभाग्य है और उनसे विरक्ति होना उसके भाग्योदय का सूचक है[४] । क्योंकि, यदि मनुष्य को विषयादि सुख प्रतीयमान दुष्कर्मबन्धनों ने आत्मसात् कर लिया तो अनेक जन्मान्तरो की भवशृंखला उसके लिए तैयार हो गई । इससे बढ़कर अभाग्य क्या हो सकता है ? परन्तु उपदेश सभी को नही लगते । ससार के लिए प्रकाश का सन्देश देनेवाला सूर्य उलूक के लिए तो अन्धकार उत्पन्न करता है । किसी को वैराग्य के अमृतफल भी खट्टे लगते है और कोई विषयो के कटुविपाक रसों मे मधुरता का आस्वाद करता है । इसीलिए आजतक २४ तीर्थङ्करो की दिव्यध्वनि भी सारे ससार को मिथ्यात्व से विमुख नही कर सकी । आज भी कोई वैराग्य-शतक मे डूबा है तो कोई शृङ्गारशतक का पारायण करते हुए तृप्त नही होता । इसी को कहते है—'काहू के शृङ्गार रुचि, काहू के रुचि नीति । काहू के वैराग्यरुचि, जुदी-जुदी परतीति'—कोई सीधे राजमार्ग से चलता है तो किसी को सांप की टेढ़ी चाल पसन्द है । कोई कनक-कामिनी मे सुख मानता है तो कोई वनगिरि-गुहाओ मे निर्ग्रन्थ होकर विचरना चाहता है । कोई एकान्त मे प्रसन्न है तो किसी को समूह मे बैठना प्रिय लगता है । रागी और विरागी अपने-अपने स्वभावानुसार चुने हुए मार्ग पर चले जारहे है । ऐसी स्थिति मे वे धन्य है जो शुभ परिणाम मे अपने को लगाते हैं और ससार के वार-वार परिक्रमण से बचने का मार्ग ढूढ़

---

१. अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वत ।
नित्य सन्निहितो मृत्यु कर्तव्यो धर्मसग्रहः ॥'

२. 'अत एव हि योगीन्द्रा अपीन्द्रत्वार्हसम्पदम् ।
त्यक्त्वा तपांसि तप्यन्ते मुक्त्यै तेभ्यो नमोनमः ॥' क्षत्रचूडा ०,३-२५.

३ 'तत्वज्ञान हि लोकाना (जीवाना) लोकद्वयसुखावहम्'— ३-१८.

४. 'न विषयभोगो भाग्यं, भाग्य विषयेषु वैराग्यम् ।'

निकालते हैं। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में बताया गया है कि—'जो उत्तम गुणों के ग्रहण में तत्पर है, उत्तम साधुओं के प्रति विनयशील है, साधर्मी पर अनुराग रखता है, वह सम्यग्दृष्टि भव्य जीव उत्कृष्ट है[1]।' नरभव को सार्थक करने के लिए सम्यग्दृष्टि की परमावश्यकता है। 'सौभाग्य हि सुदुर्लभम्'—सौभाग्यप्राप्ति सुतरां दुर्लभ है और सम्यग्दृष्टि होना ही वह परम सौभाग्य है। जिस संसार में हम निवास करते है, उसमें जितने परिग्रह रूप पदार्थ हैं, उनसे सम्पर्क होना तथा उनमें आसक्ति होना कोई असाधारण बात नहीं है। यह स्वाभाविक है तथापि विचारशील जीव को जब गुरुकृपा से सम्यक्त्व प्राप्त हो जाए तब उसे तुषमाषभिन्न देहात्मज्ञान होकर विरक्ति धारण करना चाहिए। विरक्तिधारण कोई कृत्रिम मार्ग नहीं है अपितु ज्ञान का सहज परिणाम है। जिसे यह ज्ञान हो जाए कि यह वस्तु विषाक्त है, तो क्या वह उसे ग्रहण करेगा? इसी प्रकार जिसे शरीर के विषय में, ससार और विषयादि के बारे मे तुच्छता, अनित्यता, दुःखमूलकता का ज्ञान हो जाए क्या वह पुनः उसी परिवेष मे रहना पसद करेगा? भौतिक सुख-दुःखो के रगारग रूप को चित्रित करते हुए कविवर प० बनारसीदास ने लिखा है कि—

'नानीमरण, सुताजनम, पुत्रवधू-आगौन।
तीनो कारज एक दिन भये एक ही भौन ।।
यह संसार विडबना देख प्रकट दुख-खेद।
चतुर चित्त त्यागी भये, मूढ न जानहि भेद ।।

अर्थात् यह संसार कितना विचित्र है और दयनीय भी, इसका यह एक ही चित्र पर्याप्त है। किसी घर मे प्रात.काल नानी की मृत्यु हो गई। घर वाले शोक-मग्न थे कि गृहपति की स्त्री ने कन्या को जन्म दिया और उसी समय जबकि मृत नानी की अरथी सजायी जा रही थी, घर के बाहर पुत्रवधू का 'डोला' आकर रुका। हर्ष और शोक तथा कन्याजन्म के चिन्तनीय प्रसग—एक दिन मे तीन-तीन सुख-दुःख-सभिन्न चित्र उपस्थित हुए। यह विडम्बना कैसी आश्चर्यप्रद है। जैसे क्षण-क्षण मे नाटयमच के पात्र, दृश्य और अक परिवर्तित हो रहे हों। यह देखकर चतुर चित्त में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है किन्तु मूर्ख इस भेद को नही जानते। वे बारबार सुखो-दुःखो से निकलकर उन्ही मे समाते रहते है। इसीलिए

---

१ 'उत्तमगुण गहणरओ उत्तम साहूणविणयसंजुत्तो।
साहम्मिय अणुराई सो सद्दिट्ठी हवे परमो ।।' स्वामिकार्त्ति० १२।३१५.

'शोकस्थानसहस्राणि'[1] — यह श्लोक उन मूढबुद्धियों पर चरितार्थ होता है, जिसका आशय है कि 'शोक और भय के शत-सहस्र प्रसंग मूढजनों को प्रति-दिन आते रहते हैं किन्तु विवेकी मनुष्यो के समीप आने का उन्हें साहस नही होता।' संसार के कृत्रिम सुखों मे खोये हुए जनों की यही परिणति है। वे क्षण मे सुखी और क्षण में दु:खसन्तप्त होते रहते हैं। जैसे रहँट के कूप-शराव पल-पल में भरते-रीतते हैं। तन और मन से अस्वस्थ व्यक्ति एक भव मे ही अनेकानेक भवों की दुर्गतियो को एकत्र कर जीते हैं। वे देखते है कि फूले हुए पुष्प बासी हो गये है, हरे-भरे वृक्ष ठूंठ रहगये हैं, वृद्ध होती हुई मानव-पीढिया काल के विकराल गाल में समाती जारही है और प्रत्येक श्वास मृत्यु के समीप और समीपतर होता जा रहा है तो भी उसे अमर होने की कल्पना है, जीवन का कभी अन्त नहीं हो तो अच्छा रहे, यही दुश्चिन्ता है। कही से अमरफल मिल जाए और सदा के लिए मृत्यु से छुट्टी मिले। किन्तु उन्हे अमरफल कहा से मिले ? जो आम खाना चाहे और बबूल मे हाथ डाले, उसे रसीले फल कैसे मिले ? अग्नि के लिए अंजलि करनेवाले को पानी की शीतल धारा कैसे प्राप्त हो ? जो रात-दिन विषयरूप विषभक्षण करते है वे अमृत को नही पा सकते। सयम का अमृतपात्र जिनके पाम नही होता, वे बेचारे अल्पप्राण ही रहते है। महाप्राण और दीर्घजीवी होना उनके भाग्य में नही होता। पानी की लहर पर नाचते हुए बुलबुले की उपमा देतेहुए ऐसे दयनीय प्राणियों के विषय मे लिखा गया है कि—'मनुष्य यदि अपनी पूर्णायु को प्राप्त करे तो सौ वर्ष जी सकता है। उसमें निद्रामय रात्रिकाल आधा निकाल दिया तो पचास वर्ष बचे। बाल्यावस्था अपरिपक्व और वृद्धावस्था अशक्त होने से पचास वर्ष मे से दो भाग और निकल गये, यौवन मे कुछ करने की क्षमता होती है किन्तु अधिकाश लोग 'तरुण समय तरुणीरत रह्यो' उक्ति को ही चरितार्थ करते है। उत्कट पुरुषार्थ कर विषयसुखो को दूर से प्रणिपात करनेवाले विरले महात्मा होते है। इससे अतिरिक्त यह समय सयोग-वियोग एव उद्यम, उपार्जन, आधि-व्याधि मे व्यतीत हो जाता है। ऐसा लगता है कि पानी पर तरग है, जो निरन्तर चलायमान है[2]। क्षणभर भी उसे ठहरकर सोचने का समय नही मिल

१. 'शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥'

२. 'आयुर्वर्षशत नृणा परिमित रात्रौ तदर्धं गत,
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्धमपर बालत्ववृद्धत्वयो।
शेष व्याधिवियोगदु:खसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवे वारितरगचचलतरे सौख्य कुत: प्राणिनाम् ॥'' भर्तृहरि० वैराग्य, १०७

पाता। एक भीड़ लगी हुई है जिसमें निरन्तर धक्के लग रहे हैं–उत्पद्यमान शैशव, वर्धमान यौवन और क्षीयमाण वार्धक्य–एक के पीछे एक सप्लव मचाते, चले आ रहे है। ठहरने का अवकाश नही, और ठहरने कोई देता नही। फूल जब मुकुलित होता है तभी उसके पैरों मे काटे निकल आते हैं और जब वह पूर्ण विकास प्राप्त कर कुछ बनना चाहता है, गली-कूंचे में अपना सौरभविस्तार करने के लिए समर्थ बनता है, तभी काल माली के वेष में आकर उसे वृन्त पर से उठा लेता है और पखुरियों के स्वप्न धूल में मिल जाते हैं। यह एक फूल की नही, एक मनुष्य की नही, अपि तु ससार के उद्यान मे खिलनेवाले सभी पुष्पो और 'यौवनं धनसम्पत्ती' प्राप्त मनुष्यो के वशानुवंश की गाथा है। इसे नित्य विकास और नित्य निमीलन मिलता आया है और मिलता जाएगा। तब तक, जब तक यह आत्मस्वरूप को जानकर दु:खक्षय, कर्मक्षय, बोधिलाभ, सुगतिगमन, समाधिमरण और जिनगुणसम्पत्ति को अधिगत करने मे समर्थ न हो जाए और उसके लिए अशक्ति और बन्धन उत्पन्न करनेवाले परिग्रहों से मुक्त होकर सर्वथा शक्तिमान् और तत्पर न हो जाए। इस तत्परता के लिए उसे दौड़कर कही दूर नहीं जाना है। यह सब तो उसके अन्दर ही विद्यमान है जैसे तिलो मे तैल, दही मे घृत, नदी-प्रवाह मे जल, काष्ठ मे अग्नि। कोई प्रत्यगिन्द्रिय होकर आत्मा के इस अपार विक्रम का पता लगाकर तो देखे[1]। यो ही उथले जल के किनारे बैठकर समुद्रो मे डुबकी लगाने से भयत्रस्त होनेवाले क्या कुछ प्राप्त कर सकते है? किसी ने क्या ही अच्छा कहा है–'जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ। मैं बौरी डूबन डरी रही किनारे बैठ॥' तो, जो डूबने से डरते है उन्हे अतल जलगर्भ के मुक्ताफल नही मिलते। वे तो तपोमय कृच्छ्र जीवन से भागकर ससार ही बढाते रहते है। क्योकि तप तपने के लिए निर्ग्रन्थ होना, मूलाचार पालन करना, महाव्रतधारी होना आवश्यक है और मुलायम गदेलो का रस लेनेवाले को घास की शय्या कैसे रुचिकर हो सकती है? 'अरि मित्र महल मसान कचन, काच निन्दन थुतिकरन। अर्घावतारन असिप्रहारन मे सदा समता धरन। तप तपै द्वादश धरै वृष दश, रतनत्रय सेवै सदा–' इन पक्तियो का अर्थ जितना श्रुतिमधुर है, पालन उतना ही कठिन है। परन्तु यह भी स्मरण रखने योग्य है कि 'रक्तेन दूषितं वस्त्र न हि रक्तेन शुद्ध्यति'–जो वस्त्र रक्त से गन्दा हो रहा है, उसे रक्त से ही नही

---

१ 'तिलेषु तैल दध्नीव सर्पिराप. स्रोत:सु अरणीषु चाग्निः।
एवमात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैन तपसा योऽनुपश्यति॥'–उपनिषत्.

धोया जा सकता। आत्मा की चादर जो विषय-पंक से दूषित हो रही है, विषयों से ही नहीं स्वच्छ की जा सकती। वासनापंक को क्षालित करने के लिए संयम-रूप साबुन ही समर्थ है। विषयों की उग्र अग्नि को विरक्तिजल से निर्वापित किया जाता है। जबतक समदृष्टि नहीं प्राप्त होती तभी तक रत्न और काच भिन्न-भिन्न प्रतीत होते है। समता आने पर दुःखो से उद्वेग नही आता, सुखों में स्पृहाभाव नही बढ़ता। राग-भय-क्रोध उसके समीप नही आते। उसे मुनित्व प्राप्त हो जाता है[1]। यह बोधिलाभ की स्थिति है, रत्नत्रय का दुर्लभ आराधन है, मुनिदीक्षा का धारण करना है। इससे बढ़कर तीनो लोको में अन्य सम्पदा नही[2]। जिनको कर्मक्षय करना है, वे इस मार्ग पर आते है, जिनवाणी का श्रवण करते हैं, भोगों को रोग मान उनसे विरक्त होते है, उत्तम गृहस्थ अथवा उत्तम श्रमण होकर तीर्थकर परमदेव के चरणो का प्रसाद प्राप्त कर नरभव को सार्थक बनाते है। प० दौलतराम कहते हैं—

> 'यह मानुषपर्याय, सुकुल, सुनिबो जिनवानी।
> इहि विधि गये, न मिले, सुमणि ज्यों उदधिसमानी।।'—छहढाला, ४-५.

---

१. 'दु खेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृह'।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।'—गीता, २.

२. 'बोधिलाभात् परा पुसा भूति. का वा जगत्त्रये।
कि पाकफलसकाशैः कि परैरुदयच्छलैः।।'—क्षत्रचूडामणि, ६-३१.

जैनधर्म में नारी का महत्व

नारी नर की जनयित्री है। वह इस जगत् की अतुल्य स्नेहनिधि है। मंगल-सूत्र पहनकर वह अर्धांगिनी होतेहुए पुरुष का सर्वांग क्षेम चाहती है और धीर, वीर, ज्ञानी, ध्यानी, धर्मात्मा तथा चारित्रसम्पन्न अपत्यो को उत्पन्न कर कुल-तारिणी की गरिमा को चरितार्थ करती है। तीर्थंकर, सिद्ध और केवली नारी की पवित्र कुक्षि के रत्न-संभार हैं। नारी के उज्ज्वल स्तन्य में मनुष्य की यशस्विनी गाथाओं के लिए श्वेतमषी भरी हुई है। वह सद्य.प्रसूत शिशु के लिए दो-दो दूध कटोरे भरकर पहले से तैयार रहती है। स्तन्य की यह प्रथम धार, जो बालक के मुख में अवतीर्ण होती है, मानो, क्षीर समुद्र में नहाकर आती है। उस पय:पान के साथ मा की इच्छाएं पुत्रशरीर मे कल्लोल भरने लगती है--मेरा लाल विश्व विश्रुत हो। क्षीरसागर की रत्नावली के समान श्रेष्ठ गुणावली इसे आप्यायित रखें। अपने अन्त:करण की अपार स्नेहराशि और पवित्रता की अनन्त उच्छल धाराए उस दुग्ध के विन्दु-विन्दु मे नाचती रहती हैं। उसके विश्वमातृत्वरूप का सर्वतो भावेन वर्णन नही किया जा सकता। उसका शील अगाध है, उसकी गरिमा सुमेरुशिखरो से भी ऊपर है। सस्कृति, नैतिकता, आदर्श तथा चारित्र नारी के पदविन्यास मे सुरक्षित हैं। भारत के सास्कृतिक स्तोताओं ने नारी को पृथ्वी के समान सर्वसहा कहकर उसकी अपार सहिष्णुता के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया है। उसे 'मा' कहकर 'मान' का प्रथमाक्षर भेंट किया है। जैसे पृथ्वी असख्य फल-पुष्प, कीट-भृंग, शस्यादि को उत्पन्न करतो है, वैसे नारी भी सृष्टि के सर्जनात्मक धरातल का केन्द्रबिन्दु है जिससे विद्वान्, दार्शनिक, ऋषि-मुनि, रागी-त्यागी आदि अनेक-विध गुणावलीसम्पन्न नरपर्यायी जन्म लेते रहे है और लेते रहेगे। यह नैसर्गिक महत्व नारीजाति को ही प्राप्त है। एतावता संस्कारी समाज पर, धार्मिक लोक पर, चारित्रविशुद्ध जातियो पर नारीजाति का अपरिमेय ऋण है। नारी का कार्यक्षेत्र अधिकाशत: घर रहा है, मूक-मौनसाधिका रहकर ही इसने अपना व्यक्तित्व चौराहे पर नही आने दिया, किन्तु इसके पवित्र अंक मे खेलकर प्रतिक्षण संस्कारित होते हुए नरलोक ने सिद्धालय की ऊंचाइयों को जो स्पर्श दिया, उसमें मां का स्थान अवर्ण्य है। नारी उषा के समान ब्राह्मबेला मे उठकर गार्हस्थ्य भवन

के सारे बासीपन को धो देती है। तन और मन:शुद्धिपूर्वक नित्यकर्म में अहोरात्र लगी रहती है। परिवार के लिए ऐसा आहार प्रस्तुत करती है जो उसे नीरोग, दीर्घायु तथा पवित्र बनाये। देवदर्शनार्थ पुरुषों से भी पूर्व मन्दिर पहुँच जाती है। मुनि परमेष्ठियों को आहारदान कर वैयावृत्य पालन करती है। व्यवसायनिमित्त से हाट-बाजार बैठनेवाले पति के समस्त काम, क्रोध को अपने शरीर पर लेकर उसे पवित्र-निर्मल भावों के साथ बाहर उन्मुक्त विचरण के लिए सुविधा प्रदान करती है। वस्तुतः नारी समाजशास्त्र का वह प्रथम सौवर्णपृष्ठ है, जहाँ से मानव के गरिमामय इतिहास का शुभारम्भ होता है। पुरुष से अधिक सहिष्णु, धर्मपालक, व्रताचारपरायण, पूजादीप के समान सर्वदा स्थिर और देवोन्मुख, मर्यादाओं के अम्लान पुष्पो को अंजलि में लिये अकम्पगति से चलनेवाली नारी मनुष्यजाति का सर्वोपरि शृंगार है। यह माता, भगिनी, पत्नी और दुहिता के रूप में मनुष्य की परम मित्र है। युगो-युगो से मानव जाति के लिए नैतिक सवल रही है और व्यसनों मे फँसे हुए नर की विपत्ति सुहृत् है। देहली पर धरा हुआ दीपक जैसे घर और बाहर उज्ज्वलता को विकीर्ण करता है उसी प्रकार पवित्र, विवाहसम्बन्ध मे नियन्त्रित नारी पितृकुल और श्वसरकुल दोनो को पवित्र धन्य और यशस्वी कर देती है। नारी को क्षेत्र तथा पुरुष को बीज माना गया है इसलिए नारी की क्षेत्रविशुद्धि को अधिक महत्त्वपूर्ण समझना भारतीय समाजशास्त्र की दूरदर्शिता है। विधवाविवाह का निषेध, एक पतिव्रतपालन इत्यादि नियम, नारी के सहयोग की अखण्डता से परिपालित किये जा रहे है। इस प्रकार नारी चतुर्वर्ग की सरक्षिका है, रजोवीर्यसप्लव से उत्पन्न होनेवाले साकर्यदोष की नियामिका है। भगवान् वृषभदेव, श्रीरामचन्द्र, महावीर इत्यादि इसी जननी की अकशय्या मे पलकर महान् हुए है। एक सच्चरित्र नारी जो उपदेश अपनी सन्तान को दे सकती है, संसार की बड़ी-बड़ी पाठशालाए और विश्वविद्यालय उसका 'ककहरा' भी नही जानते। नारी के जीवन का प्रत्येक चरण त्याग, सन्तोष, बलिदान और मनस्विता से भरा हुआ है।

जैनवाङ्मय मे नारी का सम्मान धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परम्परा में समानरूप से किया गया है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता.' का शाब्दिक मात्र नही, व्यवहारपरायण अर्थ जैनसंस्कृति में नारी के लिए सुरक्षित है। सामान्यतः नारी को लेकर विश्व के साहित्य मे अनेक आक्षेप किये गये है। उसे नरक मार्ग की निःश्रेणी, पापों की खान, अपवित्र और विषयवल्ली,

तथा मोहलता—इत्यादि कहकर कोसा गया है। परन्तु ये नारी को दुर्गति कहने-वालों के स्वयं के मन की दुर्बलताएं हैं। पराजित के आक्रोश हैं। नारी को नितान्त वासनारूप में देखनेवालों का अस्वस्थ दृष्टिकोण है। स्वयं की कामुक वृत्तियों का पंक उछालना है। मनुष्य के अहंकार और बलदर्प ने नारी को केवल शरीर समझा, आभूषणों के समान उसे सम्पत्ति माना और वासनाक्षुधा का खाद्य माना, इसी परिप्रेक्ष्य में बड़े-बड़े दार्शनिकों ने भी नारी के प्रति कठोर शब्दावली का प्रयोग किया है। यदि पुरुष अपने मन का कीचड़ स्त्रीजाति पर उछालता आया है तो इसमें नारी का क्या दोष ? 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी'— कोई हरीतकी को दश हाथ प्रमाण बतावे तो कोई क्या कर सकता है ? बोलने वाले के मुख मे जीभ है। हाँ ! अधिक से अधिक श्रोता उसकी सत्यता से इन्कार कर सकता है। किन्तु 'जनानने कः करमर्पयिष्यति'—बोलनेवाले के मुंह पर निषेध का हाथ नही लगाया जा सकता। तथापि इसे पुरुष का 'स्वैरवाद' कहा जा सकता है और इसको सत्य से दूर घोषित किया जा सकता है। आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है कि—स्त्रिया अपने सतीत्व से, महत्त्व से, आचरण की पवित्रता से, विनयशीलता से और विवेक से धरातल को विभूषित करती हैं[1]। इसीलिए आव-श्यकता है नारी मे विद्यमान उत्तम गुणो को उदीर्ण करने की और उसके आध्यात्मिक वित्त को सुरक्षित रखने की। क्योंकि एक ओर शास्त्रो मे नारीनिन्दा के वाक्य भरे है और दूसरी ओर नारियो ने संस्कार की पाठशालाओं को आजतक यथावत् चालू रखा है। अवश्य, आज समय की अतिभौतिक प्रवृत्ति तथा पश्चिमी जगत् के वैज्ञानिक पौरोहित्य ने नारी और नर को दिग्भ्रम मे डाल दिया है। वह निश्चय नही कर पा रहे है कि मार्ग पूर्व का सही है या पश्चिम का। पूर्व के मुनि—महर्षियो ने संयम और सदाचार का मार्ग निरूपित किया है तो पश्चिम ने वासना की सहज तरलधारा मे 'सहस्र किलोवॉट' के विद्युत्तार और बिछा दिये हैं। नारी जब भारतीय वेष-भूषा मे घर के आगन में विचरण करती थी, तब साक्षात् अन्नपूर्णा, लक्ष्मी, सरस्वती, देवी और मातृत्व के, भगिनीत्व के परिवेष में दिखायी देती थी किन्तु जब से उसने अग्रेजो की शिक्षाविधि में स्नातिकात्व पाया है उसका वेष, विचार और आचार भारतीय भूमि पर एक ऋण खाते की रकम बन गया है जिससे भारतीय शालीनता की पूंजी दिनोंदिन क्षीण हो रही है और वैदेशिक विन्यास सूद-दरसूद बढ़ता जा रहा है। इस बाह्य-आचारग्रहण की स्वतंत्रता का

१. 'सतीत्वेन महत्त्वेन वृत्तेन विनयेन च।
विवेकेन स्त्रिय.काश्चिद् भूषयन्ति धरातलम् ॥'—ज्ञानार्णव, १२–५८

उदय भारतीय संस्कारों के उखड़ जाने पर सम्भव हुआ। जैसे खाली सराय (वसतिका) पर कोई मार्ग चलता हुआ अधिकार कर बैठे, उसी प्रकार गत दो सहस्र वर्ष के सास्कृतिक विलोपन से भारतीय सद्गृहस्थों की आचारप्रणाली क्रमशः शिथिल होती हुई प्रायः विस्मृत हो गई। अध्यात्म पर पाले-पोसे प्राण भारतीय शरीर में भौतिकता के लोचनलोभनीय रूप के पीछे अपवित्र गली-कूंचों में भटक गये, भरम गये। और आज नारी चेतना, नारी जागृति, प्रगतिशीलता तथा पुरातनवाद के विरुद्ध नारी का सशक्त मोर्चा—आदि नाम से जो 'स्लोगन' आकाश में उद्घोषित किये जा रहे हैं, उनके पीछे विकृत जीवनदर्शन कार्य कर रहा है और अपने नवजागरण के भ्रम मे नारी एक ऐसे 'गुट' से घिर गई है जो उन प्राचीन ऋषियों के समान नारी की निन्दा नहीं करता, उसे 'पापबीजं शुचां कन्द. श्वभ्रभूमिर्नितम्बिनी'—पाप का बीज, चिन्ताओं का मूल तथा नरक-स्थान स्त्री है—ऐसा नहीं कहता, किन्तु अप्सराओ के समस्त विशेषण देकर उसे सम्पूर्णतया कामुकता की ओर खींच रहा है। स्पष्ट है कि नारी पहले निन्दकों से घिरी हुई थी और अब प्रशंसको ने उसे घेर लिया है। पहलेवाले निन्दक होकर भी उदार थे और 'जल तू जलाल तू आई बला टाल तू' कहकर नारी से भागना चाहते थे अतः नारी का इसमें अहित नहीं था। किन्तु आज नारी लुट रही है, उसकी तप, तेज, साधनाए कुचली जारही हैं। मृगतृष्णा के जलविहीन मरुस्थलों में जैसे मुंह मारकर हरिणी प्यासी मर जाती है, वैसे ही अपने पुराणकाल से संचित ऐश्वर्य के सभी बहुमूल्य आभूषणों को उसने वासना-मद्य बेचनेवाले अकिंचन कलाल के हाथ बेच दिया है। क्या इससे उसे तृप्ति मिलेगी ? आग को पीकर प्यास बुझी है ? आत्मवंचना के जिस चक्रव्यूह मे वह घिर गई है वहा सातो व्यसन सप्त महा-रथी बन कर उपस्थित है। किन्तु व्यसनों द्वारा किये जा रहे प्रहारो को वह उपहार समझने लगी है और उस आनेवाले भय से अजान है, जो उसके पास अनादिसंचित-मणिकोष मे से कुछ भी नही छोड़ेगा। अकिंचन नारी का वह स्वरूप कैसा होगा, यह विवेक की आँखो से परोक्ष नहीं है। व्याधों द्वारा सुनियोजित एक मार्ग पर हरिण बढा जारहा है तो दूरदर्शी उसके जाल में फँसने के परिणाम को जान लेते है। भारतीय संस्कृति (श्रमणसंस्कृति) मे नारी और नर के बीच सम्भावित सम्बन्धों की एक सीमा निर्धारित की गई थी और 'मातृवत् परदारेषु'—परस्त्रीमात्र मे मातृभाव रखने के उपदेश दिये गये थे जिससे राष्ट्र का जीवन सुरुचि एव संस्कार-शीलता का आवास था। युवाओं को पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन के पश्चात् गृहस्थाश्रम मे प्रवेश की अनुमति मिलती थी। कन्याए गृह्य-आचारविचार और सभी प्रकार

के गृहिणी के करणीय कर्तव्यों को घर में ही निपुणता से सीखती थीं और अपनी माता से परम्पराप्राप्त शील की शिक्षा प्राप्त करती थीं। इस प्रकार संयम की शिक्षा उन्हें दी जाती थी तथा घर, जाति, कुल और समाज का जीवनव्यवहार भी इतना परिष्कृत था कि उसमें अपक्व अवस्था में विकारों के उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं की जा सकती थी। किन्तु समय की गति ने शिक्षा, आहार-व्यवहार, रीति-नीति, संस्कार सभी को बदल डाला और भारतीय पौधों को विदेशी खाद देकर कुछ इस प्रकार का बना दिया गया कि उनका जन्म तो भारत-भूमि पर हुआ किन्तु रूपविन्यास तथा विकास पश्चिम की विचारधारा में मिल गया। इसे देशसाकर्य कहा जा सकता है। आज युवा और युवती-वर्ग इसी विचार-धारा में प्रवहमान हैं और नितान्त भौतिक पाश मे अपने को अर्पित कर चुके है। यह पतन है और यदि धर्मविचार को तटस्थ रखते हुए भी इस पर विचार किया जाए तो यह अस्वस्थता है, घोर मानसिक पतन है। आज का वेष, आहार की स्वच्छंदता और मनोरजन के नाम पर चित्रालयों मे उमड़ती भीड़, इस बात की साक्षिणी है कि प्रतिक्षण मानसिक व्यभिचार चालू है। यह कठोर सत्य है। माता-पिता और भाई-वहिन रेडियो तथा सिनेमा के गीतों एव चित्रों को साथ-साथ देखते है और उन्हे अपने साथ बैठे हुए (या बैठी हुई) का विचार तक नही आता, यह घोर कुण्ठा के लक्षण हैं। जहा कुष्ठ फूटता है, वहा चर्म की सवेदनशीलता मिट जाती है और निश्चय आज इस रूप मे समाज की नैतिक मृत्यु हो गई है। अश्लील से अश्लील दृश्यो को वराबर कुर्सियो पर बैठकर देखनेवाले पिता ही अपनी कन्याओ को उन्मुक्त आचरण के पथ पर बढ़ने की ढील देते है और तभी परिणामस्वरूप 'लवमैरिज' अथवा निषिद्ध सम्पर्क युवा और युवतियो मे संचरित होते हैं। इस अनियत्रण से धर्म ध्वस्त होता है, शिष्टाचार को सांप सूंघ जाता है, संयम शखिया खाकर मर जाता है, तप उल्टा झूलकर 'पत' (पतन) बन जाता है, त्याग को राग दबोच लेता है, शील की खील बिखर जाती है और सर्वतोमुखी भ्रष्टाचार का अश्लीलता तथा निर्लज्जता के साथ द्विभार्यायोग हो जाता है। तब राष्ट्र की बौद्धिक और शारीरिक चेतना तथा बल में बल पड़ जाते है। ऊंचे पुष्ट वृषभ के कन्धोंवाले तरुण दिखायी नहीं देते तथा अपने वृद्धत्व से लज्जा अनुभव करती हुई स्त्रिया यौवनशोभनीय प्रसाधन, अलकार एवं केशों के श्यामीकरण के लिए उपादान खोजती रहती हैं। उन्हें मातृत्व जैसे सम्मानित पद वयोविगलन प्रतीत होते हैं। आज बड़े-बड़े नगरों में बस के लिए क्यू (पंक्ति) बनाकर खड़े हुए चेहरों में उक्त स्थिति को आंखों देखा जा सकता है। शिष्ट

मर्यादा भाषा का मुखबन्धन करती है कि इसका पूर्ण चित्रण उसके लिए पंकस्नान है। इस विचारमन्थन से यह स्पष्ट है कि 'घृतकुम्भसमा नारी तप्तांगारसमः पुमान्' कहकर प्राचीनों ने स्त्री–पुरुष के बीच जो व्यवधानरेखा बनायी थी, वह उन्ही के लिए वरदान थी और जीवन सधा हुआ चलता था, पतन अथवा फिसलन का भय नही था। आज तो लोग जानबूझकर फिसलना पसन्द करते हैं, संयम और सयमी को गाली देते हैं। विवेक को अविवेक और पशुता को देवत्व से विभूषित करते हैं। अल्पजीवियों के इन उपक्रमो मे अन्धा स्वार्थ ही सखा है, कुटिलता ही सिद्धिमार्ग है, हीनता ही व्यक्तित्व है और उदारता को 'अर्धचन्द्र' की दक्षिणा दी जा रही है। और यह सब हो रहा है प्रगति के नाम पर, उन्नति मानकर, विकास के पथ पर, तथा उन बुर्जुआ विचारों के कफन में कील ठोकने के लिए, जिनकी मृत्यु हो गई है या जो 'ईसा' की तरह अपनी सत्यता के लिए 'क्रॉस' पर टाँग दिये गये है। अतः या तो इस दारुणता का अन्त कर देना होगा या यह दारुणता ही विश्व की अन्तकारिणी हो जाएगी। तब नारी को भी अपना पूर्ववर्चस्व प्राप्त करने मे बहुत समय लगेगा। क्योकि लघित ऊंचाइयो से गर्त में गिरकर पुनः ऊपर चढना कठिन होता है। किसी गर्त मे खडे हुए के लिए वह इतना भयानक नही, जितना ऊचाइयो से फिसलकर गर्त मे गिरनेवाले को। जिनका जीवन गर्त में ही बीता है, बीत रहा है, वे कदाचित् अवसर पाकर ऊपर उठने का प्रयत्न करने के लिए जीवित तो है, जबकि ऊंचे शिखरों से गिरनेवाले की तो तुरन्त मृत्यु निश्चित है। सच है, काले वस्त्र को दाग नही लगता और उज्ज्वल पर लगा हुआ कलक मिट नही पाता। भारतीय नारी का इतिहास उज्ज्वलता का पृष्ठ है। उसकी परम्परा महासतियो ने सुरक्षित रखी है। ब्राह्मी, सुन्दरी, अजना, अनन्तमती, दमयन्ती, चन्दना और सीता पर समाज की सस्कृति ने गर्व किया है, काचनियो को गरिमा के आसन कभी नही मिले। स्तोत्रकारो ने जब स्त्रियों का स्मरण किया तो तीर्थकरों के मातृत्व धन्य हो उठे। 'भक्तामर' स्तोत्र की पंक्तियो को ही लिया जाए तो श्री मानतु गाचार्य लिखते है–'हे मातः मरुदेवि ! आप धन्य है। आपने भगवान् ऋषभनाथ आदि तीर्थकर को जन्म दिया जैसे सूर्य को पूर्व दिशा जन्म देती है'[1]। श्री शुभचन्द्राचार्य लिखते है–'शम, शील, सयम से

---

१. 'स्त्रीणा शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुत त्वदुपम जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि, सहस्ररश्मि,
प्राच्येव दिग् जनयति स्फुरदशुजालम् ॥'–भक्तामर०, २२.

युक्त, अपने वंश में तिलक समान, श्रुत तथा सत्य से समन्वित नारियां धन्य हैं[1]। आचार्यों की इस आवाज में भारतभूमि की संस्कृति मुखर हुई है। यह गूँज ही इस राष्ट्र की सम्पत्ति है। नारी के लिए प्रयुक्त ये विशेषण पुकार-पुकार कर कहते हैं कि शम, शील, संयम, सत्य और श्रुत ही यहां नारी का स्वरूप है। जिन्होंने अपने आँचल से शीलशरीर को ढँके रखा, उन्हीं का यश-सौरभ यहाँ कस्तूरी के समान दिगन्तों में फैला है। शीलवती नारी समाज की निधि है जो रत्न उगलती है। वह चेलना है जिसकी अन्तश्चेतना सतत जागरूक रहकर अपने षडावश्यकों का पालन करती है। वह महासती सीता है जो श्रीरामचन्द्र द्वारा परित्यक्त किये जाने पर भी मन में पति के प्रति किसी विरोधी भाव को प्रश्रय न देकर सेनापति कृतान्तवक्त्र से कहती है कि 'श्री राम से कहना कि मेरे समान लोकनिन्दा के भय से कभी धर्म को न छोड़े'— अहो! सतियो का मन स्वप्न में भी अपने धर्म से विचलित नहीं होता। वे धर्म के लिए शारीरिक, मानसिक, आत्मिक सभी पीडाओं को तप मानकर सहन करती आई हैं। उनकी तितिक्षा का कोष अमाप है, उनकी समर्पणभावना पति मे एकाकार होकर उसके विरुद्ध मानसचिन्तन तक नही करती। नारी क्षमा है, मातृरूप मे नरलोक को संजीवन औषधि उसी से स्तन्यधार के रूप मे मिलती है। वह पुरुष के रोषदोष को पचाकर उसे निर्मलत्व प्रदान करती है। चन्दन की लकडी के समान दग्ध होकर भी सुरभि देती है और कलिका के समान कुचली जाकर भी परिमल उत्पन्न करती है। जो नारी के इस उदात्त-उज्ज्वलरूप के स्तोता हैं, उन्हे ही वास्तव में नारीजाति का सच्चारित्र सुरक्षित रहे, इसकी चिन्ता है। उत्सर्ग और त्याग-तितिक्षा से आकीर्ण नारी का जीवन समाज की विभूतिमत्ता को समुन्नत रखनेवाला है। स्वय के लिए अमृतदायी है। व्यामोह मे फँसकर यदि नारी अपने प्राचीन इतिहास से मुख मोड़ लेगी, वह दिन मानवजाति के दुर्भाग्य का होगा। उस दिन स्वेच्छाचार उत्सव मनायेगा, पाप प्रसन्न-पुलकित होगा, अनय-अनीति के लिए आठों दिशाए खुल जाएंगी। इसीलिए मानव मातृजाति से अजलिबद्ध होकर याचना करता है कि वह अग्निपरीक्षा देनेवाली सीता बने, समाज को उन्मार्गगामी होने में सहायक कांचनी, रूपाजीवा न बने। वह उषा के समान रहे कि सूर्यपुत्रों का प्रसव कर सके जो लोकव्यापी तिमिर पर वज्र बनकर बरसते हैं। वह अपनी सन्तानों में

---

१. 'ननु सन्ति जीवलोके काश्चिच्छमशीलसयमोपेताः।
निजवंशतिलकभूताः श्रुतसत्यसमन्विता नार्यः ॥'—ज्ञानार्णव, १२।५७.

ऐसे संस्कारों का निर्माण करे कि वे श्रेष्ठ त्यागी अथवा उत्तम श्रावक बनकर जीवन को सफल करे। क्योकि सन्तान को सुसंस्कारी, धीर, वीर अथवा चारित्र-शिरोमणि माताएँ ही बना सकी हैं और आगे भी बना सकेंगी। एक मां अपने पुत्र के लिए शत अध्यापकों से बढ़कर है। वही उसकी प्रथम आदर्शगुरु है, शिक्षिका है। बालक का अधिक समय मां के आसपास ही बीतता है, अतः आरम्भिक सस्कार उसे मां से ही प्राप्त होते हैं। अतः देश, धर्म, जाति तथा सर्वविध अभ्युत्थान के लिए मां ही बालक को विभूषित करती है। केवल बालक को जन्म देने से माता का मातृत्व सार्थक नही होता, उसे उस मिट्टी में कुलाल के समान संस्कारचक्र पर रखकर शराव, कुंभ या कुछ और बनाना पडता है। आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र, श्री अकलंकदेव, समाधि सम्राट् श्रीशान्तिसागर महाराज और श्री गणेशप्रसादजी वर्णी जैसे व्यक्तित्व माताओं की संस्कार-पाठशाला के स्नातक पहले हैं, और अन्य शालाओ के बाद मे। आज इस संक्रमण काल मे उन तप-त्याग-तेजोमयी माताओं के उस पवित्र सस्कारी स्वरूप की झलक अनुपलब्धि के अन्धकार में अन्तर्हित होती जा रही है, यह स्थिति गम्भीर है। इससे सस्कृति असम्पन्न होती जा रही है और उदात्त संस्कारो की पाठशालाओ पर 'ताला' लगता प्रतीत होता है। महावीर की माता का नाम 'प्रियकारिणी' था। भगवान् को उत्पन्न करने से बढकर लोक के लिए प्रिय कार्य क्या हो सकता था। इसलिए वह अवश्य ही प्रिय-कारिणी ही थी तभी तो राजा सिद्धार्थ भी सिद्धार्थ (सिद्धप्रयोजन) थे। आज भी स्त्रियो की कुक्षि प्रियकारिणी देवी का उत्तराधिकार लें और अपने नारीत्व को धन्य करें। जब कोई सुहागिन वधू सास अथवा अपनी बड़ी के पैरो लगती है तो आशीर्वाद देनेवाली उसे सीता जैसी होने को अशीषती है। सीता जैसी बनने का यह आशीर्वाद युगो-युगों से सास अपनी बहुओं के लिए देती आई हैं और वह समय कभी नही आएगा जिसमे वे उन्हें स्वैरिणी होने का आशीर्वाद दें। नारी के गृहस्थइतिहास की एक झलक 'अमरकोष' की शब्दावली मे इस प्रकार है कि, प्रथम वह पाणिग्रहण कर 'पत्नी' बनती है, तब पति की अर्द्धांगिनी होने से 'द्वितीया' बनती है, गृहस्थधर्म का सह-आचरण करने से 'सहधर्मिणी' उसे कहा जाता है। वह कुटुम्ब का भरण करती है और उत्तमोत्तम पाक 'सिद्धान्नसदन' मे प्रस्तुत कर परिवार को पुष्टि प्रदान करने से 'भार्या' त्व को सार्थक करती है। यथासमय उसे सन्तान प्राप्ति होती है, तब उसे 'जाया' कहा जाता है और आगे बहुकुटुम्ब संस्था

की प्रशंसा होने से 'कुटुम्बिनी' पद को शोभित करती है[1]। इस रूप में नारी कुटम्ब की एक ऐसी संस्था है जिसकी गरिमा सुप्रतिष्ठित है। आज के नये शब्दों में उसे 'वाइफ' कहा जाने लगा है और यदि मातृपद से नाम लिया जाता है तो 'ममी' कहते हैं। 'ममी' शब्द 'मृतकमंजूषा' के लिए भी प्रयुक्त होता है और 'डेडी' में 'डेथ' के भाव हैं। 'वाइफ' मे पतिप्रिया 'पत्नी' का भाव नहीं आता। सीता के समान वह बनवास दिये जाने पर किसी राम को 'अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुश-कण्टकान्' (मैं तुम्हारे आगे २ पथ के काटों को साफ करती हुई चलूंगी) नहीं कहेगी। क्योंकि वह 'पर्स' को प्यार करती है, वनभूमि के कण्टकाकुल 'फर्श' को नहीं। वह तो कहेगी 'विच्छेदाय गमिष्यामि न्यायालयमह त्वरा' मैं तो तलाक के लिए न्यायालय जाऊगी। इस प्रकार 'पति-पत्नी' जितने सुखी हो सकते हैं, एक दूसरे पर जन्मान्त विश्वास कर सकते हैं, उतना 'वाइफ–हसबैड' नही कर पाते। भारतीय नारी की शालीनता, सुन्दरता उसके अपने राष्ट्रीय वेष की परम्परा मे है और उसका सम्मान माता, भगिनी तथा पत्नी नामों मे है। शब्द भले ही पुद्गल-द्रव्य हों तथापि इनके पीछे जो परम्परा, निरुक्ति और आत्मीयता का माधुर्य मिश्रित होता है उसका स्थान शब्दान्तर नही ले सकते। पिता के आयी हुई दूसरी पत्नी तक यदि पूर्ववर्ती के पुत्रो का मातृत्व नही पा सकती तथा 'विमाता' ही कही जाती है तो वे शब्द जो सहस्रातिसहस्र वर्षों मे इक्षुदण्ड मे शर्करा के समान हमारे प्राणो मे घुलमिल कर एकाकार हो गये है, किसी अभ्यागत को गृहपतित्व देने के समान आत्मीयता का अशेष कोष कैसे दे सकते है, उन शब्दो को, जो भारत की धूली पर भारतीयो के पदसंचार के साथ नही लिखे गये है। 'पत्नी' शब्द मे भारतभूमि का आध्यात्मिक सत्व मिला हुआ है जो 'वाइफ' या 'भोगिनी' मे नही है। जिन्होने भारत मे नारीजाति की निन्दा की है वे भी उसके मित्र ही कहे जा सकते है क्योंकि उन्होने स्त्री के स्त्रीत्व को, नारी के आत्मिक सौन्दर्य को मरने–मिटने नही दिया। जब आचार्य शुभचन्द्र 'ज्ञानार्णव' मे लिखते है कि—'शास्त्रो के पारगामी एवं संसारभ्रमण से विरक्त, नि स्पृह, उपशमवित्त, ब्रह्मव्रती स्त्रियो की निन्दा करते हैं तो उनका यह आशय नही कि वे स्त्रियो के शत्रु है अपितु अपेक्षाभेद से, त्याग-मार्ग मे प्रवृत्त प्राणी की रागचेतना को परास्त करने के उद्देश्य से स्व-परपर्याय-परिज्ञान के उद्बोध के लिए वे वैसा कहते है। किन्तु जो स्त्रिया यम-नियम-

---

१ 'पत्नी पाणिगृहीती च द्वितीया सहधर्मिणी।
भार्या जायाथ पु भूम्नि दारा स्यात्तु कुटुम्बिनी ॥'-अमरकोष, द्वि० काण्ड.

स्वाध्याय-शील-चारित्रादि से विभूषित हैं, वैराग्य उपशमादि से पवित्र हैं, और श्रमणी होकर नारीपर्याय के समुद्धार में लगी हुई हैं, उन्हें निन्दनीय नहीं बताया गया। मूलतः निन्दा दोषों की है, गुणों की नहीं।' तो यह अधिक स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा को स्वप्रतिष्ठ करने तथा परपर्यायों से उदासीन रखने के लिए निःसंगत्व के लिए ही 'स्तनौ मांसग्रन्थी वदनमपि लालागृहमिदम्'—इत्यादि लिखा गया है। यह उल्लेख सापेक्ष होने से क्षम्य है और ससार की असारता का निरूपक होने से वास्तविक भी[1]। विश्व में त्यागियों और दार्शनिको को छोड़कर सहस्रों लेखको ने, कवियों तथा शृंगारपरायण रचनाकारों ने काव्य तथा शिल्प के माध्यम से स्त्री के अंग-प्रत्यंग का वर्णन किया है किन्तु संसार के यावत् पदार्थों को राग तथा तद्भव बन्धन मानने वाले विराग-उपशमवृत्ति-प्रधान ज्ञानपथिको ने आत्मसाधना के लिए नारी के मोहपाश मे आबद्ध करनेवाले अंगों की निन्दा की है[2]। यह उनके लिए समुचित ही है। मातृत्व से व्यतिरिक्त नारी का एक रूप 'मोहिनी' भी है और उसीके प्रति वीतराग भाव को उद्बुद्ध करने के लिए वैराग्यशतक लिखनेवाले अनेक भर्तृहरियो ने कलम उठायी है। इन्हे नारी-निन्दा के पद मानना शब्दशक्ति की असीम सीमा से अज्ञान प्रमाणित करना होगा। क्योकि जिन आचार्यों ने नारी-निन्दा के छन्द लिखे हैं, उन्हीने उन्ही छन्दो के साथ नारीविषयक श्रेष्ठसूक्तियाँ भी लिखी हैं। उसके जननीत्व को सदा ही प्रशसनीय कहा गया है और यौनस्वरूप को निन्दित। आचार्य जिनसेन लिखते है कि 'विदुषी नारी स्त्रीजाति मे अग्रगणनीय है[3]। इसी प्रकार 'हरिवंश पुराण' के एकादश सर्ग मे जयकुमार और सुलोचना के कथाप्रसग मे सुलोचना को ग्यारह अगों का धारण करनेवाली आर्यिका बताया गया है[4]। प्रसिद्ध नीतिकाव्य 'क्षत्रचूडामणि' मे पद्मा नामिका किसी मुख्य श्रमणी की चर्चा करते हुए लिखा गया है कि उसने जीवन्धर नाम के

---

१. 'निर्विण्णैर्भवसक्रमाच्छ्रुतधरैरेकान्ततो निःस्पृहै-
र्नार्यो यद्यपि दूषिता. शमधनैर्ब्रह्मव्रतालम्बिभिः।
निन्द्यन्ते न तथापि निर्मलयमस्वाध्यायवृत्तांकिता
निर्वेदप्रशमादिपुण्यचरितैर्या. शुद्धिभूता भुवि ॥' ज्ञानार्णव, १२।५६.

२ 'नैसर्गिकं हि नारीणां चेत सम्मोहि चेष्टितम्।' क्षत्रचूडामणि, ८।४

३ 'विद्यावान् पुरुषो लोके सम्मतिं याति कोविदै।
नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिम पदम् ॥' महापुराण, ९८

४. 'द्वादशांगधरो जात क्षिप्रं मेघेश्वरो गणी।
एकादशागभृज्जातार्यिकापि च सुलोचना ॥'—हरिवंशपुराण, ११।५२.

राजा की माताओं को श्रमणी दीक्षा प्रदान की[1]। भगवान् की समवशरणसभा में आर्यिकाओं का स्थान विशेष नियत होता है और उसमें क्रमश: 'ऋषिगण, स्वर्गवासिनी देवी, साध्वी, आर्यिका, ज्योतषियों की देवी, व्यन्तर देवियां, भवनवासी देवियां, भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिषी देव, स्वर्गवासी देव और मनुष्य तथा तिर्यंच विराजमान होते है[2]।' इस प्रकार नारीजाति के प्रति श्रमण विचारधारा में पर्याप्त सम्मान के भाव विद्यमान हैं। जो स्त्रियां व्रत, नियमादि ग्रहण कर पवित्र जीवन व्यतीत करती हैं उनके प्रति न केवल यहां उदार भाव ही हैं अपितु वे श्रमणीरूप से त्यागी चर्या का पालन करती हुई महाव्रतियो के प्राय: सदृश मान्यता प्राप्त करती रही है। उपचार से वे महाव्रतमती मानी गई है। सागारधर्मामृत का प्रमाण है कि 'एक कौपीनधारी ऐलक महाव्रती नहीं है किन्तु दो खण्डवस्त्र रखते हुए भी आर्यिकाओ को महाव्रत-अधिकारिणी बताया गया है[3]। नारी के योग्य प्रशंसापदों की जैनसंस्कृति मे न्यूनता नहीं है और न उन्हे विकास करने से निषेध किया गया है। आवश्यकता इस बात की अनुभव की गई है कि नारी सतीमार्ग पर प्रवर्तमान रहे। उसकी उपस्थिति गृह, समाज, धर्म और राष्ट्र के लिए सदुपकारिणी बने। ज्योतिषशास्त्र का एक पद है कि 'पश्यन्ति सप्तमं सर्वे शनिजीवकुजादय:'–अर्थात् शनि, बृहस्पति, मगल सभी सप्तम स्थान को देखते है और सप्तम स्थान 'स्त्री' भवन कहा जाता है, कुण्डली मे जो ग्रह बैठते है वे सप्तम भवन अथवा स्त्रीभवन को देखते है। क्योकि सारी पवित्रता स्त्रीभवन पर निर्भर है। यदि पुरुष भाग्य, सन्तान, ऐश्वर्य आदि सुखों मे समृद्ध है किन्तु यदि उसका स्त्रीभवन दुर्गत है तो जन्मकुण्डली का आधा फलादेश निहत हो जाता है। इसलिए सारे ग्रह सप्तम पर दृष्टि रखते है। नारी की सुरक्षा के लिए भी समाज विशेष सतर्कता रखता आया है। इतिहास साक्षी है, इस सतर्कता ने नारी जाति को पतन से बचाया है और समाज तथा धर्म मे सम्मानास्पद स्थान अर्पित किया है।

---

१. 'पद्माख्या श्रमणीमुख्या विश्राप्य श्रमणीपदम्।
तन्मातृभ्या ततस्त च महीनाथमबोधयत्॥'—क्षत्रचूड़ामणि: ११।१६.

२. 'ऋषिकल्पजवनितार्या ज्योतिर्वनभवनयुवतिभावनजा:।
ज्योतिष्ककल्पदेवा नरतिर्यंचो वसन्ति तेष्वनुपूर्वम्॥'

३. 'कौपीनेऽपि समच्छेत्वान् नार्हत्यार्यो महाव्रतम्।
अपि भक्तसमुर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हति॥'—सागार० ३६.

निर्ग्रन्थ मुनि

रात्रिदिव आत्ममनन करनेवाले को मुनि कहते है। यह संसार अनन्तानन्त जीवों से भरा हुआ है। जीव-निकाय अपने ही अनन्तानुबन्धन से उत्पन्न हो रहे हैं और लय (मृत्यु) होते जा रहे है। अनादिकाल से ऐसा होता चला आ रहा है और आगे अनन्तकाल तक ऐसा होता रहेगा। जीव के अपने कर्म नाना परपरिणतियों मे उसे ले जाते है और वह कर्मरज्जु से आकृष्ट इस भव से उस भव तक चंक्रमण करता रहता है। इस भव-भवान्तर की जन्म-मृत्यु-गाथाओ मे कण्टक में तीक्ष्णता के समान, विष मे मारकत्व गुण के समान और पुष्प मे सुरभि के समान नाना प्रकार के दुःख और सुख, कायक्लेश, पीडा, रोग, भय आदि अनुविद्ध होकर लगे हुए हैं। जन्मने की प्रक्रिया स्वय मे पाप और दुःखपूर्ण है। जिस जीवन का आरम्भ अशुभकर्म से उत्पन्न है, उसका मध्य और अन्त शुभ किवा सुखद कैसे हो सकता है। इन्ही विषम विषसदृश लोकवृत्तियो को देखते हुए भव्यात्मा जीव को विषय-वासनाओ से विराग हो जाता है। विराग से चिन्तन का उदय होता है और तत्त्वज्ञान प्राप्ति से यह चिन्तन आत्मचिन्तन मे परिवर्तित हो जाता है। आत्म-चिन्तन से उसे स्व-पर विवेक प्राप्त होता है जिससे मोहक्षय होकर परमात्मपद प्राप्त होता है। जो लोग मोह को मित्र मानते है उनकी दृष्टि वास्तविक तथ्यो से अपरिचित होती है और वे पापमय अशुभ कर्मों को आनन्द मानते हुए नाना योनियों मे परिभ्रमण करते रहते है। यद्यपि जैसे-जैसे शरीर पक्वायु होता है और विषयवासनाओ मे असमर्थ हो जाता है, वैसे-वैसे मनुष्य चिन्तन के लिए विवश हो जाता है और शरीरभिन्न आत्मा के अस्तित्व को मानने लगता है तथापि उस अवसरहत का ज्ञान उपयोगी नही हो पाता। अवसर पर किसी कार्य का शुभारम्भ कर देना उसकी सफलताओ को अधिगत करने का प्रथम सकेत है। कृषक अवसर पर खेत जोतते है और पक्वबालियों से धान्यराशि प्राप्त करते है। जब दूसरे किसान पकी हुई खेती पर दराँती चलाते हों, उस समय हल जोतनेवाला वृथाश्रमी नही तो क्या है? अत तत्त्वचिन्तन के ये क्षण अपनी दैहिक, मानसिक और कायिक समुन्नत अवस्थाओं में ही उपलब्ध किये जाए तो लाभदायी हो सकते है। इसी विचार से त्याग को परमसुख तथा भवागमननिर्गमन शृंखला का समापक मानने

वाले कर्मक्षयार्थ मुनिव्रत धारण करते हैं। मुनित्व ग्रहण करना संसारबीज को दग्ध करना है। मुनिचर्या के लिए विहित धर्मानुशासन इतने समर्थ और संशयोच्छेदी हैं कि मुक्तिपरिणाम करामलकवत् भासित होने लगता है। मुनि का विशेषण सम्पत्तिमान्, पुत्रवान् या छत्रचामरविभूतिमान् नहीं है अपितु निर्ग्रन्थ है। 'ग्रन्थ' शब्द संचयार्थक है, परिग्रहवाचक है। यह संसार परिग्रह का नामान्तर है। विश्व के यावत् भौतिक पदार्थ परिग्रह हैं। अतः परिग्रहो की सीमा नही है। इन परिग्रहों से व्यामोह बढ़ता है, अहकार का उदय होता है, मनुष्य मूर्छावस्था मे जीवित रहता हुआ भी अपने-आपको सुखी मान बैठता है। तथापि रातदिन उन परिग्रहो से, उनके संवर्धन, रक्षण और नियोजन की दुश्चिन्ता से वह सुख की नींद तक नही ले पाता। आर्त और रौद्रध्यान सम्पत्ति के आवश्यक परिणाम है। किसी नीतिकार ने कहा है कि—'धनादि के उपार्जन में बहुत कष्ट होता है, उपार्जन कर लेने पर रातदिन उनकी गोपनीयता (सुरक्षा) की चिन्ता घेरे रहती है। यदि वह अर्थ व्यय करना पड़ता है, खो जाता है तब महान् कष्ट होता है और उपार्जन-रक्षण-व्यय सभी अवस्थाओ मे उद्विग्नता, दुश्चिन्ता, आशंका और नाश का भय, चौरभीति बने रहते है। इस प्रकार अनर्थमूलक अर्थों को धिक्कार है[1]।' ससार मे जितने अधिक धनाढ्य है उनकी मोहरात्रि उतनी बड़ी है। व्यस्तता का यह हाल है कि न भोजन का अवकाश है और न विश्राम का क्षण। अहोरात्र बढते हुए अर्थभार के नीचे कछुए का चाम ओढे पिसते रहते है और एक मुट्ठी अन्न एवं शरीरप्रमाण भूमिशयन के लिए नाना कष्टपरम्पराओ को आमत्रण देते रहते है। इसीको सम्यग्ज्ञानियो ने मिथ्यात्व तथा परपरिणति कहा है। 'पर को अपना मान बैठा निज को पहचाना नहीं'—धनादि के लिए अपार कष्टपरम्परा को प्रतिदिन अधिकाधिक सहन करना और समृद्ध होती हुई भौतिक विपुलता से आनन्द मानना मिथ्यात्व से उपार्जित कर्मशक्ति का चमत्कार है। 'परमात्मप्रकाश' का कथन है कि—'ये कर्म दृढ हैं, घने चिकने है, भारी है और वज्र समान है। सामान्य जनो की तो बात ही क्या? ये ज्ञानविचक्षण जीव को भी उन्मार्ग-पतित कर देते हैं[2]।' इस मिथ्यात्व से परिवारित जीव विपरीत श्रद्धान करने लगता है और अपने कर्मों से रचे गये शरीर, वित्त, दारा, पुत्र, भवन, पशु, दास-दासी आदि

---

१. 'अर्थानामर्जने दु.खमर्जितानां च रक्षणे।
आये दु.खं व्यये दु.खं धिगर्थान् कष्टसश्रयान्॥'—नीति०

२. 'कम्मइँ दिढ घणचिक्कणइँ गरुवइँ वज्जसमाइँ।
णाणवियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिं ताइँ॥'—१।७८.

परभावों को अपना कहता है[१]। यह स्थिति बन्धनमयी है। कर्मरज्जुओंको बल देकर अधिक दृढ करनेवाली है। इसे मूर्छा कहते है, परिग्रह कहकर पुकारते हैं और ग्रंथ, ग्रन्थि या गाठ बताते है। मुनि, जो मिथ्यात्वगज पर सिहपाद (सम्यक्त्व सिंहपाद) रखते है, यदि ग्रन्थियों से विभूतिमान् हों तो उन्हे भी परपरिणतिपरायण मानना पड़ेगा और तब मुनित्व नाम से एक अन्य द्रव्यलिग की स्थापना अहैतुकी, निष्प्रयोजन होगी। इसीलिए मुनि को 'निर्ग्रन्थ' विशेषण दिया गया। दीक्षा समय मे मुनिव्रती सर्वथा नग्न, दिगम्बर होकर अपनी परिग्रहशून्यता का परिचय देते है। न आन्तरिक विषय-कषाय ग्रन्थि रखते है और न बाह्य वस्त्रादि रखते है। वे इन्द्रियसयम तथा प्राणसयम के बल से शुद्ध आत्मस्वरूप मे स्थित होकर कर्म-निर्मूलन करते है। दिगम्बरत्व को अत्यन्त क्लिष्ट माननेवालो का अभिमत है कि 'भावै. शुद्धै: मन: शुद्धम्'—मन:शुद्धि भावशुद्धि पर आलम्बित है और विशुद्ध-चारित्र भावो पर निर्भर है अत: दिगम्बरत्व अनिवार्य नही। किन्तु ऐसा कहना आगमविरुद्ध एव युक्तिरहित होने से अमान्य है। 'मूलाराधना' का अभिप्राय है कि 'वाह्यचेलादिग्रन्थत्यागोऽभ्यन्तरपरिग्रहत्यागमल '—बाहरी वस्त्रादि परिग्रहमात्र का त्याग आन्तरिक त्याग का मूल है। जबतक चावल के कणो पर छिलका विद्यमान है तबतक वह ओदनोपयोगी नही हो सकता। उसे उपयोगी बनाने के लिए उलूखल मे कूटकर शूर्प से निस्तुषकर नि.शल्क करना होता है। छिलका उसके आभ्यन्तर परिपाक का प्रतिबन्धक है और वस्त्रादि का धारण करना मुनित्व के सर्वथा नि संग का प्रतिपक्षी है। दिगम्बर मुनि ससार बीज का नाश करने के लिए दिगम्बर मुद्रा धारण करते है और अपने ज्ञान-ध्यान से भवबीज के अकुरण को सर्वथा नि·शेष कर देते है। वैसे जिन चावलो को भून दिया जाता है उनका छिलका जलकर स्वत: भी अलग हो जाता है। दिगम्बरत्व द्वारा उसी क्षपितभवबीज की निस्तुप स्थिति का परिचय निर्ग्रन्थव्रती देते हैं। 'नहि सतुषस्य तण्डुलस्य शोध: शक्य·'—तुषसहित तण्डुल का शोधना शक्य नही। वस्त्रत्याग के पश्चात् ही परिणाम अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त होते है। मूलाराधना की टीका के ७४ वे पृष्ठ पर लिखा है कि 'सग का त्याग, कषायों का निग्रह, व्रतो का धारण, तथा मन एव इन्द्रियो पर विजय ये ध्यानजन्मा मुनि की सामग्री है[२]। कहो तो यही उसका परिग्रह है।

१. 'जिउ मिच्छत्ते परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेइ।
कम्म विणिम्मिय भावडा ते अप्पाणु भणेइ ॥'—१।७९.

२. 'सगत्याग ' कषायाणा निग्रहो व्रतधारणम्।
मनोक्षाणा जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मन: ॥' — मूलाराधनाटीका, पृष्ठ—७४.

दिगम्बर मुनिचर्या सुलभ नही है। यह महाव्रती का जीवन है। बाहरी पदविक्षेप को सँभालकर चलते हुए जहा चीटी का भी ध्यान रखना आवश्यक है वहाँ आभ्यन्तर आत्मप्रदेश को कर्मबन्ध से नितान्त विमुक्त रखना परमावश्यक है। यदि विषयकषायो से रजित अणुभाग भी मुनिमन मे उदीर्ण होता है तो वह कर्मबन्ध उत्पन्न करता है। इसलिए मुनि सदैव अप्रमत्त रहते है। उनको दिये गये विशेषण काव्यमय अतिशयोक्ति अथवा केवल प्रशसापरक नही कहे जा सकते। वे वस्तुतः उन गुणो का अहर्निश पालन करते है और अतिचार को क्षम्य नही मानते। अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह उनके महाव्रत है। ईर्या, भाषा, एषणा, उत्सर्ग, आदाननिक्षेपण—पच समितियाँ हैं। स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु., श्रोत्र-निरोध करना पचेन्द्रियनिरोध है। सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—दैनिक षडावश्यक क्रिया है और केशलुंचन, अचैलक्य, अस्नान, भूशयन, अदन्तधावन, स्थितिभोजन तथा एकाहार ये प्रकीर्णगुण मिलाकर अष्टाविंश मूलगुण होते है जिनका पालन निर्ग्रन्थ मुनि करते है। सर्वसावद्यविरत, परहितनिरत, सर्वस्वत्यागी, परमविरागी, मोहममताजयी, कामविजयी, तपस्त्यागसयमादर्श, विश्ववन्द्य इत्यादि विशेषण उनके स्वरूप के वास्तविक अलकरण है। मुनि मन, वचन और काय के त्रियोग का सदा ध्यान रखते हैं। मन और वचन को भिन्न-भिन्न रखते हुए भाषण नही करते। उनका वचन उनके मन और काय के एकत्व से परामृष्ट है। यदि मन कुछ और कहता है तथा वाणी पर कुछ अन्य शब्द उच्चारित है तो यह भी असत्यभाषण होगा अत. त्रियोग सँभालकर ही वे महाव्रतो का पालन करने मे अप्रमत्त रहते है। इसी आशय को व्यक्त करते हुए नीति मे कहा गया है—'मनस्येक वचस्येक कर्मण्येक महात्मनाम्'—जो महान् आत्मा है उनके मन मे, वचन मे तथा कर्म मे एकवाक्यता होती है। ससार का प्रत्येक श्रेयोमार्गी, अभ्युदयाकाक्षी इस त्रिकरणशुद्धि का समन्वित प्रयोग करे, इसे मुनि अपने चारित्र से शिक्षण देते है। दिगम्बरवेष आकिचन्य की पराकाष्ठा है और अहिसा की आधारशिला है। कषाय और वासना से हिसक परिणति होती है तथा अकिचनत्व न स्वीकारने पर भी अहकार का उदय होकर अहिसाधर्म की उच्चकोटि की परिपालना मे विक्षेप उत्पन्न हो सकता है। इस हेतु से निर्ग्रन्थवेष वास्तव मे अपने-आप मे सर्वथा निराकुलत्व प्राप्ति का उपाय है। इसीलिए इसे निर्वाणमुद्रा कहते है। दक्षिण भारत मे अचेलक मुनि को निर्वाणस्वामी कहते हैं। आगमो में भी 'मुक्तिश्रीवल्लभ' जिनेन्द्रों का विशेषण है। बन्धनों

के अत्यन्त त्याग का परिणाम ही मोक्ष है। वह अत्यन्त त्याग बाह्य उपकरणो के हान मात्र से नही सिद्ध होता। उसके लिए अन्त:परिग्रहो का छोड़ना परमावश्यक है। श्रमणसस्कृति मे अस्नान, स्थितिभोजन, भूमिशयन, केशलोच इत्यादि गुण-सन्दर्भो से यह स्पष्ट सूचना दी गई है कि मुनि शरीर को भी परिग्रह समझें और उपेक्षा रखकर इसके शृङ्गार-सस्कार का सर्वथा परित्याग करे। यह वेष विश्व मे केवल श्रमणो का है और मोक्षगमन के विषय मे उनकी इस परपदार्थरतिविच्छेदक स्थापना के औचित्य से निषेध नही किया जा सकता। किसीने कहा है कि तिलो मे तैल है, दधि मे घृत है और इक्षुकाण्ड मे शर्करा है किन्तु उसकी प्राप्ति के लिए उनका निष्पीडन, मन्थन आवश्यक है। वैसे ही इस देह मे आत्मा है और तप-त्याग-सयम से उसे प्राप्त किया जा सकता है। शास्त्रदर्शित मार्ग मे चलते हुए जो सयम का पालन करते है वे ही सच्चे श्रमण है। असयमी कभी श्रमण नही हो सकता[1]। आचार्यों का ऐसा विश्वास है कि कदाचित् दैवयोग से अचल कहे जानेवाले पर्वत चलायमान हो जाए किन्तु कामिनी-कचनसहित सम्पूर्ण परवस्तुओं का त्याग करनेवाले मुनि का साम्यप्रतिष्ठित मन चलायमान नही होता[2]। वस्तुत. मन के चांचल्य को समाप्त करने के लिए, मोहध्वान्तनिशा को निरस्त करने के लिए तथा आत्मप्राप्ति के लिए मुनि होना आवश्यक है। मुनि होना, अर्थात् महाव्रती होना, अर्थात् मूलगुण पालन करना और अशेष कर्मों का क्षय कर अनन्त आत्मसुख प्राप्त करना। गृहस्थ भी मोहरहित हो सकता है किन्तु जबतक व्रतपालन की शपथ न ली जाए तबतक कालविशेष मे व्रतविहीन मानसिक अतिचार या व्यवहारत. धर्म-मर्यादा उल्लघन कर सकता है किन्तु जिसने व्रतो को ग्रहण कर लिया वह सल्लेखना से अपने प्राणविसर्जन तो कर सकता है किन्तु प्राणो के निमित्त व्रतभग नही करता। यही दृढ आस्था मुनित्व की आधारभूमि है। अव्रती का चित्त मोह-भूमियो मे परिभ्रमण करता रहता है क्योंकि उसने निषेध लिया नही है और मन महान् बलवान् है। जैसे प्रचण्ड आँधी बडे-बडे वृक्षो को समूल उखाड़ फेकती है उसी प्रकार मन ज्ञान और वैराग्य को क्षण मे ध्वस्त कर देता है। विमल स्वभाव आत्मा पर मलिनताउद्भावक मन ही है। इस दृष्टि से भी मनोनियत्रण करनेवाले

---

१. 'आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह सजमो तस्स –
णत्थीति भणदि सुत्त असजदो होदि किध समणो ॥'– प्रवचनसार, ३६.

२ 'चलत्यचलमालेय कदाचिद् दैवयोगत. ।
नोपसर्गैरपि स्वान्त मुने साम्यप्रतिष्ठितम् ॥'– ज्ञानार्णव, २४।३०.

मुनिव्रत लेते हैं । महर्षि पुष्पदन्त ने कहा है कि अपने कर्मों का क्षय करने के लिए दीक्षा ली जाती है । कुछ व्यक्ति पुण्यों का सवर्धन करने के लिए और कुछ संसार से मुक्त होने के लिए दीक्षा लेते हैं[1] । इस प्रकार कर्म क्षय करने, पुण्य सचित करने अथवा मोक्षरूप सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने की अभिलाषा रखनेवाले मुनिदीक्षा लेते हैं । कर्मरज्जु को काटने के लिए मुनिव्रतरूपिणी तीक्ष्ण असिधारा ही समर्थ है । ससारमग्न व्यक्ति कर्मविस्तार ही करता रहता है और क्षणिक सुखावाप्ति के लिए दीर्घकालीन अनर्थों की परम्परा प्रसूत करनेवाले मिथ्यात्व मे फँसा रहता है । मानो काक उडाने के लिए अमूल्य मणि को फेकता है । यह मिथ्यात्व सम्यग्ज्ञान के अभाव मे अप्रतीत रहता है । जैसे मृगतृष्णा का ज्ञान होने से पूर्व मृग उसे जलाशय मानकर उसी ओर बढता रहता है उसी प्रकार मनुष्य यथार्थ ज्ञान के अभाव मे मोहमरुस्थल को चिन्तामणिभूमि मानता रहता है । किन्तु बालू मे मुह मारने से जैसे मृग को पानी नही मिलता वैसे जन्मभर मिथ्यात्व से सगति करनेवाले को सच्चे सुख की प्राप्ति नही होती । सम्यक्त्व की प्राप्ति से आत्मा नेत्रवान् हो जाता है । दर्शन, ज्ञान और चारित्र यह त्रिसम्यक्त्व ही मिथ्यात्व विनाशक है । इन्हे त्रिरत्न कहते है । ये तीन रत्न ससार भर के रत्नो की मूल्य सम्पदा से विशिष्ट है । मुनि इन तीन रत्नो को धारण करते है । त्रिरत्नकुशल होना मुनिपद की शोभा है । चाहे विश्व-विप्लव हो जाए, भूकम्प उठे और ज्वालामुखी दीर्ण हो जाए, मुनि अपने त्रिरत्नो की रक्षा करेंगे । उनके सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र अविपन्न है तो उन्हे परपदार्थो के म्लान होने या विकास प्राप्त करने से कोई हर्ष-विषाद नही । यह मुनिव्रत पुरुषार्थ मार्ग का समर्थक है । स्वय मुनि परमपुरुषार्थ करने के लिए ही निर्ग्रन्थ होते है । श्रमणसस्कृति के मत से कर्मफल का भोक्ता कर्ता ही है । दूसरा दूसरे के किये कर्म का फलभोगी नही । जो पानी पियेगा उसकी तृषा शान्त होगी । जो अगारो पर चलेगा उसी का पाव जलेगा । यदि देवदत्त का नाम लेकर यज्ञदत्त अगारो पर चरण धर दे तो क्या देवदत्त का पाव जलेगा ? इसी प्रकार शुभ-अशुभ कर्म करनेवाला ही उस-उसका परिणामभागी बनता है । सम्यक् चारित्र पालन करना परमपुरुषार्थ करना है । इस मार्ग की प्राप्ति भगवान् के चरण-द्वन्द्व के कृपाप्रसाद की प्राप्ति विना नही होती । 'शान्तिभक्ति' का नित्यपाठ करने-वालो को विदित है कि 'अव्यावाध, अनुपम, अचिन्त्य, तथा शाश्वत सुख की प्राप्ति

---

१. 'दीक्षा गृह्णन्ति मनुजा स्वकर्महरणाय च ।
स्वपुण्यवृद्धये केचित् केचित् ससृतिमुक्तये ॥'– पुष्पदन्त.

तीर्थंकर परमदेव की चरणयुगलभक्ति से ही प्राप्त की जा सकती है[१]। जबतक भगवान् के चरणो का कृपाप्रसाद नही मिलता तबतक जीवनिकाय के पापों का अन्त नही और शुभ की प्राप्ति नही[२]। जबतक मनुष्य असातावेदनीय कर्म से आकीर्ण रहता है तबतक वह सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन उन्मीलित होकर भी सम्यक्चारित्रमार्ग पर नही चल पाता। कोई अपुण्य उसका प्रतिबन्धक बना रहता है। जैसे शीतऋतु मे सूर्य के उदय होने पर भी कमलवन खिल नही पाते, क्योंकि उनके पत्तो पर हिम जमा रहता है। वह हिम सूर्यालोक प्राप्ति पर भी प्रतिबन्धक अपुण्य के समान होकर उसके विकास को रोकता है। तभी लोक मे सम्यक्चारित्रमार्गी स्वल्प है। सम्यक्चारित्रवान् के विषय मे 'योगसार' का निर्वचन है कि–'हे जीव ! जब मन निर्ग्रन्थ हो जाता है तब ही तुम भी वास्तविक निर्ग्रन्थ होते हो और जैसे ही तुमने निर्ग्रन्थत्व प्राप्त किया वैसे ही शिवमार्ग (मुक्ति-पथ) प्राप्त हो जाएगा[३]। तुम्हे सदा अपने को जिनेन्द्र से एकीभाव भाना चाहिए। जो जिन है, वही तू है, यही भावना मोक्षदायिनी है और कोई तन्त्र, मत्र मोक्षकारण नही है। शुभ और अशुभ लोहमय एव सुवर्णमय शृङ्खलाएँ हैं, ज्ञानियो के लिए दोनो का त्याग विहित है[४]। राग और द्वेष इन दो का परित्याग करते हुए जो सम्यग्ज्ञान-दर्शन दो गुणों को स्वीकारता है तथा अपने आत्मा मे निमग्न रहता है, भगवान् जिनेन्द्र का वचन है कि वह शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है[५]। इस निर्वाणपथ का पथिक साधु विषयो से दूर, आशाओं से अजान, आरम्भपरित्यागी, परिग्रहवर्जित और मात्र अपने ज्ञानध्यान मे निमग्न रहता है[६]। उसका मन प्रासादो मे, श्मशान मे, स्तुति मे, निन्दा में, पक मे, केसर-कुकुम मे, पलग और कण्टक मे, पत्थर तथा मणि

---

१. 'अव्याबाधमचिन्त्यसारमतुल त्यक्तोपम शाश्वतं
सौख्य त्वच्चरणारविन्दयुगलस्तुत्यैव सम्प्राप्यते ॥'– शान्तिभक्ति ६

२. 'यावत्त्वच्चरणद्वयस्य भगवन् ! न स्यात् प्रसादोदय
तावज्जीवनिकाय एष वहति प्रायेण पाप महत् ॥'–शान्तिभक्ति ७.

३-४ 'यदा मनो निर्ग्रन्थो जीव ! तदा त्व निर्ग्रन्थ ।
यदा त्व निर्ग्रन्थो जीव ! ततो लभ्यते शिवपन्था ॥
'यो जिन सोऽह स एवाह' एतद् भावय निर्भ्रान्तिम् ।
मोक्षस्य कारण योगिन् ! अन्यो न तत्रो न मत्रः ॥'–योगसार, ७३।७५

५ 'द्वौ त्यक्त्वा द्विगुणसहितो य आत्मनि वसति ।
जिनः स्वामी एव भणति लघु निर्वाण लभते ॥'–योगसार, ७७

६. 'विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रह ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥'–रत्नकरण्ड श्रावकाचार, १०

(इन्दुकान्तमणि) में, चर्म और चीनांशुक मे, विकृतांग एवं सुन्दर नारी में किसी भी सुन्दर-असुन्दर में आकर्षण-विकर्षण अनुभव नहीं करता और साम्य मे प्रतिष्ठित रहकर आत्मलीन रहता है[1]। यह आत्मरति ही मनुष्य की स्वपरिणति है। कहते हैं, स्पर्शमणि से लोहा भी सुवर्ण हो जाता है किन्तु स्पर्शमणि तथा लोहे के बीच कागज का पतला व्यवधान हो तो वह सुवर्ण नही हो सकता। आत्मा के साथ भी यदि सूक्ष्म, अणु-भाग भी कर्म शेष हो तो उसे शिवपद प्राप्ति नही होती। ऋणशेष और व्याधिशेष के समान कर्मशेष भी मोक्षप्रतिबन्धक है। अग्नि को सम्पूर्ण रूप से बुझाना चाहिए। यदि एक छोटी चिनगारी भी शेष रह गई तो बढ़कर अप्रशमनीय बन जाएगी। यह लौकिकी तृष्णा भी यदि सूची के अग्रभाग पर बैठने जितनी शेष रह जाती है तो कालान्तर मे फैलकर समुद्रान्त पृथ्वी-परिधि को घेर लेती है। अत: निश्शेषक्षय करने पर ही शिवपद गमन किया जा सकता है। बाहुबली कठोर तपश्चर्या कर रहे थे किन्तु पदनखाग्र पृथ्वी पर टिका हुआ था और वह सोच रहे थे—मै भरतचक्रवर्ती की भूमि पर खड़ा हू। जबतक उन्हे यह भान रहा वह मोक्ष नही पा सके। शल्य का अश भी नही रखते हुए त्यागी अपने महाव्रतो का पालन करते है। आत्महित साधन करना उनके लिए सर्वोपरि है[2]। 'अन्धवत् पश्य रूपाणि शृणु शब्दमकर्णवत्' कि अन्धे के समान रूप की दुनिया को देखो तथा बधिर के समान शब्दो को (नारीनूपुरध्वनि आदि को) सुनो—यह उक्ति सम्भवत· त्यागमार्ग पर सचरण करनेवालो को लक्ष्य मे रखकर बनायी गई है। और यह तो ससारधर्मा मनुष्य भी अपने अनुभवो से जानते है कि कामनाओ के उपभोग से कामनाओ की शान्ति नही होती। जैसे जेब का पैसा खर्च देने से वह समाप्त हो जाता है वैसे कामनाए खर्ची नही जा सकती, वे तो भोगने पर अधिक-अधिक बढ़ती है। जैसे कोई घृतधारा से अग्नि को शान्त नही कर सकता वैसे कामनाओं की पूर्ति से कामनाओं को दग्ध (नि शेष) नही किया जा सकता[3]। अभ्यास, तीव्र वैराग्य

---

१. 'सौधोत्सगे श्मशाने स्तुतिशपनविधौ कर्दमे कु कुमे वा
पल्यके कण्टकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्मचीनांशुकेषु।
शीर्णांगे दिव्यनार्यामसमशमवशाद् यस्य चित्तं विकल्पै—
र्नालीढ सोऽयमेक· कलयति कुशल साम्यलीलाविलासम्॥' ज्ञानार्णव, २४।२६.

२ 'आदिहिदं का दब्ब जदि सक्कइ परहिद च का दब्बम्।
आदिहिदपरहिदादो आदि हिद सुट्ठु का दब्बम्॥'

३ 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥'

और पचेन्द्रिय संयमपूर्वक व्रत, उपवास, तत्त्वचिंतन आदि से ही वासनाओं का क्षय किया जा सकता है। अभ्यास करते रहने से दृढता आती है। मल्ल दण्ड-बैठकों से नित्य अभ्यास करते हुए अपने अंगों को दृढ करते हैं और योगी द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन कर वैराग्य का अभ्यास स्थिर करते है। उनके त्यागमय जीवन को देखकर भर्तृहरि ने लिखा है कि वे धन्य है जिन्होने हाथो को पात्र बना लिया है, चरणों को वाहन, भिक्षावृत्ति को अन्नपूर्ति, दिशाओ को वस्त्र, पृथ्वी को शय्या मान लिया है। जो अपने आत्मा मे ही निमग्न है और सम्पूर्ण दैन्यजनकपरिणतियो से सन्यास लेकर अपने कर्मो का निर्मूलन करते है[1]। उपसर्गों पर विजय पाना, परीषहो को सहन करना, अपकारी पर भी क्रोध न करना, स्तुतिकर्ता को विशेष अनुराग की, स्नेह की भावना न देना—ये साधु के सहज स्वभाव है। किसी ने कहा है – कोई व्यक्ति मुनिमहाराज को पारिजात के पुष्पो मे पूजता है और कोई नग्न क्षपणक कहकर क्रोध करता है, गले मे सर्प डाल देता है और डडा लेकर मारने-पीटने लगता है। किंतु उन उपकारक और अपकारक पर जिसकी तुल्यवृत्ति होती है, वही योगी है। वही योगी परमज्ञानी है, समताभावी है[2]। जब राजा श्रेणिक ने दिगम्बर मुनि के गले मे मृतसर्प डाल दिया और तीन दिन बाद रानी चेलना ने श्रेणिक सहित आकर उस सर्प को निकाला तब उपसर्गमुक्त मुनिमहाराज ने कहा—'युवयोर्धर्मवृद्धिरस्तु' – तुम दोनो की धर्मवृद्धि हो। यह सुनकर श्रेणिक को ज्ञान हुआ कि मुनि परम समभावी है। न तो उन्होने चेलना को विशेष आशीर्वाद दिया और न मुझे अभिशाप दिया। दोनों को एक साथ 'युवयो.' कहकर धर्मवृद्धि दी। यह समत्व ही मुनियों का भूषण है। यदि यह समत्व उन्हे प्राप्त नही हुआ तो वेष वास्तविक नही कहा जा सकेगा। केशों का लुचन, वस्त्र का त्याग और साधु का नेपथ्य आभ्यन्तर शुद्धि के विना अपूर्ण है। परमात्मप्रकाश का यही अभिमत है[3]। शास्त्रस्वाध्याय तथा जिनभक्ति मे लगा हुआ साधु प्रशस्य है।

---

१ 'पाणि पात्र पवित्र भ्रमणपरिगत भैक्षमक्षय्यमन्न
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकममलिन तल्पमस्वल्पमुर्वी।
येषा नि सगतागीकरणपरिणति: स्वात्मसन्तोषिणस्ते
धन्या सन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकरा कर्म निर्मूलयन्ति ॥' –वैराग्यशतक०, ५७.

२ 'एक पूजा रचयति नर पारिजातप्रसूनै
क्रुद्धः कण्ठे क्षिपति भुजग हन्तुकामस्ततोऽन्य ।
तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्य स योगी
साम्याराम विशति परमज्ञानदत्तावकाशम् ॥' –ज्ञानार्णव, २७

३. 'केण वि अप्पउ वचियउ सिरु लुचिवि छारेण ।
सयल वि सग ण परिहरिय जिणवरलिंगधरेण ॥' –परमात्मप्रकाश, ९०

निर्ग्रन्थ होने की इच्छा रखनेवाले त्यागी को पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य की भूमि पर ही त्याग की स्थापना होती है। राग को निश्शेष करना तथा त्याग को ग्रहण करना इस मार्ग का प्रथम पद है। ब्रह्मचर्यावस्था मे शास्त्रो का स्वाध्याय तथा गुरुमुख से अध्ययन कर अपने को आगम का जानकार बनाना तथा आचार्य, मुनिसघ मे रहकर समीप से त्यागमय जीवन की चर्या का अध्ययन करना ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक है। ब्रह्मचारी होने के पश्चात् उसे क्षुल्लक और तदनन्तर ऐलक दीक्षा दी जाती है। ये सभी अवस्थाए स्नातकोत्तर परीक्षा की पूर्वावस्थाएँ है। इस समय मे उत्तरोत्तर आहार, पान, परिधान, परिग्रह का सयमाभ्यास करते हुए जब मुमुक्षु भव्य अपने आप मे निराकुलता, शान्ति, वैराग्य और समता अनुभव करे, ससार विषयो से हेय–उपादानविज्ञान चक्षु द्वारा पूर्ण विरक्त होजाए, तब सर्वथा मुनिव्रत पालनार्थ 'निर्ग्रन्थ' मुद्राधारण का उपक्रम करे[1]। जिसे मुनिदीक्षा दी जानेवाली हो, वह या तो अनेक वर्षो से संघ मे रहता हुआ ब्रह्मचर्य, क्षुल्लक तथा ऐलक दीक्षाओ का पालन किया हुआ, सुपरीक्षित पात्र होता है या कोई भव्यात्मा गृहस्थ तरुण अथवा जराजीर्ण भी हो सकता है। दीक्षापात्र के विषय मे दीक्षा से पूर्व आचार्य किवा गुरु को सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। यदि वह सर्वथा निर्दोष हो तो चतु सघ के समक्ष उसे दीक्षाविधि द्वारा निर्ग्रन्थ-श्रामण्य प्रदान करना चाहिए। इसके पूर्व दीक्षाग्रहीता को चाहिए कि वह अपने ससारावस्था के कुटुम्ब परिवार से अनुमति प्राप्त करे। पत्नी, माता, पिता, पुत्र-पुत्री और अन्य प्रष्टव्यजनो से पूछे। यदि उन्हे उसके मुनि होने पर आपत्ति हो, आर्थिक सकट या अन्य विपत्तियो की आशका हो तो स्नेह-वात्सल्यपूर्वक उन परिस्थितियो का समाधान करे और इसके पश्चात् सबके अविरोध से दीक्षायाचना के लिए गुरु के समक्ष उपस्थित हो। गुरु को भी चाहिए कि वह अपनी ओर से दीक्षार्थी के विषय मे अभिज्ञता प्राप्त करे। यदि वह आठ वर्ष से न्यून वय का बालक हो, अशक्त वृद्ध हो, नपु सक हो, विकलाग, जड, रोगी, चोर, राजापराधी, उन्मत्त, अन्ध, दास, दुष्ट, मूढ, ऋणपीडित, कारावास पाया हुआ, कही से पलायन कर आया हुआ तथा अन्य इस प्रकार के सापराध आचरणो से युक्त हो तो उसे मुनिदीक्षा नही देनी चाहिए। क्योकि जो स्वय दोषविद्ध है वह धर्मप्रभावना के निर्दोष मार्ग पर चलने का अधिकार नही रखता। 'तेऽपि न दीक्षार्हा, लोके अवर्णवादसम्भवात्'–लोक मे निन्दावाद फैलेगा अत. निन्दाप्राप्तो

---

१ 'प्रथम ब्रह्मचारी सधार्यानन्तर क्षुल्लकदीक्षाम्।
ऐलकदीक्षा धृत्वाऽनन्तरमपि वर्ततेऽत्र निर्ग्रन्थ ॥'

को पूज्य मुनिपद नहीं दिया जासकता। किन्तु जो लोक में प्रशस्य रहा हो, इन्द्रिय-संयमी हो, कुल से, रूप से, वय से, गुणों से योग्य हो, मनोज्ञ हो, विद्वान्, शास्त्रवेदी तथा सम्यक्चारित्र पालन मे समर्थ हो वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप और वीर्य—इन पंच आचारों से युक्त आचार्य महाराज की सेवा मे उपस्थित होकर उन्हे सविनय निवेदन करे कि हे भगवन्! आप मुझे श्रामण्य प्रदान करे। तब आचार्य उसे शुभ मुहूर्त देखकर, स्थिर लग्न मे यथाशास्त्र दिगम्बरत्व प्रदान करते है। आचारसार में वर्णन है कि दीक्षार्थी को जब श्रामण्य प्राप्ति की स्वीकृति गुरुदेव प्रदान कर देते हैं तो उसकी प्रसन्नता का पारावार नही रहता। स्वीकृतिमात्र से वह अमृतपान किया हुआ-सा हो जाता है। मदझरते गजेन्द्र के समान प्रसन्न हो जाता है। बाह्य और अन्तरग के संगमात्र को किसी प्रशस्त मुहूर्त मे सदा सर्वदा के लिए विदा दे देता है। इस दीक्षा से दीक्षित के पशुबन्धन क्षीण हो जाते है और ज्ञान का सद्भाव होता है। मानो, इसी आशय को प्रकट करने के लिए दीक्षा मे 'दी–क्षा' ये दो शब्द रखे गये है। तन्त्रवार्तिककार ने ऐसा लिखा है। इसका आशय यही है कि शुभ के उदय से दीक्षा की स्थिति किसी के जोवन मे लभ्य होती है। कोई निर्विघ्न दीक्षा-धारी हुआ है इससे यह सूचना मिलती है कि वह पुण्यवान् है। विना सुकृत के भगवान् जिनेन्द्र की मुद्रा लोक मे अतिदुर्लभ है। 'अन्यैव गतिरश्वस्य गतिरन्यैव दन्तिन'– अश्व की चाल भिन्न होती है और गजराज की चाल भिन्न होती है। जिनके सुकृत फलते है उन्हे तीर्थकर प्रकृतिबन्ध होता है और जिनके कर्मबन्ध अशुभ परिणामी होते हैं वे हेमसेन के समान ककडी मे कृमि भी हो जाते है। इस मुनि-दीक्षा के अनन्तर व्यक्ति महनीयचरित कोटि में आ जाता है। उसकी चर्या को लोग उसी प्रकार देखते है जैसे उत्फुल्ल कमल सूर्यकिरणो को। दिगम्बर मुनि का सम्पूर्ण जीवन अपरोक्ष होता है। कोई गोपनीयता नही होती। किसी वाहन पर वे यात्रा नही करते, मात्र पदविहार करते है और इसमे भी देशव्रत रखते हैं तथा चाहे जहाँ, चाहे जितनी दूर विना प्रयोजन नही चलते। एक समय अजलि मे आहार-जल लेते है। 'अन्तराय' होने पर हर्ष-शोक नही करते। धर्मप्रभावना करने के लिए शास्त्रप्रवचन करते है। नि सगव्रत को चरितार्थ करने के लिए एक स्थान पर अधिक दिनो तक नही रहते। वर्षाकाल मे कृमि-कोट, नदी-नाले और दुर्दिनों की परिस्थिति से एक स्थान पर रहने की शास्त्रानुमति है। 'वर्षायोग' साधते हुए मुनि धर्मध्यान करते है, श्रावको को प्रवचन देते हैं और भगवान् जिनेन्द्र के शासन को प्रभावशील करने के लिए लोकसम्पर्क रखते है। क्षत्रचूडामणिकार ने जीवो को भवसन्तरण का मार्ग बताते हुए श्रमणसंस्कृति के हेयोपादेय विज्ञान का निष्कर्ष

एक पंक्ति मे रख दिया है। लिखते है–'जैनी दीक्षामुपादत्त यस्यां कायेऽपि हेयता'–(१०/२) उस जिनेन्द्र भगवान् के धर्म मे दीक्षित बनो, जिस मे काय को भी परद्रव्य अतएव हेय बताया है। वस्तुतः अच्छे-अच्छे पंच पक्वान्न, दिन मे अनेक बार जो खाते हैं और इस पर भी अपने को साधु, त्यागी, सन्यासी कहने का दर्प करते हैं वे काय-पुष्ट जीव देहासक्त होने से मोक्षभागी हो सकेगे क्या ? बहुत लोग देह को अन्नकीट बनाये हुए हैं और रात-दिन खाये चले जा रहे है और बहुत-से देह को शृंगार-प्रसाधन की दूकान बनाये हुए है। सारे शरीर पर पाउडर, स्नो, क्रीम, वेसलिन, तैल, नाना प्रकार के रग-रौगन और जाने क्या-क्या लगाकर उसे आकर्षक करने के प्रयत्नों मे धन और समय का नाश करते है। प्रतिदिन, प्रतिक्षण, अन्दर और बाहर से क्षुधित ये संसारमग्न जीव खट्टी डकारें आने पर भी खाये जा रहे हैं और प्यास न होने पर भी तृष्णा को पिये जा रहे है। ऐसे समय मे अन्नसंयम की धीरता का जीवनपर्यन्त परिचय देनेवाले श्रमणमुनि धन्य हैं। वे काय मे प्राण बने रहे, इस भावना से अहोरात्र में, सूर्योदय के तीन घडी पश्चात् अथवा सूर्यास्त के तीन घडी पूर्व यथालाभ सन्तुष्ट रहते हुए एकाहार लेते हैं। जैसे कोई रथ को गतिशील रखने के लिए उसे स्नेह से चुपड़ता है न कि दृष्टिसुख के लिए चक्रो को घृतस्नपित करता है, वैसे प्राणमयमार्थ मुनि आहार लेते है।[1] इस विषय मे मलाचार, रयणसार, परमात्मप्रकाश और आचारसार की उक्तियाँ पठनीय है। वास्तव मे अस्वाद मुनि का पहला व्रत है जिसके पालन से अन्य महाव्रतो, समितियों, गुप्तियों और मूल-गुणो का पालन सुसाध्य हो जाता है। जिह्वा का वशीकरण इतर समस्त इन्द्रियों का वशीकरण मार्ग है। जिह्वा स्वादप्रिय है इसे स्वाद से परितृप्त करनेवाला व्रत, सयम, उपवास तथा रुक्ष-लुक्ष आहार नही ले पाता। स्थितप्रज्ञ होने के लिए इन्द्रियों को वश मे करना अनिवार्य है। प्राचीन समय मे त्यागियो का सहनन सामर्थ्य

---

१ 'अक्खोमक्खणिमित्त भुजति मुणी पाणधारणणिमित्त।
पाण धम्मणिमित्त धम्ममपि चरति मोक्खट्ठ ॥' – मूलाचार, ५०.
'भुजेइ जहालाह लहेइ जइ णाण सजमणिमित्त।
भाणज्झयणणिमित्त अणियारो मोक्खमग्गरओ ॥' – रयणसार ११३.
'जे सरसि सतुट्ठमण विरसि कसाय वहति।
ते मुणि भोयणधार गणि णवि परमत्थु मुणति ॥' – परमात्मप्रकाश, १११
'भृग पुष्पासव यद्वद् गृह्णात्येकगृहेऽशनम्।
गृहिबाधां विना तद्वद् भुजीत भ्रमराशनः ॥' – आचारसार, १२७
'उदराग्गिसमणमक्खमक्खणगोयारसब्भपूरणभमर।
ण उण तप्पयारे णिच्चेवं भुजरा भिक्खु' ॥ – रयणसार, ११४

अधिक था इसलिए वे दीर्घकाल तक उपवास करने मे समर्थ थे। किन्तु आधुनिक समय मे कालप्रभाव से वज्रसहननधारी नही होते अत त्यागियो को काय न तो इतना कृश करना चाहिए कि चर्याशक्ति भी न रहे और न इतना पुष्ट-पीवर कि उठने-बैठने मे क्लेश-प्रतीति हो। मध्यमवृत्ति से आहार लेना चाहिए कि इन्द्रियाँ उन्मार्ग मे प्रवृत्त न हो और वश मे रहे[1]। आचार्यो का अनुभूत मत है कि प्राचीनों के तुल्य इस काल के त्यागी लम्बे उपवासो को सहन नही कर सकते[2]। सोमदेव सूरि को तो यही आश्चर्य है कि आज भी निर्ग्रन्थ मुनिचर्या के पालन करनेवाले विद्यमान हैं[3]। सूरियों के इस आश्चर्य का समाधान आज की परिस्थितियो का अध्ययन करने पर सुगम प्रतीत होता है। परिग्रहो पर आसक्ति आज के समान पूर्वकाल में नही सुनी गई और धर्माचरण को इतना दुर्बल अनुभव नहीं किया गया। आज का मानव अत्यन्त स्वजीवी हो गया है और देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, उपवास, तप तथा पवित्र आचरण के क्षेत्र वन्ध्यप्राय हो चले हैं। आहार की पवित्रता गिनेचुने लोगो मे सीमित हो गई है और इन्द्रियसंयम की हँसी उडायी जा रही है। ऐसे विषम काल मे इन्द्रियभोगो से विरक्त, अस्वादव्रती, वस्त्रत्यागी, कषायजयी मुनित्व को निभाना, दीक्षा लेना और सहस्रातिसहस्र वर्ष प्राचीन सास्कृतिक परम्परा की शृखला को बनाये रखना नितान्त कठिन ही कहा जा सकता है। आचार्यो ने अपने ज्ञानोन्मेप से यह अवगत कर लिया था कि धर्मप्राण भारत देश मे भौतिकता का अतिसकट उपस्थित होगा और धर्माचार लुप्त नही तो विपन्न अवश्य होगा। वही यह समय चल रहा है। दीक्षान्त भाषणो से दीक्षित होकर विश्वविद्यालयो से प्रतिवर्ष एक नही शत-शत युवा राष्ट्र की स्वतंत्र जनवीथियो पर चक्रमण करने निकलते है और उनमे अधिकाश अपनी आदतों, खर्चो, मौज-शौक के उपकरणो के सीमित दायरे मे 'फिट' रहते हुए जीवनयात्रा पर चल निकलते है। उन्हें वर्णमाला के ककार से अन्तिम अक्षर

---

१ 'न केवलमय काय कर्शनीयो मुमुक्षुभि·।
नाप्युत्कटरसै पोष्यो मृष्टैरिष्टैश्च व्यजनै ॥
वशे यथा स्युरक्षाणि नोत धावन्त्यनूत्पथम्।
तथा प्रयतितव्य स्याद् वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम् ॥'–महापुराण, ५।६

२. तद्धैर्यं यमिना मन्ये, न सम्प्रति पुरातनम।
अथ स्वप्नेऽपि नामास्था प्राचीना कर्तुमक्षमा·॥'–ज्ञानार्णव, २८।१७

३. 'काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः॥'–सोमदेव०, २८.

तक धर्मविषय कभी पढ़ाया नहीं गया, शील-शौच सिखाने की आवश्यकता नहीं समझी गई और इस प्रकार धर्मनिरपेक्ष अतिभौतिक पीढ़ी का योजनाबद्ध नया समाज यहाँ तैयार हो चुका है, तैयार किया गया है। 'आत्मा और शरीर' विषय को लेकर शोधग्रन्थ (थीसिस) लिखनेवाले तो बहुत मिलेंगे परन्तु उन विषयो से अपना निकट सम्पर्क स्थापित करनेवाले कदाचित् ढूंढने पर मिलें। अध्ययन करने पर उसे उगलना तो लोग आधुनिक शिक्षणकला से जान गये हैं परन्तु निगलकर उसे पचाना और अपने अगों का शोणित बना लेना, अपना लेना बहुत कम जानते है। यही कारण है कि उन्हें आकृति पर सुर्खी लगानी पड़ती है, वह उनमे से उत्पन्न होकर परिलक्षित नही होती। बाहर से आरोपित प्रपचों के परिवेष मे आज का जीवन चल रहा है। आवरण का सौन्दर्य तो बढ गया है परन्तु निरावरण दशा मे यदि मनुष्य अपने को देख सके तो नितान्त लघु अनुभूति से कातर होना पडेगा। इसीको कहते हैं – 'बाह्यग्रन्थिविहीना दरिद्रमनुजा:' – किन्तु जिसने आत्मसाक्षात्कार से अपनी अपार विभूतियो को, सम्पन्नताओ को जान लिया है वह अपने आप मे पूर्ण है। ऐसा पूर्ण व्यक्तित्व ही परम नि:श्रेयस की दुर्विलघ्य घाटियो को पार करता है। आज के क्लिष्ट काल मे भी सोमदेवसूरि के आश्चर्य को जीवित रखनेवाले ऐमे पुण्यवान्, सुकृती, धन्य महापुरुष होते है। विश्व के यावत् भोगो की निद्य परिणति को जानकर विरक्त होकर वे प्रव्रज्या ले लेते है तथा आत्मकल्याण के लिए जीवन को सुरक्षित कर लेते है। इस निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या को आकाश से बरसती रत्नावली की उपमा क्षत्रचूडामणिकार ने दी है[1]। वादीभसिह कहते है कि जो व्यक्ति जीवन के प्रारम्भ मे, मध्य मे अथवा उत्तरार्ध मे भी प्रव्रज्या ले लेता है वह कथचित् अपने मनुष्यभव को सार्थक करने की ओर प्रवृत्त हुआ माना जा सकता है। किन्तु ससारी और विषयी जीवन बिताकर कूचकरनेवाला तो ऐसा है जिसने भस्म पाने के लिए रत्नहार जला दिया हो[2]। सम्यग्ज्ञानपूर्वक वीतरागभाव धारण करनेवाले मुनि को जिस सुख की प्राप्ति होती है उसका अनन्तवा भाग भी स्वर्ग के देवेन्द्रो को प्राप्त नही

---

१ 'प्रव्रज्या जातुचित् प्राज्ञैः प्रतिषेध्दुं न युज्यते।
न हि खादापतन्ती चेद् रत्नवृष्टिर्निवार्यते॥' – क्षत्रचूडामणि.

२. 'वयस्यन्तेऽपि वा दीक्षा प्रेक्षावद्भिरपेक्ष्यताम्।
भस्मने रत्नहारोऽयं पण्डितैर्न हि दह्यते॥' ,,

होता[1]। क्योकि सुख का आस्पद तो आत्मस्थित होना है, ज्ञान की रज्जु से इधर-उधर धावन करते हुए मनरूप हाथी को बाँधना है[2], मानस मे कल्लोल लेती वासनाचचल तरंगो को प्रशमित कर स्थिर जलाशय मे आत्ममणि को देखना है। उपशम भाव से अनुष्ठित व्रतों तथा तप से संयमभाव को प्राप्त करना है[3]। इसी की विधिपूर्वक सगति त्यागमय जीवन मे निहित है।

---

१. 'यत् सुख वीतरागस्य मुने. प्रशमपूर्वकम्।'
न तस्यानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः॥'

२. 'मण करहो धावतो णाणवरत्ताइ जेहिं णहु बद्धो।
ते पुरिसा ससारे हिंडति दुहाइ भुजता॥' –योगसार, १.

३ 'उपसम तव भावजुदो णाणी सो भावसंजुदो होइ।
णाणी कसायवसगो असजदो होइ सो ताव॥' –आ० कुन्दकुन्द

मनोविज्ञान – मीमांसा

मन अर्थात् मानवसज्ञा को साभिप्राय करनेवाला मननात्मक उपादान, मनुष्य का सबसे बडा मित्र और शत्रु। राग परिणत होकर संसार के अनन्तविषयों, कषायों और प्रपचो मे अहोरात्र निमग्न तो विरक्त होने पर एक झटके के साथ आत्मा के स्वरूप चिन्तन मे तन्मय – तल्लीन हो जानेवाला। राग-विराग के उभयक्षेत्रो मे विना किसी बाधा के सचार करनेवाला, दशो दिशाओं मे अप्रतिहतगति किसी सम्राट् के समान। एक समय भर्तृहरि से जिसने शृंगार शतक लिखवाया, दूसरे समय 'धिक् ता च त च मदनं च इमां च मांच' – के उद्गारों के साथ उसी ने उन्हे अरण्यगामी बना दिया। एक ऐसा निरंकुश गजेन्द्र, जो अपनी इच्छा से कमलनाल के समान सयम का अपहरण कर सकता है और अच्छाइयों को अम्बारी लगाकर चले तो मनुष्य को उच्चतम सम्मानभूमि पर पहुँचा सकता है। ऐसा दुर्धर्ष है यह मन जो आँखो से देखता है, कानो से सुनता है तथा सम्पूर्ण इन्द्रियो से अपना इच्छित प्रयोजन सिद्ध कर लेता है। इसीलिए तो इच्छा को मनीषा – मन की एषणा कहा जाता है। 'मनो हि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणाम् प्रवर्तने' इन्द्रियो की प्रवृत्ति मे मन ही हेतु है। जब इसे गीत अच्छा लगता है तब यह कानो की खिड़की खोलकर उसे सुनता है, किसी रूपसौन्दर्य को देखना चाहता है तो नेत्रो से उसे पी लेता है, किसी आस्वाद्य वस्तु की रसानुभूति चाहता है तो उसे रसनेन्द्रिय के अधीन कर देता है – और इस प्रकार इन्द्रियों के माध्यम से अरूप होकर भी आस्वादन करता है। जब मनुष्य स्व-पर के भेदज्ञान से संसार-विषयो से उदासीन, विरक्त अथ च वितृष्ण हो जाता है तब यही मन शृंगार-अवस्था के षड्यन्त्रों का मुखबिर बन जाता है और वैराग्य के पक्ष मे होकर विरुद्धसाक्षी देने लगता है। एक समय जो नारीमुख को पद्मगन्धी बताता था, आज दाँतरूप हड्डियो का निवास कहता है। पूर्वावस्था मे जो शृंगार की बाते कान खोलकर सुनता था और रूप को घूर-घूरकर देखता था, आज कहता है – 'अन्धवत् पश्य रूपाणि शृणु शब्दमकर्णवत्' – रूप की ओर अन्धे के समान देखो और पदनूपुरो की झंकार को बधिर के समान सुनो। भला अन्धा क्या देखेगा और बिकर्ण क्या सुनेगा ? पर, बात मन की मुखबिरी की थी। इस प्रकार किसी

भी बात से साफ मुकर जाना मन के बूते का बात है। किन्तु मन की मीमासा इतने पर ही समाप्त नही होती। इसे 'चंचल' कह देने भर से इसकी सामर्थ्यों से इन्कार नही किया जा सकता। क्योकि—इसीने तीर्थंकर बनाये और इसीने चक्रवर्तियो के मस्तक पर मुकुट रखे। संसारपक्ष मे मानव की प्रगति का जितना इतिहास है, सब मन का क्रीडाविलास है और निवृत्तिमार्ग की जितनी सीढियां है, उन पर मार्गदर्शक के रूप मे मन के पदचिह्न ही अग्रगामी है। आवश्यकता तो इस बात की है कि मनुष्य मन की बहुमुखविकीर्ण शक्तियो को किसी एक कार्य के लिए केन्द्रबिन्दु पर एकत्रित करले। यदि अनेक-व्यवसायो मे बिखर कर मन्दशक्ति हुए मन को कोई एकाग्र कर लेता है तो वह करिष्यमाण अथवा विधीयमान कार्य की आधी बाधाओ (रुकावटो) को पार कर लेता है। क्योकि कार्य के दो भाग (खण्ड) होते हैं—एक दत्तचित्तता (मन की एकाग्रता) और दूसरा आवश्यक-अपेक्षित श्रम। इनमे श्रम से अधिक दत्तचित्तता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे समझाने के लिए आतशी शीशा (आग्नेयकाच) का उदाहरण उपयुक्त होगा। सूर्य की किरणो मे दाहक शक्ति विद्यमान है, इस बात को जानकर जब कोई उस आग्नेयकाच पर उन किरणो को एकत्र करता है और उसकी तीक्ष्ण किरणो के नीचे वस्त्र रख देता है तो उनसे अग्नि उत्पन्न हो जाती है। किरणे जबतक उस आग्नेयकाच पर केन्द्रित नही की जाती, तबतक अग्निमय होने पर भी अग्नि उत्पन्न नही कर पाती क्योकि किसी सामर्थ्य की सम्पन्नता उसकी एकाग्रता पर निर्भर है। जो लोग ससार मे किसी उद्योग, व्यवसाय, कला, शिल्प, काव्य अथवा शास्त्रलेखन मे कृतकाम या यशस्वी हुए है, हो रहे हैं, उनके लिए दिन-रात के चौबीस घण्टे कभी बड (विस्तारवाले) नही हुए और जो अकर्मण्य, आलसी है, उनके लिए उनमे न्यूनता नही आई। फिर भी परिणामस्वरूप उद्यमियो ने अपने ससार को और अधिक सौन्दर्य, शालीनता, सुख-सुविधाए एव विकास दिये और आलसी के संसार का क्षेत्रफल पहले था, उससे भी सिकुड गया। इस मन ने ही एक का नाम मनस्वी, महामना के नाम से प्रसिद्ध कर दिया और दूसरे को मन शक्तियो का परिचय भी नही मिल पाया। इसीलिए जिन्होने यह जान लिया कि मन को सुनियोजित कार्य पर लगाकर उससे सिद्धियो का दोहन किया जा सकता है, उन्हे ही सर्वार्थचिन्तामणि की उपलब्धि हुई है। जो मन के भृत्य है, वे सदा पराजय और ठोकरे खाते है किन्तु जिन्होने मन को भृत्य बना लिया है, मन उन्हे कन्धों पर उठाये घूमता है। इस रूप मे जय और पराजय मन से पराजित अथवा मन पर विजय के नामान्तर है।

'मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम्' दृढ मनोबल रखनेवाला जब कार्य करने के लिए प्रवृत्तिमान् होता है तब मार्ग मे आनेवाले सुखों, दुःखों की गणना नही करता। सत्य तो यह है कि जिन्हे नाचना होता है वे वन की ककरीली, पथरीली भूमि पर भी नाच लेते है और जिन्हे नाचना नही आता, वे प्रशस्त, समतल अगण को भी वक्र (टेढ़ा) बताते हैं। कार्य करने की जिन्हे धुन होती है वे अपना मार्ग बना लेते है। 'जहाँ चाह वहाँ राह' – इस उक्ति पर उन्हे विश्वास होता है किन्तु हीनमनोबल व्यक्ति तो अग्रगामियों द्वारा क्षुण्ण पथ पर भी नही चल पाते। क्योकि उन्हे अपने मनोवल का पता नही होता। वे क्या कर सकते है, कितना सामर्थ्य उनमे विद्यमान है, इतना वे नही जानते। परिणाम यह होता है कि अपनी अशक्ति पर दीर्घ निःश्वास खीचते उनका जीवन चुक जाता है और वे कुछ भी नही कर पाते। उनके 'करिष्यामि' के सकल्प 'मरिष्यामि' के कफन मे लिपटकर मुर्दा हो जाते है। अतएव आत्मकल्याण के लिए, आत्मविज्ञान के लिए, ऐहिक और आमुष्मिक सुख के लिए मन को जानना परम आवश्यक है। मन को जाननेवाला ससार मे एक सर्वोत्तम मित्र को अपने पास रखता है, कभी अकेलापन अनुभव नही करता। विपत्तियो मे उसे एक ऐसा उत्साहप्रद मित्र हमेशा प्राप्त रहता है, जिसके सहारे उसे आपदाओ की घोरता विकल नही कर पाती। मन को अपने सहचर के रूप मे पाकर मनुष्य साहस और जोखिम के कार्यो मे निःशक कूद पडता है। उसे सफलताएं मिलने लगती है। एक सूक्ति है – 'क्रियासिद्धि सत्वे वसति महता नोपकरणे' – सफल होने मे मनुष्य के मानस सकल्पो की दुर्धर्षता ही हेतु है। उपकरणो की विपुलता से क्या होता है? मन शक्ति ही व्यक्ति को असम्भाव्यो के अक्षुण्ण मार्ग पर सफल साहसिक अभियन्ता होने का आमत्रण देती है। मन के सुदृढ सकल्प-बल ही कार्यसिद्धि मे सहायक हैं। यह मन मनुष्य का सत्व है, प्राण है, बल है और पराक्रम है। जिसने मन को अनुरूप कार्यो मे नियुक्त कर दिया, वही कर्मठ कहलाने का अधिकारी है। अपने मनोबल को न जानने से लोग कायरता का शिकार होते रहते है। उनमे विश्वास, स्थिरता, साहस, लगन और विघ्न-बाधाओ से जूझने की शक्ति नही होती। उनकी आकृति पर दीनता स्पष्ट परिलक्षित होती है। आत्मविश्वास की चमक से शून्य उनकी रुग्ण तसवीर सदैव पराजयो के घेरे में कैद रहती है। उसे अल्प से अल्प कार्य भी भार अथ च असाध्य प्रतीत होता है। एक बार एक व्यक्ति किसी रुई धुननेवाली मिल मे गया। वहाँ मैदान में रुई का ढेर लगा था, वह पहाड़-सा दिखायी देता था। वह व्यक्ति इतनी रुई का निचय देखकर चिल्लाने लगा – कौन

धुनेगा ? कौन बुनेगा ? परिणामस्वरूप वह पागल हो गया। अनेक चिकित्साओं के बाद भी उसका उन्मादरोग शान्त नही हुआ। अन्ततः उसे किसी उत्तम मानसिक चिकित्सक के समीप ले जाया गया। उसने सब घटना सुनकर बाजार से कुछ रुपयो की रुई मंगाई और उसे ढेर कर दिया। वह पुनः 'कौन धुनेगा ? कौन बुनेगा ?' चिल्लाने लगा। डॉक्टर ने उस ढेर में आग लगा दी। रोगी देखता रहा और सारी रुई जल चुकने पर दीर्घ श्वास खीचकर बोला – 'चलो, छुट्टी हुई।' उसी समय उसका उन्मादरोग चला गया। ऐसे मनोदौर्बल्य के आखेट रोगियो का यह एक ही दृष्टान्त नही है। बहुत है, जो अपनी सुप्त शक्तियो को न जानने से पराजित होते रहते है। सफलता का प्रथम सूत्र मन को जानना है। जो किसी कार्य को आरम्भ करने से पहले मनःशक्ति की तुला पर तौलते है और अपनी क्षमताओं की सीमा का अनुमान लगाने पर ही कार्यप्रवृत्त होते हैं उन्हे कृतकार्य होते कठिनता नही होती। 'न हि सर्षपवाही पिपीलिक. सुमेरु वोढु क्षम:' सरसो के कण उठानेवाली चिऊटी सुमेरु को नही उठा सकती। सामर्थ्य से बहिर्भूत कार्य नहीं किया जा सकता।

आत्मिक शक्तियो को बलवान् बनाने के लिए मनोनिग्रह परम आवश्यक है। जिस प्रकार सुप्रयुक्त मत्र से विषधर सर्प को वश मे किया जाता है उसी प्रकार ज्ञानभावना से तथा नित्य अभ्यास से मन को वश मे करना चाहिए। जब ज्ञानसमुदय होगा तो मन अशुभ परिणति का परित्याग करने लगेगा और नियमपूर्वक इसे शुभ परिणति मे नियोजित रखने से आत्मा के विमल स्वरूप की अधिकाधिक प्राप्ति सम्भव होगी[1]। तत्वसार का अभिमत है कि किसी जलाशय मे रत्न पडा हुआ है किन्तु यदि उसका जल पवनवेग से तरगाकुल है तो तल मे विद्यमान रत्न दिखायी नही देगा। यही आत्मा के विषय मे कहा जा सकता है। जबतक मन की चचलता शान्त नही होती, आत्मा का दर्शन होना कठिन है। किसी राजद्वार पर जबतक प्रहरी चक्रमण करता रहेगा, कोई उसकी आँख बचाकर अन्दर प्रवेश कैसे कर पाएगा। अत. मनरूपी जल जब तरंगरहित, स्थिर होगा तभी उस आत्ममणि को देखने का सामर्थ्य अधिगत हो सकेगा[2]। मिथ्यात्व

---

१. 'ज्ञानेन शम्यते दुष्ट नित्याभ्यस्तेन मानसम्।
मत्रेण शम्यते कि न सुप्रयुक्तेन पन्नग: ॥' – मूलाराधनादर्पण, ७६२.

२. 'सरसलिले थिरभूये णिरुणिपडिय पि जह रयण।
मणसलिले थिरभूये दीसह अप्पा तहा विमले ॥' – तत्त्वसार, ४१.

तथा कषाय मन को अस्थिर रखते हैं, जब इनका उपशम हो जाता है तब आत्म-स्वरूप मे अधिक समय पर्यन्त स्थित रहना सम्भव हो जाता है। वास्तव मे प्राणी को मनःशुद्धि से ही कलंकों से छुटकारा मिलता है[1]। मन मे मिथ्यात्व है, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री-पुम्-नपुसकवेद, तथा प्रमादादि अनादिकाल से भरे हुए हैं, इन कलकों के रहते मनःशुद्धि अकल्पनीय है। जब आत्मदर्शन की उत्कट अभिलाषा प्रबुद्ध होती है तब मन को रागद्वेष-रहित करना प्रथम आवश्यक होता है तभी स्वार्थसिद्धि होती है। मनोविकारों की शान्ति से समता प्राप्त होकर आत्माधिगम सुलभ हो जाता है। प्रबोधसार मे इसीका निरूपण करते हुए बताया गया है कि – 'शुद्ध पारद के सम्मिश्रण से लोह रसायन हो जाता है और परिणामविशुद्ध हुआ मन अनन्त धर्म की प्राप्ति मे समर्थ होता है[2]। इसका यह आशय है कि क्रोध, मान, माया आदि विकार मन के विभाव है, स्वभाव नही और स्वभावत. मन कलकयुक्त नही है अपितु ससर्गज दोषो से दूषित प्रतीत होता है उस आकाश से टपकती हुई जलविन्दु के समान, जो धूलि के सम्पर्क से मलिन हो जाती है। वस्तुत. मेघ के उदर से निकलते समय उसमे मालिन्य नही था किन्तु 'भूमि परत भा डाबर पानी' भूमि पर गिरते ही उसमे धूलि और अन्य मलिनताओ का मिश्रण हो गया। यह मलिनता पानी की अपनी नही है। अत. जो मनुष्य रातदिन साबुन का प्रयोग कर वस्त्रो को चमकाता–उजलाता रहता है और अपने देह को उपलेपन-सस्कारो से अभिरूपता प्रदान करता रहता है, यदि विवेक की आँखो से अपने मन का सम्मार्जन नही कर सके तो यह उसके लिए महान् अलाभ की बात होगी। नश्वर शरीर और जीर्ण होनेवाले वस्त्रततुओ का उज्ज्वलीकरण तो मूल त्यागकर तुषग्रहण की प्रवृत्ति कही जाएगी। इसी को कहते है मूर्च्छा, वास्तविकता से अपरिचय और अवास्तव से आसक्ति। 'मूर्च्छा परिग्रहा:' सूत्र का यही अर्थ है अन्यथा वे कीट, भृग, पशु, पक्षी जो किसी प्रकार का परिग्रह नही रखते अपरिग्रही और मूर्च्छारहित माने जाएगे। वह दरिद्र भी जिसके पास मकान, दूकान, जमी-जायदाद कुछ नही है और लगोटी (कौपीन) के अभाव से पीड़ित है, त्यागी कहा जाएगा। किन्तु वास्तव मे वह अपने अभाव से मन ही मन नितान्त

---

१ 'कलकविलय. साक्षान् मन शुद्धचैव देहिनाम्।
तस्मिन्नविषयीभूते स्वार्थसिद्धिस्तदाहृता ॥' – ज्ञानार्णव, ७

२. 'भावै शुद्धैः मन· साधु धर्मानन्त्याय सम्मतम्।
पराशुद्धिमवाप्नोति लोह विद्ध रसैरिव ॥' – प्रबोधसार, ३२.

सन्तप्त है और 'पुत्रा मे कास्यपात्रे बहुक्षीरमौदनं भुंजीरन्' – मेरे पुत्र मूल्यवान थालो में दूध-भात खाए – ऐसे अभिलाषाओं के मन्त्रजाप करता रहता है। जबतक मन मे राग है, तबतक अनुपलब्धि या अभाव को त्याग अथवा अमूर्च्छा नहीं कहा जा सकता। ऐसे अपने पापो के उदय से दरिद्र मनुष्य तो बहुत हैं किन्तु जो अभ्यन्तर भावना से सग का 'मूर्च्छा का त्याग करे, ऐसा जीव दुर्लभ है'[१]। ऐसा त्यागमय मनस्वी जीवन स्वेच्छा से विषयपराङ्मुख हुए त्यागियो का है। उन्होने मन को इन्द्रियो से नि सग बनाया है, मूर्च्छा का त्याग किया है, बाहर-भीतर की ग्रन्थियो का निर्मोचन किया है। जिस दुर्वार मार को मारने मे अमर भी असमर्थ है, उसे मारकर 'मारजित्' पद प्राप्त किया है। तभी तो 'मारचो काम-खवीस को ऐसे श्रीगुरुराज' कहकर ऐसे त्याग-तपोधन गुरुओ की वन्दना के स्तोत्र लिखे गये है।

मन प्रेरणा और शक्ति का स्रोत है। मन लगाकर किये हुए कार्यों मे जो सुन्दरता आती है, जिस पूर्णता तथा कलात्मकता के दर्शन होते है, बेमन से किये हुए कार्यो मे उसके दर्शन नही होते। एतावता मनोयोग सुन्दरता, पूर्णता तथा कलात्मकता का आविर्भाविक है। उत्तमता से कार्य निभानेवाले व्यक्ति तन, मन और जीवन की शपथ लेते है। यह मन कल्पवृक्ष का प्रतीकात्मक नाम है। मानस-सकल्प ही कल्पवृक्ष है। मनोविज्ञानवेत्ता किमी की आकृति को देखकर उसके अन्तर्मन की स्थिति एव गहराई को माप लेते है। क्षत्रचूडामणिकार ने कहा है कि 'वक्त्र वक्ति हि मानसम्' मुख के भावविकार मन को कह देते है। 'मुख मस्तिष्क का परिचायक है' इस आशय की एक प्रसिद्ध अग्रेजी कहावत है। जिन्होने मानसशास्त्र का अध्ययन किया है वे व्यक्ति की गति मे, स्थिति से, सम्भाषण से, वार्तालाप मे प्रयुक्त शब्दावली से, व्यवहार में लाये गये अशन-वसन-उपकरणो से तथा मौन से भी उस-उस व्यक्ति का परिचय प्राप्त कर लेते है। भारतीय लक्षण-शास्त्रो मे व्यक्तियो के शारीरिक अवयवो, अगप्रत्यगो और हीन अथवा अधिकागो का अध्ययन करते हुए उनकी फलश्रुति का निरूपण किया गया है। यह निरूपण कर्मफलसिद्धान्त का अविरोधी है। पूर्वभव के कर्म-परिणाम से मनुष्य अथवा अन्य योनि प्राप्त होती है और उसमे भी उत्तमत्व तथा अधमत्व कर्मपरिणाम से प्राप्त होता है। अगो का, उपागो का पूर्ण होना उसके सुकर्मों की घोषणा है।

---

१. 'बाह्यग्रन्थिविहीना दरिद्रमनुजा स्वपापतः सन्ति।
किन्त्वभ्यन्तरसगत्यागी लोकेषु दुर्लभो जीव ॥'

भगवान् वर्द्धमान महावीर के शारीरिक सौन्दर्य तथा पूर्णांगिता का वर्णन करते हुए, उन्हें उन २ शरीरलक्षणों से महापुरुष बताया गया था। हिन्दी में एक आभाणक है कि 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' – जो वृक्ष श्रेष्ठ फलवाले होते हैं, उनके पत्ते चिकने होते है – पत्तो के कोमल होने तथा मसृणता से अमुक वृक्ष उच्चजातिमान् फल देनेवाला है, यह ज्ञात हो जाता है। वैसे भी किसी सुन्दर फल, पुष्प अथवा मनुष्य को देखकर चित्त प्रसन्न होता है और कुरूप तथा हीनाधिकाग के दर्शन से सकोच, ग्लानि तथा विषाद अनुभव करता है। यहां मानसशास्त्र के अनुसार यह विचारणीय है कि प्रकृति द्वारा अथवा किसी आघात-विशेष से, दुर्घटनाग्रस्त होने से या जन्म से जो व्यक्ति अपने किसी अंग को (आँख, हाथ-पॉव, इत्यादि को) खो बैठते है, उनमे किसी सर्वागपूर्ण व्यक्ति के समक्ष हीनभावना का उदय होना स्वाभाविक हो जाता है। अन्धा व्यक्ति जब लकड़ी से टटोलकर मार्ग देखता है, उसके मन मे अपने प्रति घृणा, करुणा और हीनता के भाव उठते है और जब कोई उसके अन्धत्व पर तरस खाता हुआ उससे आगे निकल जाता है तब उसके मन मे उस नेत्रवान् के प्रति ईर्ष्या, क्रोध और प्रतिकार के भाव उठते है। अवचेतन मन पर ये घात-प्रतिघात निरन्तर होते रहते है और वह जान भी नही पाता। धीरे २ उसका मन अपनी इन असमर्थताओ और कुण्ठाओं से जर्जर हो जाता है। यही बात अन्य हीनअंगो वाले के साथ चरितार्थ होती है। अन्धा व्यक्ति नितान्त असहाय होकर भिक्षाजीवी हो जाता है क्योकि लज्जा की अनुभूति कराने के प्रत्यक्ष इन्द्रियोपकरण नेत्र न होने से धीरे २ उसकी मानसिक लज्जा मृत हो जाती हे किन्तु यह सिद्धान्त काणाक्ष व्यक्ति पर लागू नही होता। क्योकि यद्यपि वह नेत्रेन्द्रिय के अर्धभाग से हीन हो बैठता है तथापि उसमे अवलोकनशक्ति विद्यमान रहती है जिसके द्वारा वह अन्धे जितना असमर्थ नही हो जाता। अत' जब वह द्विनेत्र व्यक्तियो को देखता है तो अपनी एक आँख का फूला उसे प्राणों तक चुभता लगता है। फलत. एक हीनभावना के साथ २ उसमे कुछ कुटिलता, क्रूरता, वक्रता और वचकता जैसे अवगुणो का शनै. २ प्रादुर्भाव होने लगता है। ये दोष मानस मे चुभे हुए अपने हीनागो के परिताप से उत्पन्न हो जाते है और ऐसे, अपवाद को छोड़कर, शत २ व्यक्तियो के अध्ययन से प्रसूत निष्कर्षों से लक्षणशास्त्रो की रचना की जाती है। 'युक्तिकल्पतरु' मे राजदूत के लक्षणप्रसग मे लिखा है – 'वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते' – सुन्दर, सुडौल शरीरवाला, निर्भय तथा वाक्पटु राजदूत प्रशसनीय है। जिस पुरुष के नेत्रो का स्वरूप मधु-पिगल हो वह श्रीमान् होता है। ऐसे मधु-पिंगल नेत्र

प्राय: राजाओं के होते हैं[१]। जिसके नेत्र कर्कश मधु पिंगल हों, वह कुलान्तक होता है। महाभारतकार ने धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन के नेत्रों का कर्कश मधुपिंगल वर्णन किया है। जिनका स्वर मेघगम्भीर हो, चक्रवाक - क्रौंच अथवा डूबते हुए कुम्भ से उठते नाद के समान हो, वे ऊंचे अधिकारी होते हैं। इसके विपरीत जिनका स्वर गर्दभसदृश हो, फटे बास के समान जर्जर हो, वे दरिद्र तथा अविश्वसनीय होते हैं। कूर्मपृष्ठ के समान उन्नतचरण विशिष्ट व्यक्तियों के होते है। जिन व्यक्तियो के हाथ, पैर, कान, शिर, स्कन्ध, वक्ष:स्थल और भाल विशाल होते हैं, वे लोक-पूजित पुरुष होते है[२]। इत्यादि वर्णन, जो लक्षणशास्त्रो मे दिगा गया है, वह लक्षणविदो के अध्ययन का फल है, निष्कर्ष है। प्राचीन भारत मे इस प्रकार की शोध करनेवाले विद्वान् होते थे, जिनके ग्रन्थो को परिहास अथवा उपेक्षा से नही देखा जा सकता। आज 'थीसिस' लिखने का जो प्रकार है, उससे कही अधिक सारगर्भ यह प्राचीन अध्यवसाय था। किसी उत्तरदायी पद पर नियुक्त करते समय व्यक्ति के शास्त्रीय ज्ञान के साथ २ उसके व्यक्तित्व को भी ध्यान मे रखा जाता था। दृढ़, ऊंची काठीवाले तथा श्यामवर्ण सेनापति शत्रुओ के लिए काल प्रतीत होते थे। सुन्दर, गौरवर्ण, स्मितमुख, विचारवान् वैद्य के दर्शन से रोगी का आधा रोग स्वत. दूर हो जाता है। यदि शास्त्रकारो ने 'मूर्तमिव मोक्षमार्गमवाग्-विसर्गं वपुषा निरूपयन्त' लिखा तो इसमे रहस्य यही है कि तपस्त्याग-परायण मुनिराज की आकृति पर मनोवाक्काय-त्रियोगसिद्धिजन्य विशिष्ट वीतराग भाव इतने प्रस्फुरित हो उठते हैं कि दर्शन करने मात्र से मन पुलकायमान हो उठता है और जिस विषयस्वरूप को अन्य सामान्य लोग वाणी को श्रम देकर भी समझा नही सकते, उसे वे विना बोले मुद्रामात्र से प्रकट कर देते है। 'वक्त्र वक्ति हि मानसम्' - का ही यह चमत्कार है। जब मनुष्य अपने उत्कट तप से, मनोबल से तथा एकाग्र ध्यानसामायिकसमाधिबल से आकृति पर अन्तरात्मा के सूक्ष्म भावो को यथेच्छ रेखाकित करने मे समर्थ हो जाता है, तब उसे सिद्धपरिश्रम अथवा अपेक्षित उद्देश्य मे सिद्धिप्राप्त कहना चाहिए। क्योकि मनुष्य के सभी प्रयत्न साधना से आरम्भ होते है और सिद्धि मे समाप्त

---

१ 'न श्रीस्त्यजति सर्वत्र पुरुष मधुपिंगलम्।
आपिंगलाक्षा राजान. सर्वभोगसमन्विता ॥' - भविष्यपुराण.

२. 'पृथुपाणिः पृथुपादः पृथुकर्णः पृथुशिरा. पृथुस्कन्ध.।
पृथुवक्षा पृथुजठरः पृथुमाल' पूजित. पुरुषः ॥' - सामुद्रतिलक.

होते हैं। यात्रा का पर्यवसान अभीष्ट स्थान पर पहुंचने में है। निरुद्देश्य इधर-उधर घूमने को यात्रा अथवा साधना नहीं कहते। साधना में निर्माण का भाव है। अपेक्षित कागज, पुस्तक, दवात तथा कलम – उपकरणों को लेकर जब बालक स्वर-व्यंजन सीखने लगता है तब उसके श्रम का भविष्य उसकी विज्ञता में बदलता है। यही परिणाम उसके साध्यप्रयत्नों, अध्ययनादि की सिद्धि है। यह सिद्धि मनोबल से प्राप्त होती है। प्रसमिद्ध मनोबल मे पावक का तेज प्रज्वलित हो जाता है, विघ्न-बाधाओ के कान्तारो को दग्ध करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है और निर्माण के सप्तस्वर ताल देने लगते हैं। 'कार्यं वा साधयेयं देहं वा पातयेयम्' या तो कार्यसिद्धि प्राप्त करू' या प्राणो का विसर्जन कर दू' – यह मनस्वी की भावना होती है। कार्यसिद्धि के लिए उद्यत मनस्वी दुःखों-सुखो की गणना नही करता। 'मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दु.ख न च सुखम्'। वास्तव मे दुःखों, सुखो से विचलित होनेवाले कार्यशूर नही हो सकते। 'नो रिस्क नो गेन' – जोखिम उठाये विना आगे नही बढ़ा जाता, इस उक्ति मे सत्यता है। 'इस पार या उस पार' मनस्वी को बीच का पथ स्वीकार्य नही। ऐसो को विजयश्री मिलती है। लक्ष्मी ने कहा है कि मै उनका साथ पसन्द करती हू जो उद्यमी हैं, अध्यवसायी है, आवश्यक होने पर अमृत तो अमृत, गरल के घू ट पी सकते है, जो विना सीढी के आकाश पर चढ सकते है और विना विवर के पाताल का तल देख सकते हैं। किन्तु जो आलसी है, अकर्मण्य है, उन्हे लक्ष्मी के वाहन भी नहीं पूछते। मनोबल अपने आप मे बहुत बडी शक्ति है। शक्तियो का निरूपण करते हुए भारतीय तत्त्वचिन्तको ने उसके तीन भेद बताये है – प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति और उत्साह-शक्ति। इनमे उत्साहशक्ति सर्वाधिक गरीयसी है। उत्साह मन का धर्म है। यदि उत्साह नही तो कुछ भी करने की शक्ति नही रह जाती। जिसकी हृदयपुस्तक पर खिन्नता के अक्षर नही लिखे होते, वह कभी पराजित नहीं हो सकता। मनोबली के स्वर मे धीरता और गति में सिंहपराक्रम परिलक्षित होते है। शक्ति का अक्षयस्रोत पुष्ट शरीर और धन-वैभव नही, मनोबल है। प्रसिद्ध है कि सिंह हाथी से लघुकाय होता है किन्तु उसमे मनोबल जिसे सत्व कहते हैं, अधिक होता है तभी वह हाथी को पराजित कर सकता है। किसी कवि ने कहा है कि – 'यदि मदोन्मत्त गजेन्द्रो के गण्डस्थल को सिंहशिशु भी विदीर्ण करने के लिए लपकता है तो यह सत्ववानो की प्रकृति है, वय मे ज्येष्ठ होना वास्तविक ज्येष्ठता नही[१]।'

१. 'सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु।
प्रकृतिरियं सत्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः॥' – भर्तृहरि, नीतिशतक.

किसी राजसभा में किसी जटिल प्रश्न पर कई दिनों से वाद-विवाद चल रहा था। बड़े-बड़े विद्वान्, वादशिरोमणि, तर्कभूषण नतमुख सोच रहे थे। तभी एक अल्पवय के व्यक्ति ने, जिसे बालक ही कहना चाहिए, वहा प्रवेश किया। यह जानकर कि वह शास्त्रार्थ में भाग लेने उपस्थित हुआ है, राजा और पण्डित-मण्डली उपहास करने लगे। बालक ने निर्भीक स्वर मे उन्हे चुनौती देते हुए कहा – 'आप क्यों हँसते हैं ? मेरी बाल्यावस्था जानकर ? किन्तु क्या हुआ यदि मै बालक हू ? मेरी सरस्वती बालिका नही है। वयस्क होने पर तो मैं तीन लोकों के वर्णन का सामर्थ्य प्राप्त कर लू गा[1]।' शारीर अवस्था मे ज्येष्ठ-कनिष्ठ होने से मानसशक्ति मे अथवा उसके विकास मे भी ज्येष्ठता या कनिष्ठता की जो कल्पना करते हैं, वे भ्रम-बाधित ही कहे जाएगे। कुछ लोग अवस्था के साथ-साथ चलते है अर्थात् जैसे-जैसे उनका शरीर बढता है, आयु: परिपक्व होती जाती है, वैसे-वैसे उनमे मानसिक विकास अधिकाधिक होता जाता है, विचार परिष्कृत एवं प्रौढ़ होते जाते हैं किन्तु कुछ लोग शारीर आयु से बड़े होकर भी अनुभवो तथा मानसिक विकास के क्षेत्र मे बौने होते है, अर्थात् उनका शरीर पचास का होता है तो मन पच्चीस का। समाज के किसी सभा-सस्थान मे बैठते है तो बालको के समान हँसते-बोलते है। विना प्रयोजन गली-मुहल्लो मे चक्कर लगाया करते है। शोक-सभाओ मे बैठते है और पान की गिलोरिया चबाते है, किसी दूल्हे की वरयात्रा मे सम्मिलित है और मुहर्रमी सूरत बनाये है। लोगो को उन पर तरस आता है और प्रत्यक्ष नही तो परोक्ष उन पर तालिया पीटते है, उन पर व्यग्य-विनोद की सभाए आयोजित करते है। उन पर कसे गये चुटकुलो से ठडी गोष्ठियो को गरमाते है। किन्तु इसके विपरीत कितने लोग झील के समान शान्त होते है और सहसा उनके अन्त.करण मे उठनेवाले हर्ष, शोक अथवा विक्षोभ की उर्मिया मुख पर परिलक्षित नही होती। सभाओ मे वृद्धजनो से अधिक उनका सम्मान किया जाता है। वे बचपन मे तरुणो जैसे, युवावस्था मे वृद्धजनो-से सम्मानित एव लोकपूजित होते है। यह उनके समुन्नत मानस का सम्मान है। कहते है – 'उन्नत मानस यस्य भाग्यं तस्य समुन्नतम्' – जिसका मन ऊचा उसका भाग्य भी ऊचा होता है।

मन का प्रभाव नितान्त वैयक्तिक नही कहा जा सकता। यह मानवसमूह मन से परिचालित है और इस प्रकार मन का प्रभुत्व व्यक्ति, समाज और राष्ट्र

१. 'राजन् ! यद्यपि बालोऽह न मे बाला सरस्वती ।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे वर्णयामि जगत्त्रयम् ॥'

तथा विश्व पर है। परस्पर में सम्पर्क करनेवाले व्यक्तियों के मन एक-दूसरे से मिलते हैं तथा अपनी विशिष्टता अथवा हीनता की छाप छोड़ते हैं। इससे एक वातावरण बनता है। उस वातावरण के परिणाम समाज के व्यक्तियो की मनोदशाओं को बताते रहते है। यदि किसी समाज में नैतिकता (मोरलिटी) का पतन दिखायी देता है तो निस्सन्देह उस समाज का मन गिरा हुआ है, मानसिक अध:पतन हो चुका है। आज संसार के राष्ट्र युद्धोपादानो के निर्माण मे लगे हुए हैं क्योंकि बाहर से शान्त प्रतीत होनेवाले, उनका मन अन्तर्भीत है और अविश्वास उनके मन:प्राण में बसा हुआ है। यह मानसिक अविश्वास उन्हे उन्मुक्त हृदय से परस्पर मे मिलने नही देता तथा भीतर ही भीतर विष घोलता रहता है। इसीलिए किसी नीतिकार ने कहा कि — ये जो पृथ्वी पर कोटि-कोटि नर चलते हुए दिखायी देते है, पृथ्वी के भार हैं और मानो चलते-फिरते मासवृक्ष है। इनके लम्बे चौड़े शरीर बोझ है और मानसिक चेष्टाए पागलो जैसी है[1]। वस्तुत. आत्म-प्रविष्ट विशुद्ध मन एक सस्था है, जो अपने सम्पर्क मे आनेवाले को भी पवित्रता से मालामाल कर देती है। 'साधु' शब्द का अर्थ प्रशस्तमानस व्यक्ति है। कोरे तन की सुन्दरता से साधुत्व नही मिलता। जब मन मे पवित्रता, सस्कारिता, उच्चाशयता, एव आत्मनिष्ठा जागृत होती है तब उसे साधु कहा जाता है। ऐसे साधुओ के चरणो मे बैठते ही मन मे पवित्रता का सचार होने लगता है। प्राचीन समय मे समाज तथा राष्ट्र का जीवनस्तर समुन्नत था और परस्पर विश्वास, स्नेह और प्रेम का वातावरण था, उसका कारण यही साधुमन था, जो सर्वत्र अपनी शुचिता को विस्तारित करता था। परिणामस्वरूप राष्ट्र का जीवन सुखी था। इस प्रकार मन की सृष्टि जागतिक जीवन को प्रभावित करती है और बडी-बड़ी क्रान्तियो को जन्म देती है। मन का स्वरूप चचल बताया गया है। 'श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्' — कहते हुए शास्त्रकारो ने इसे 'मर्कट' वानर कहा है। इस पर बुद्धि का अकुश रहने से मनुष्य सहसा उपहसनीय नही बनता। अन्यथा यह मन कभी-कभी बडे-बडे व्यक्तियों को भी लज्जा से लाल कर देता है। कहते है, एक व्यक्ति किसी गोपनीय पत्र को लिख रहा था, उसी समय पास बैठा हुआ व्यक्ति उसे पढने लगा। पत्रलेखक ने लिखना चालू रखा और लिखा 'शेष समाचार तुम्हे दूसरे किसी समय लिखूंगा, क्योंकि इस समय इस पत्र

---

१. 'विपर्यस्तमनश्चेष्टै. शिलाशकलवर्ष्मभि: ।
मांसवृक्षैरिय मूर्खैर्भाराक्रान्ता वसुन्धरा ॥'

को एक मूर्ख पढ़ रहा है।' पत्र पढ़नेवाले व्यक्ति को शर्म आई और वह मुंह फेर कर बैठ गया। इसी प्रकार की एक घटना राजा भोज से सम्बन्धित बतायी जाती है। कहते है कि भोज की दो रानिया एकान्त वार्तालाप कर रही थी। उसी समय विना पूर्वसूचना के – 'मैं राजा हू, पति हू' – ऐसा दर्प रखकर भोज उनके बीच में उपस्थित हो गये। बड़ी रानी ने 'आओ, मूर्ख!' कहकर पतिदेव का स्वागत किया। राजा उल्टे पैरों लौट आया। वह अपने प्रति प्रयुक्त 'मूर्ख' शब्द पर विचार करने लगा और मन को शान्ति देने राजसभा-भवन मे जा बैठा। वहां जो भी शूर, सामन्त, विद्वान् आते उन्हे वह 'आओ, मूर्ख' कहने लगा। लोग चकित थे कि विद्वत्शिरोमणि को आज क्या हो गया है? तभी कालिदास ने राजसभा मे प्रवेश किया। राजा ने उन्हे भी वैसा ही कहा। सुनकर कविराज ने राजा के किसी प्रच्छन्न अभिप्राय का अनुमान किया और कहा – 'हे राजन्! मै खाता हुआ मार्ग नही चलता, हँसता हुआ वार्तालाप नही करता, बीते हुए को लेकर चिन्ताग्रस्त नहीं होता, अपने द्वारा किये हुए उपकार को बहुत नही मानता और जहा दो व्यक्ति एकान्त वार्तालाप करते हो, वहाँ तीसरे के रूप मे उपस्थित नही होता, हे भोज! कौन सा कारण है कि मुझे 'मूर्ख' कहते है[1]। महाकवि का श्लोक सुनते ही राजा को अपने प्रति 'आओ, मूर्ख!' कहे जाने का रहस्य स्पष्ट हो गया। अहो! मनोविज्ञान न जानने से ही उन्हे 'मूर्ख' शब्द सुनना पडा। यह मनोविज्ञान जीवनशास्त्र है, जीने की कला सिखाता है। जो लोग बडे-बड़े उलझे हुए प्रश्नो को सुलझाने का दायित्व लेते है, वे मनोविज्ञान के प्रकाण्ड वेत्ता होते है। अवसर देखकर बोलते है। नीतिकारो ने कहा है – 'कहिए समय विचारि' – समय का विचार करके बोलना चाहिए। 'अवसरपठिता वाणी गुणगणरहितापि शोभते पुसाम्' – समय देखकर कही हुई बात कभी-कभी साधारण होने पर भी बडा काम कर जाती है। इसी प्रकार समय निकलने पर कही हुई बहुमूल्य सूक्ति भी किसी प्रयोजन को सिद्ध करने मे असफल रहती है। बारात निकल जाने के बाद ढोल पीटने से क्या लाभ! 'का बरसा जब कृषी सुखाने'–जब पानी की बाट देखते-देखते खेती सूख गई, तब बादल उठे है, ऐसी बरसा किस काम की? ये सूत्र मानसशास्त्र के ही है। 'बहुज्ञता व्युत्पत्तिरित्याचार्याः' मनुष्य को 'बहुज्ञ' होना चाहिए। केवल शास्त्रों की शुष्क फक्किकाओ के रटने से वैदुष्य नही मिलता। 'यो लोकवेदी

---

१. 'खादन्न गच्छामि हसन्न भाषे, गत न शोचामि कृत न मन्ये।
द्वाभ्या तृतीयो न भवामि राजन्, किं कारण भोज! भवामि मूर्खः॥ – भोजप्रबन्धः

वेदी स बहुवेदी' – जो लोकशास्त्र को जानता है, वह बहुत जानता है । व्यवहार के किसी भी क्षेत्र में मनोविज्ञान की अपरिहार्य आवश्यकता है । 'किं मे जनः पश्यति भावभाषिते' – मेरे भावों और भाषणों पर लोग क्या विचार रखते हैं ? यह सरल बात जो नही जानता, सफलता उसे नहीं मिलती । अनेक लोग सभाओं में बोलते हैं, लोग एक-एक कर उठने लगते हैं, आपस मे बातचीत शुरू कर देते हैं किन्तु वक्ता अपने लम्बे व्याख्यान को लघु नही करते । वे लोकमानस की अरुचि को जानकर भी बोलते रहते हैं । ऐसे लोग दया के पात्र हैं । 'टेपरेकार्ड' के यत्र उनके कण्ठ मे लगे हुए हैं, जबतक 'फीता' समाप्त नही हो जाता, चुप कैसे हो सकते है ? कहना चाहिए कि वक्तृत्वकला का मनोविज्ञान से सीधा सम्बन्ध है । किसी नीतिकार ने राजनीति को वारागना की उपमा देते हुए लिखा है कि उसके रूप पल-पल मे बदलते रहते है । 'वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा' यदि क्षण-क्षण मे परिवर्तनशील राजनीति को मानसशास्त्र के दर्पण मे नही देखा जाए तो सफलता दुर्लभ है ।

जैसे मयूरपंख वायु के अल्पस्पर्श से भी डोलायमान हो जाता है उस प्रकार यह मन विषयादि स्पर्श से चलायमान हो जाता है[१] । पीपल का पत्ता कभी स्थिर नही रहता, इसीलिए उसे 'चलपल्लव' कहते हैं । यह मन भी वैसा ही है । इसकी चचलता को रोकने के लिए इसे सर्वदा स्थिर रहनेवाले आत्महंस मे सुप्रतिष्ठ करना श्रेयस्कर है[२] । क्योकि मन की चाचल्यवृत्ति का निरोध किये विना आत्मकल्याण के मार्ग पर एक पाद भी अग्रसर नही हुआ जा सकता । जो मोक्षगामी हुए है, उन्होने प्रथम मन को रागादि परिणति से मुक्त किया है तदनन्तर ही वे मोक्ष प्राप्त कर सके है । जब बहिरग तथा अन्तरग मोह, अज्ञान एवं कषाय की निवृत्ति हो जाती है, तब मन स्थिर होता है, वश मे आता है । जब स्थिरता प्राप्त होती है, तब ध्यान-समाधि मे प्रवृत्ति होती है[३] । अत कर्मबन्ध का क्षय करने के लिए मन को विभावावस्था से स्वभावावस्था की ओर लौटाना आवश्यक है । कषायो से तथा इन्द्रियो के सम्पर्क से व्याकुल हुआ मन बार-बार भवचंक्रमण कराता है । अत. मन से हुए कर्मबन्धो को प्रबल पुरुषार्थ के उदय से मन द्वारा ही क्षय कर

---

१. 'वातान्त पिच्छलववच्चेतश्चलति चञ्चलम्' – योगवासिष्ठ १६।१

२. 'निर्व्यापारे मनोहंसे पुंहसे सर्वदा स्थिरे ।
बोधहंसः प्रवर्तेत विश्वत्रयसरोवरे ।।'–

३. 'बहिरन्तस्तमोवातैरस्पन्द दीपवन् मनः ।
यस्य स्याद्वीतमोहस्य स ध्यान ध्यातुमर्हति ।।' – महापुराण, २१।१६

जीव मोक्षगामी होता है[1]। इसी आशय का निरूपण करते हुए 'महापुराण' में आचार्य जिनसेन ने कहा है कि– 'ज्ञानदर्शनात्मक उपयोग की विशुद्धि से रागद्वेष का नाश होता है और संवरपूर्वक निर्जरा होती है। ये रागद्वेष ही कर्मबन्ध के हेतु हैं और मन की विभावपरिणति से उदय मे आते हैं। इस प्रकार कर्मबन्ध-निरसन करने पर निःसन्देह मुक्ति हो जाती है[2]। मन के विषय मे लौकिक विज्ञान से परे यह आत्मविज्ञान प्राप्त करना ही उसकी वास्तविक उपलब्धि है। क्योंकि मन के वशीकरण, समुन्नयन तथा आत्मप्रतिष्ठ करने का यावत् प्रयत्न कर्मनिर्जरा है, मोक्षप्राप्ति है। ससार मे विचरण करनेवालो के लिए जितना वक्तव्य दिया गया है, वह लौकिक अपेक्षा से है। इसके परिज्ञान का उत्तम तथा वास्तविक उपयोग तो आत्मोपलब्धि ही है। कहते है – 'तस्मिन् सिद्धे कृते साक्षात् स्वार्थसिद्धिर्भवेद ध्रुवम्'—

---

१. 'चित्तेन जनित कर्म चित्तेन परिशुद्ध्यते।'–

२ 'उपयोगविशुद्धौ च बन्धहेतूनुदस्यन ।
सवरो निर्जरा चैव ततो मुक्तिरसशय ।।'— महापुराण, २१।१९

चारित्र विना मुक्ति नहीं

मुक्ति शब्द का अर्थ है मोक्ष, बन्धनों का विगलन, निर्बन्ध होना, छुटकारा। कौन निर्बन्ध होना नही चाहता और किसे छुटकारा अथवा स्वतंत्रता प्रिय नही लगती ? अत: कहा जा सकता है कि मुक्ति सर्वप्रिय विषय है और इसकी प्राप्ति परमानन्दप्रद है। किन्तु प्रिय होने मात्र से प्रियत्वयुक्त उस वस्तु की प्राप्ति नही हो जाती। ज्ञान और प्राप्ति मे यही अन्तर है। ससार के कोटि-कोटि जन अनेक विषयो, वस्तुओं का ज्ञान रखते है। शिर के ऊपर से अभी-अभी उड़कर गई वस्तु को वे जानते है कि वह वायुयान है परन्तु जो उसमे बैठकर उड़ रहे है उन्होंने पुरुषार्थ कर उसमे अपना स्थान आरक्षित करा लिया है और जो भी उसमे आसीन होने के लिए उत्सुक है, उसे यथाविधि 'सीट बुक' कराने का उपक्रम करना होगा। नही तो गावो, नगरो और मैदानो के ऊपर से वायुयान उडते रहेगे, सदिया बीत जाएगी, उनकी दौडती हुई छाया को पकडने का निष्फल प्रयत्न करते और उनकी गूंज को पवन मे तैरते हुए सुनते। उनकी उडान की शताब्दिया, उन इच्छावान् परन्तु प्रयत्नहीनो के एक जन्म से दूसरे जन्मो मे बदल जाएगी, बदलती जाएंगी और विना पुरुषार्थ किये उसका फासला (अन्तर) कभी कम नही होगा। नयी पीढी के बालक पुराने खण्डहर होकर सो जाएगे और मिट्टी नये, चिरनये निर्माण चिनती रहेगी। एक पख से पक्षी उड नही सकता और चारित्र विना ज्ञान और दर्शन–रथ का चक्र घूम नही सकता। रथ के अरो मे गति लाने के लिए स्नेह चुपडना होगा और निर्बन्धन होने के संकल्प साधने के लिए परम पुरुषार्थ करना होगा। चारित्र, सम्यक्चारित्र ही वह परम पुरुषार्थ है जिसका 'परमत्व' प्रत्येक के वश मे नहीं। यों लोग है बडे वीर, धीर और शौर्य को साकार करनेवाले परन्तु अपने शील, संयम, तप, त्याग के अनेक प्रदेशो पर एकनाम आधिपत्य करने-वाले चारित्ररूप विकट भट को वशीभूत करनेवाले कोई विरले ही मिल पाते हैं। किसी सूक्तिकार ने कहा है कि 'मदोन्मत्त हाथियो का कुम्भस्थल रगड़ देनेवाले शूर मिल सकते है, प्रचण्ड मृगराज सिह की अयाल खीचकर उसके दांतों की अगुलिस्पर्श से गणना करनेवाले भी सुने है किन्तु कुपित हुए मनोभव–कामदेव के इन्द्रियक्षोभकर व्यापार को पराजित करनेवाले बड़ी कठिनाई से मिलते है।'

और यह कोई अतिरंजित कथ्य नही है, सत्य है। कामिनी, कांचन, परिग्रह, मोह, ससार का आपातरमणीयरूप, विषयोपभोगों के बहिरग माधुर्य – बलवान् को भी धक्का देकर गिरा देते है। इस रूप में सम्यक्चारित्रपालन तीक्ष्ण खड्ग की धारा है जिस पर सन्तुलन रखकर चलना किसी कठोरसाधनाओं में पारगामी के बूते की बात है। वैसे दो खाट चौड़े परकोटों पर घोडा दौड़ानेवाले बहुत मिल जाते हैं। वे भी खडी दीवार पर दौड सकने की अपनी विशिष्टता की डीग हांकते है किन्तु हमें उनसे वाद नही करना है; वे यथेच्छ दौडा करे।

आध्यात्मिक सम्पदा से सम्पन्न होने की अभिलाषा से धर्मरुचि जाग्रत् होती है। धर्मरुचिमान् व्यक्ति धर्म के व्यावहारिक भेदो अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्म, अपरिग्रह, क्षमा, आर्जव, मार्दव इत्यादि को जीवन मे उतारने की चेष्टा करता है और अभ्यासपरायण रहकर धीरे-धीरे व्रती हो जाता है। व्रतो का नियम-निष्ठा से पालन, उसमे शुचिता, सम्यक्त्व और आत्मोद्धार-भावना को उत्कट करने मे सहायता करता है। इस प्रकार धर्म को अग्रगामी बनाकर आहार, विहार, शयन, आसन, मौन, भाषण आदि समस्त क्रियाकलापो का निर्वहण उसे चारित्र के नित्य समीप करता रहता है। चारित्र का बहिरग व्यवहाररूप और अन्तरग निश्चयपरक है। इस सम्यक्चारित्र की उपलब्धि से पूर्व मनुष्य प्रलोभन के प्रहरियो मे रहता है, भटकावो के अरण्यो मे विचरता है, आसक्तियो के नित्यनवीन आकार खोजता है, रति के लिए नये आलम्बनो का अन्वेषण करता है। अपने जन्मवर्षों की जयन्तिया मनाता है, बधाइया लेता है और रोग को 'पिपरमेण्ट' की गोलियां चूसकर दूर करने की कोशिश करता है। उसके आसपास के लोग कफन ओढकर जाते रहते है और वह हाय-तोबा के शोर-सराबे मे हास्य-विनोद की फुलझड़ियां बीनता रहता है। श्मशान से दूर होकर निकलता है और रगनाच भरी क्लबो, थियेटरों मे जमकर बैठता है। एक सत्य, एक जलती चिता, जिसे अभी वह देखकर आ रहा है, उसकी ओर बढती आ रही है; उसका धुआ श्वासों मे घुटता-सा प्रतीत होता है। चाय की प्याली मे चीनी नही, राख मिली है और सिगरेट की धुआ के छल्लों मे प्रेत नाच रहे है। अब अंगुलियो में से वह सिगरेट भी गायब हो गई है। देखने पर लगता है कोई सफेद हड्डी अंगुलियो मे फँसी हुई है और जल रही है जैसे चिता से उचट कर आ गई हो। हड़बडाकर वह उसे फेक देता है और उस चिनगारी से सारा 'थियेटर हॉल' जल उठता है। पर्दे, कुर्सियां और दर्शकों के वस्त्र, दीवारों का रोग़न लपटों से घिर गये है। वह चुपचाप बाहर हो

जाता है। किन्तु अब तो बाहर से भी अग्नि की जिह्वाए लपलपाती दीख रही हैं। आकाश में उड़ती चीलें और ऊंची चली गईं। 'इतनी आग ? सिगरेट के मुंह पर से जिसे पिया जाता है, कितनी विस्फोटक है। थियेटर के पर्दे, कुर्सिया, बेंचें, दीवारे और रोगन सब में आग भरी है और लोग तपन मिटाने आते है यहां। बैठते हैं और 'कोकाकोला' पीते हैं। बारूद के ढेर को गच, कालीन बताते हैं।'–वह सोच रहा है। लो, घण्टियों की तुमुलध्वनि बढ रही है, अग्निशामक यन्त्र आ पहुँचे। आग बुझादी जाएगी। कल थियेटर मे फिर नये पर्दे, कुर्सिया और कोई नया अभिनय ! जीवन के रगमच की यही स्थिति है। नित्य विनाश की भट्टी राख फैलाती है और नित्य आनेवाली उषा उस पर कुकुम बिखेर जाती है। अज्ञानान्ध मनुष्य जन्म और पुनर्जन्म के थियेटरो मे बैठकर धुए के छल्ले बनाता रहता है। उन छल्लो के परिवेष मे गन्धर्वलोक की सृष्टि करता है। परन्तु धुएँ की जमीन और पानी की दीवार के सहारे कौन टिक पाया है ? मिथ्यात्व का आश्रय अपने आपको छलना है। भोगो की लालसा एक विशाल मृगतृष्णा है। इसमे भटके हुए को पानी नही मिलता। मनुष्य को चाहिए कि वह जितना शीघ्र इस प्रदेश से निकल सके, निकल जाए और उस सरोवर की खोज करे जिसमे निर्मल जीवन हो। विवेकशील जनो का अभिमत है कि ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानबल से कर्मों को खपा डालता है, क्षय कर देता है किन्तु इसके साथ ज्ञानानुकूल वर्तना (चारित्र) करना अत्यावश्यक है। विना वर्तना के, सम्यगाचरण के – कर्मो की निर्जरा नही की जा सकती। कोई रोगी किसी तद्रोगनिवारक उत्तम औषधि को सम्मुख रखकर प्रमाणित करे कि मै इस औषधि को जानता हू क्या इतने मात्र से रोगशान्ति हो जाएगी ? शीतल जल को देख लेने या उसका नामोच्चारण करने मात्र से तो तृषा शान्त नही हो जाती ? किसी गन्तव्य स्थान पर पर पहुचने के लिए वाहन-विशेष का स्मरण तो उपकारक नही हो सकता। उसके लिए चारित्र – चर्या, आचरण करना आवश्यक होगा[1]। हा ! ज्ञान होना आवश्यक है। विना ज्ञान के आचरण कैसे होगा ? ज्ञान होने का फल आचरण से प्राप्त करना चाहिए। ज्ञान होने के पश्चात् कि 'यह जल है' – जल के अभाव मे मरना अपमृत्यु है, जीवन के साथ जानबूझकर खिलवाड़ करना है। ज्ञान की प्राप्ति तत्त्वदर्शी ज्ञान-सम्पन्न गुरुओ के चरणो मे श्रद्धाभक्तिपूर्वक उपासीन होने से सम्भव है।

---

१. 'णाणी खवेइ कम्म णाणबलेण दि सुबोलए अण्णाणी।
बिज्जो भेषज्जमहं जाणे इदि णस्सदे वाही ॥' – आ० कुन्दकुन्द.

'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन:' – तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुम्हें उपदेश करगे, यह चिरन्तन मत है। उन्हे विनीत प्रश्नों से, जिज्ञासा के भाव से पूछकर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना अभीष्ट है। यह ज्ञान सम्यक्चारित्र का सहचर है। 'परीक्षामुख' में कहा गया है कि – 'हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थ हि प्रमाण ततो ज्ञानमेव तत्' – जो हितप्राप्ति तथा अहितपरिहार करने में समर्थ है, वही स्वापूर्वार्थ-व्यवसायात्मक सम्यक्ज्ञान है, वही 'प्रमाण'[1] भी है। यह सम्यक्त्वानुमोदित सम्यग्ज्ञान प्राणी के अनन्तानुबन्धी कर्मों का क्षय करने मे सहायक होता हुआ भव्यात्मा को सम्यक्चारित्र मे प्रवृत्त कर मोक्षमार्ग पर ले जाता है। 'भव्य-जनकण्ठाभरण' कार ने लिखा है कि 'सम्यग्ज्ञान भावी कर्मों का क्षय करता है, सम्यक्-चारित्र समस्त पूर्वसचित कर्मों का नाश कर देता है और सम्यग्दर्शन इन दोनो की पुष्टि का हेतु होता है। इस प्रकार 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:' सूत्रकार का आशय सर्वथा सत्य सिद्ध होता है[2]। अत. मुक्तिश्री – अभिलाषी को सम्यग्ज्ञान – दर्शनपूर्वक सम्यक् चारित्र का अचल दृढता से थाम लेना चाहिए। जो चारित्र-नौका पर आरूढ है और जिसे सम्यग्ज्ञानदर्शनरूप दो खेवट मिले हुए है वह सुखपूर्वक धार के पार पहुच जाता है[3]। चारित्र की प्रशसा करते हुए अर्चकों की वाणी थकी नही है। 'चारित्त खलु धम्मो' 'न चारित्रात् पर तप ' 'यत् सम्यग्-दर्शन यच्च सम्यग्ज्ञानमुभे अपि सम्यक्चारित्रमित' – 'सम्यक्चारित्र ही धर्म है, चारित्र से बढकर कोई तप नही, यह जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, दोनो चारित्र के मित्र है।' चारित्र स्पर्शमणि है, जिसे छू देता है सुवर्ण बना देता है। यह त्यागियो के साथ कदम मिलाकर चलता है किन्तु रागी इसे दौडकर भी नही पा सकते। चरिता की सफलता तब है, जब चारित्र उसका आत्मा, सर्वस्व और अग बन जाए। ऊपर से ओढा हुआ चारित्र किसी समय उतारा भी जा सकता है। वह नाखून बनकर रहना चाहिए कि छीलते ही प्राण व्यथित हो जाए। अग्नि और उष्णता के समान चारित्र और चारित्रवान् मे एकीभाव होना

---

१ विशेषार्थ – 'प्र' – प्रकृष्ट मा – अन्तरग केवलज्ञान एवं बहिरग समवसरणमूलक लक्ष्मी और 'अण'–दिव्यध्वनि। इम प्रकार प्रकृष्ट अन्तरग – बहिरगलक्ष्मीसमन्वित 'दिव्यध्वनि' अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के वचनामृत ही सर्वोपरि प्रमाण हैं।'–

२. 'सज्ज्ञानमत्र क्षतभाविकर्म सद्वृत्तमस्तार्जितकृत्स्नकर्म।
सम्यक्त्वमेतद्द्वयपुष्टिहेतुरिति त्रय स्यात् सफल तदेव॥'– २२०

३. 'आरुह्य चारित्रतरीमवाप्य सज्ज्ञानसद्दर्शनधीवरौ द्वौ।

चाहिए। यदि अग्नि से उष्णता अविभाज्य है तो चारित्रवान् में से उसका चारित्र निकाल बाहर करना असम्भव होना चाहिए। अनल कहीं भी जलेगा और चारित्र कही भी पलेगा अपने स्वरूप को कभी नहीं छलेगा। चारित्र सुगन्धि का भण्डार है, सुन्दरता का आगार है, उसके रूप को पीने के लिए, उसके सौरभ में अवगाहन करने के लिए लोग दूर-दूर से दौड़े चले आते है। चारित्र को सर्वोत्तम वित्त बताते हुए कहा गया है कि वित्त (धन-सम्पदा) क्षीण हो गये तो कोई विशेष हानि नहीं हुई किन्तु यदि चारित्र चला गया तो सब कुछ नष्ट हो गया। उसके लिए तीनो लोक डूब गये, सूर्य राख हो गया और चन्द्रमा को सदा के लिए खग्रास लग गया। क्योकि चारित्रहीन को सूर्य प्रकाशित नही कर सकता, चन्द्रमा आल्हादित नही कर सकता और तीनो लोक मिलकर उसे उबार नही सकते। अमितगति आचार्य का अभिमत है कि 'जिसके पास पर्वतिथि पर उदय होनेवाले इन्दु के समान अनिन्द्य चारित्र सुरक्षित है वास्तव मे वह मान करने योग्य है, कुलीन है, ससारसेव्य (जगत्पूज्य) है, जन्म को कृतार्थ करनेवाला है और महन्त -बुद्धि का अधिकारी है[१]।' सागारधर्मामृत कहता है – 'अधिक कहने से क्या ? जो अनादिमिथ्यादृष्टि है उन्होने भी इस अनुपम सम्यक्‌चारित्र का पालन कर क्षण मे मुक्ति प्राप्त की है। अतः चारित्र सर्वोपरि इष्ट है[२]।' चारित्ररहित की सब क्रियाए, जिन्हे वह धर्मसम्पादनार्थ करता है, मोघ है। भस्म पर घृत होमने से जैसे अग्नि दीप्त नही होती वैसे 'सर्वास्तस्याफला. क्रिया.' – उसकी सारी क्रियाए अफल हैं। क्योकि धारकत्वगुण धर्म मे है और धर्म चारित्रमय है। एतावता धर्म और चारित्र एकार्थी शब्द है। अत· चारित्रच्युत होना धर्मभ्रष्ट होना है। शीलवान् और कुलीन कभी ऐसा सदोष मार्ग ग्रहण नही करते। चारित्रवान् केवल अपने लिए ही जीवित नही रहता, वरन् उसके आचरण पर समाज का जीवन सुरक्षित रहता है। लोग अपने आचारमार्गो का निर्धारण करते समय उन्ही चारित्ररत्नपालको की ओर अपेक्षा की आँख से देखते है। उनके आचरणो से उत्साहित होकर वैसा ही अनुवर्तन करने लगते है[३]। उनका तपोमय जीवन

---

१. 'विनिर्मल पार्वणचन्द्रकान्त यस्यास्ति चारित्रमसौ गुणज्ञ।
मानी कुलीनो जगतोऽभिगम्य कृतार्थजन्मा महनीयबुद्धिः ॥' – अमितगति०

२. 'आराध्यचरणमनुपममनादिमिथ्यादृशोऽपि यत् क्षणतः।
दृष्टा विमुक्तिभाजस्ततोऽपि चारित्रमत्रेष्टम् ॥'– सागारधर्मामृत.

३' 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥' –

प्रतिपद आदर्शों के विद्यालय स्थापित करते चलता है। उदय होते सूर्य से सारा ससार प्रकाश ग्रहण करता है और चारित्रसम्पन्न महामानव लोकमंगल के स्वस्तिकों का निर्माण अपने पदविन्यास से करते चलते हैं। राष्ट्र और संस्कृति का स्वाभिमान चारित्रवानो के प्रशस्त ललाट से दीप्ति ग्रहण करता है। सूर्य और सच्चारित्र व्यक्ति जैसे-जैसे ऊपर उठते है, अपने तेज से सत्प्रकाश फैलाते हैं और जीवन को प्राणवान् होने का मत्र-बल प्रदान करते है। देश अर्थात् देश मे रहनेवाले चारित्र के माध्यम से ही ऊचे उठते है। यदि और सम्पदाएं प्रचुर मात्रा मे भी हो किन्तु चारित्र नही हो तो 'सम्पदो नैव सम्पदः' — सम्पदाए वास्तव मे सम्पदात्व की अधिकारिणी नही कही जा सकती। इस प्रकार मनुष्य के भौतिक उत्कर्षों का मान भी चारित्र द्वारा ही स्थापित होता है। त्यागमार्ग तो बिना सम्पूर्ण निर्मल चारित्र के चल ही नही पाता। यहा तो चारित्रपालन प्रथम है। आदर्शों को चारित्र के परिवेष (फ्रेम) मे मण्डित करना चाहिए। जब आदर्श चारित्रमय होगे तो उनमे एक दिव्य आभा प्रस्फुरित होगी। इसी प्रकार जब चारित्र का पथ ऊचा उठेगा, वह आदर्शों का निर्माण करनेवाला होगा। उसकी यात्रा के सस्मरण मील के पत्थरो पर दैवी सहिताओ को लिखते चलेगे। आज अढाई हजार वर्ष हो चुके, दिव्यध्वनि के उस उपदेष्टा को, जिसकी वाणी को अक्षरबद्ध करनेवाली मषी अभी ताजा है। चारित्र के स्वर अमिट और लिपि चिरनवीन होती है। क्योकि, इन स्वरो और अक्षरो मे निष्कलकता तथा निर्मलता घुली रहती है। प्राय. लौकिक मषी कालिमा से निर्मित होती है किन्तु भगवान् चारित्रशिरोमणि के वचन तो अनुपम तथा निष्कलक है। जो स्वय कर्मरज से विप्रमुक्त है उनके सन्देशो को धूलिस्पर्श कैसे हो सकता है। उनके दिव्यध्वनि-सम्भूत स्वरो को जलदभाषी इन्द्र 'त्रैकाल्य द्रव्यषट्क नवपदसहित जीवषट्कायलेश्या' इत्यादि पदो द्वारा स्वय लोक मे निनादित करता है और गौतम जैसे दिग्गज विद्वान् उस पर सगतिया लिखते है। चारित्रचक्रवर्ती भगवच्चरणो को नमस्कार हो।

लोक मे जो वस्तु अधिक सम्मानित एव उत्कृष्ट हो, उसके विषय में लोकदृष्टि भी अधिक तीक्ष्ण एव कठोर होती है। रत्न-मणियां सदैव ऊंचे मूल्य पर बिकती है किन्तु सर्वाधिक परीक्षा भी उन्हे ही देनी होती है। सुवर्ण को तो अपनी विशुद्धि का प्रमाण कषोपल पर ही नही, अनल मे देना होता है। वज्र (हीरा) वज्र से ही प्रत्कीर्ण किया जाता है। रत्निक (जौहरी) जब उसका

मूल्यांकन करने लगते हैं तो अपनी आलोचना की तीक्ष्ण दृष्टि को, अपने परम्परागत अनुभवों के सहस्र वर्षों को उस पर लगा देते हैं। उसकी छाया, कान्ति, गुण, लेश्या, सामुद्रिक—सभी की कुण्डली जबतक बनकर नही तैयार हो, वह अपने मूल्य को नहीं पा सकता। इसी प्रकार चारित्रधारियों के प्रति लोगों की दृष्टि हजार होकर उठती है। रत्न की परीक्षा तो एकवार होती है, परन्तु चारित्ररत्न को तो पदे पदे परीक्षाओ मे से गुजरना पड़ता है। रत्न के पारखी तो कुछ गिने-चुने व्यक्ति होते है परन्तु चारित्रमणि को परखने के लिए सभी जौहरी बन जाते है। जिनका स्वय का चारित्रज्ञान और चारित्र निम्नकोटि का होता है वे भी परीक्षको की अग्रपक्ति मे अवस्थित होकर भावाकन करने लगते हैं। हीरा यदि अल्पसदोष हुआ तो उसका अनुपात से किंचित् अवमूल्यन हो सकता है किन्तु चारित्र का हीरा यदि शतप्रतिशत तुलामान नही रखता है तो सर्वथा मूल्य-वचित हो जाता है। 'वृत्ततस्तु हतो हत.' – चारित्र से हत तो मृतक ही है। मरे हुए लशुन को वैद्य जैसे निर्माणशाला से निकालकर कचरे के ढेर पर फेक देता है, वैसे ही लोक दुश्चारित्र अथवा अचारित्र से प्रतिष्ठा के उच्चासन को छीन लेता है। अतएव चारित्र को बहुत सम्भाल कर चलना श्रेयस्कर है। लोग छिद्र देखते है, ढूढने मे लगे रहते है। यह उनकी प्रवृत्ति है। चाहे त्यागी विमलाचारपरायण ही क्यो न हो। इस दृष्टि से, मन से भी लौकिक या अलौकिक आचार का उल्लघन नही करना चाहिए[1]। साबुत (अभग्न) घडे (कुम्भ) को भी टकोर लगाना लोकवृत्ति की परम्परा है। वैसे यह चारित्रपालक के पक्ष मे है उस काटोंभरी थोर की बाड़ के समान, जो विना बोये उगकर उपयोगी क्षेत्र की रक्षा करने लगती है। नागफनी (थोर) से डरकर स्वच्छन्द चरनेवाले पशु उसे हानि नही पहुचाएंगे। आलोचना का यह पक्ष स्तुत्य है। विरोधीदल राष्ट्र की ससद् को, सत्तारूढ दल को अप्रमत्त रखता है। शत्रु का आक्रमण सीमा को सुरक्षात्मक प्रयत्न प्रदान करता है। इसीलिए किसी नीति-उपदेष्टा ने परामर्श दिया है कि शत्रुओ के वध की इच्छा न रखते हुए उन्हे आशीर्वाद दो कि वे जीवित रहे। उनकी उन्निद्र आँखो के पहरे मे मैं निराकुल होकर सोता हू। जब-जब मुझे प्रमाद होता है, वे चेतावनी देकर मेरे लिए मार्ग प्रशस्त करने मे लगे रहते है[2]।' यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूचना है।

---

१. 'यद्यपि विमलो योगी छिद्रान् पश्यति मेदिनी। तथापि लौकिकाचार मनसापि न लघयेत्।।'–

२. 'जीवन्तु मे शत्रुगणा' सदैव येषा प्रसादाद् विगतज्वरोऽहम्।
यदा यदा मा भजते प्रमादस्तदा तदा ते प्रतिबोधयन्ति।।'–

'निज कवित्त केहि लाग न नीका' – अपनी कविता किसे अच्छी नही लगती ? अपने को सर्वसुन्दर कौन नही मानता ? व्यक्ति दूसरों की कमियों को तुरन्त देख लेता है किन्तु अपनी समीक्षा करने मे चूक जाता है। कहा है कि अपनी त्रुटियां यदि बिल्वफल के समान बड़ी-बड़ी भी हों तो दिखायी नही देती किन्तु दूसरे में सरसों के दाने जितनी भी हो तो उन्हे पर्वताकार देखने – बताने में नही चूकती[1]। इसलिए 'चरन्ति यत् शीलधनास्तपोधनास्तदस्ति चारित्रमिद महाव्रतम्' – शील को परमधन माननेवाले तपोधन महाव्रती होते है और सम्यक्चारित्र वही महाव्रत है। त्रियोग को सम्भाल कर, त्रिकरणशुद्धिपूर्वक वे चारित्र की रक्षा करते है। जैसे कृपरण अपने वित्त का एकाश भी व्यय नही करता, वैसे वे चारित्र की एक कोर भी खण्डित नही होने देते।

चारित्र का उल्लघन महान् अपराध है। चारित्र नैतिक पुस्तक का प्रथमाध्याय है, प्रथम वर्ण और प्रथम पद है। जैसे गौ के स्तनो का दूध दुहा जाकर ही कृतार्थता को प्राप्त होता है वैसे आदर्श भी चारित्र मे ढलकर उपयोगी होते है। किसी ने कहा है कि ताल को सुखादेनेवाले उन सहस्रो पृष्ठोवाले दीर्घकाय ग्रन्थो को पढ़ने से क्या लाभ ? एक अक्षर ही पढो, परन्तु उस प्रकार कि 'शिवपुर' (मोक्ष) का मार्ग मिल जाए। यह वास्तविकता है। किसी विशाल पुस्तकालय को देखने मात्र से विद्या प्राप्त नही होती, किसी एक पृष्ठ को तन्मयता से देखने, पढने से, उसे हृदयगम करने से आत्मा को परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो सकती है। मर्मस्थल पर लगा हुआ एक ही बाण मृत्यु के लिए अल है और यो स्थानभ्रष्ट तीरो की बौछार से भी चोट नही आती। मनुष्य को चाहिए कि वह आत्मकल्याण के उस केन्द्र को ढू ढ निकाले, उसे जान ले और सतत कृतोद्यम होकर मार्ग पर चलता रहे। क्योकि 'मार्गस्थो नावसीदति' – पथ पर चलनेवाला अवसन्न नही होता। कभी न कभी वह मजिल को पा लेता है। एक चीनी कहावत है – 'हजार मील लम्बी यात्रा एक कदम से शुरू होती है' – अत. जो अपने एक पदन्यास का महत्त्व जानता है वह हजार मील के समापन के लिए दूसरे पद को अवश्य उठाता है और वनों, दुर्गम घाटियो, पर्वतो तथा नदियो को पार कर अपनी लक्ष्यसिद्धि पर पहुँच जाता है। रास्ते मे वह इधर-उधर के भटकावो, भुलावों और मन को प्रिय लगने वाले विष्कम्भो पर नही रुकता। अपने अन्तिम पड़ाव पर पहुँचने के दुर्धर्ष

१ 'नरः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति।

संकल्प उसके साथ कदम मिलाकर चलते हैं। सूर्य इसी गति से चलता है। उसे प्रतिदिन पूर्व से पश्चिम तक के प्रदेश पार करने होते हैं। कभी दक्षिण तो कभी उत्तर उसे रुकने के लिए आग्रह करती हैं। चारित्रमार्गी को भी मोह तथा प्रलोभन की दिशाए आती हैं। विमुग्ध करनेवाले 'मीना बाजार' मिलते हैं, परन्तु मुक्ति-नगर के यायावर अकम्प, स्थिर गति से चलते जाते हैं। यही उनकी सफलता है। स्वीकार किये हुए व्रत को निबाहने की आस्था है। किसी नीतिकार ने कहा है कि 'कार्य का आरम्भ न करना बुद्धिमान् का प्रथम लक्षण है और यदि कार्य आरभ कर दिया तो उसे परिसमाप्ति तक पहुँचाना दूसरा लक्षण है[1]।' प्रारम्भ किये काम मे निरन्तर विघ्न आने पर भी उत्तम व्यक्ति उसका परित्याग नही करते[2] — ऐसा भर्तृहरि ने कहा है। मन मे राग और बाहर त्याग, यह भयानक स्थिति है। हिमालय को लोग हिमालय मानकर जाते हैं यदि वह फूटकर ज्वालामुख हो निकले तो विश्वास तो पराजित होगा ही, पर्यटन भी रुक जाएगा, सन्देह बढेगा। 'बाह्यग्रन्थिविहीना:' — श्लोक मे यही आशय सुव्यक्त किया गया है। वास्तव में चारित्र के चरणचिह्न बिलकुल स्पष्ट प्रतीत होने चाहिए। धूमिल, आधे उठे हुए, पथ से विचलित चिह्न अनुयायिवर्ग मे दिग्भ्रम उत्पन्न कर देते है। सर्वोदय-तीर्थ — सरोवर मे सम्यक्चारित्र के सहस्र पद्म तैरते रहे और उनके कुंजो मे विश्वजनरूप राजहस आश्रय पाते रहे, यह धर्मप्रभावना चारित्र शिरोमणि दे सकते है, देते आये है।

चारित्र मनुष्य की स्वसम्पत्ति है। चारित्रवान् कही भी जा सकता है। परमविश्वसनीयता चारित्रवान् को प्राप्त होती है। प्राचीन समय मे भूपालों के अन्त.पुरो की रचना ऐसी सुरक्षात्मक होती थी जहा सूर्यकिरणे भी स्वेच्छा से प्रवेश नही पा सकती थी। 'असूर्यम्पश्या राजदारा' राजपत्निया असूर्यम्पश्य होती थी—सूर्य भी उन्हे नही देख सकता था किन्तु उन्ही राजमहालयों मे ऋषि-मुनि विना रोकटोक घूमते थे। 'अवारितप्रवेशा हि तपोधना:'—तपस्वी अवारितप्रवेश है, उनके प्रवेश को न रोका जाए, ऐसी कड़ी राजाज्ञा थी। यह आज्ञा उनके अविप्लुत चारित्र के हेतु से थी। सूर्य से पर्दा करनेवाली वे महाराज्ञिया उन लोकगुरुओं को निरवगुण्ठन होकर प्रणाम करती थी, आशीर्वाद प्राप्त करती थी। यह चारित्र

---

१. 'अनारम्भो हि कार्याणा प्रथम बुद्धिलक्षणम्।
प्रारब्धस्यान्तगमनं द्वितीय बुद्धिलक्षणम्॥'

२. 'विघ्नै: पुन: पुनरपि प्रतिहन्यमाना: प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति।'— नीतिशतक

की अप्रतिहत गति का निदर्शन है। चारित्र मे सुगन्धि का भण्डार भरा है। कोसों दूर तक चारित्रवान् का यश उड़कर पहुंच जाता है। मृग की नाभि में जिस कस्तूरी का निर्माण होता है, उसके परमाणु बाहर से मंगाकर नहीं रखे जाते। चारित्र किसी से ऋण लेकर प्राप्त नहीं किया जाता। जल का शीतत्व, अनल का दाहकत्व और पवन का संचारित्व उनका स्वधर्म है, स्वचारित्र है। सीता महासती में चारित्र की अग्नि दहक रही थी इसीलिए, बाहरी अग्नि उसे जला नही सकी। 'नाग्निरग्नौ प्रवर्तते'—अग्नि अग्नि को नही जलाती। चारित्र आग्नेय है उसमे मनुष्य के सम्पूर्ण दोष, पाप इन्धन के समान जल जाते है। चारित्र नीर की निर्मल धारा है, आत्मा के गहन प्रदेशो को इसी से शीतलता मिलती है। चारित्र पवनवेग से सम्पूर्ण लोक मे अपने आप विश्रुत हो जाता है। इसी को परम धर्म, तप, आचार और ज्ञान कहा गया है[1]। 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्ना'—हाथी का पदचिह्न इतर प्राणियो से बड़ा है, उसमे सारे पदचिह्न समा जाते है। चारित्र भी महान् पद है। धर्म के अन्य सारे लक्षण चारित्रसिन्धु मे समा जाते है। वास्तव मे धर्म की चरितार्थता को ही चारित्र कहा है। विना चारित्र धर्म चरितार्थ नही होता। राहु अदृश्य होता है, वह केवल चन्द्रमा के बिम्ब पर ही देखा जा सकता है। मनुष्य की अपनी छाया विना किसी आधार के व्यक्त नही होती। आकाश मे उडते हुए पक्षियो की छाया पृथ्वी पर दिखायी देती है क्योकि आकाश के शून्य मे वह विद्यमान होते हुए भी दृश्य नही हो सकती। इसी प्रकार धर्म का बिम्बग्रहण आचरण से ही हो पाता है। क्षमा, दया, करुणा, शान्ति, मैत्री, निर्वैरता, तितिक्षा इत्यादि चारित्रात्मक ही हे। इन्हे आचरण द्वारा ही प्रकट किया जा सकता है। चारित्र पुरुषार्थ है। दुरधिगम्य उपलब्धियो का प्रदाता चारित्र ही है। चारित्र को पवित्र से पवित्रतर और पवित्रतम बनाने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। आचारशैथिल्य अन्त करण म प्रच्छन्न दुर्बलता का ज्ञापन करता है। जैसे थर्मामीटर के पारे पर रोगी का ज्वर उतर आता है उसी प्रकार मनुष्य के शिथिल अथवा अशिथिल आचार पर अन्त करण वृत्तियाँ उत्कीर्ण हो उठती है। चारित्रवान् अपनी तापमापक नाडियो की गति को विज्वर रखता है। नाडियो मे ज्वर का सकेत उसके शारीरिक अस्वास्थ्य का सूचक है। चारित्र से मनुष्य की 'शलाका परीक्षा' की जाती है। जपमाला मे सुमेरुमणि का

---

१. 'आचार' परमो धर्म आचारः परम तप.।
आचारः परम ज्ञानमाचारात किं न साध्यते ॥'—

स्थान अष्टोत्तरशत मणियों से ऊपर होता है। जो चारित्रशील हैं, उन्हें श्री श्री १०८ लिखने का व्यवहार है। वे धर्ममाला के सुमेरु (चारित्रसुमेरु) होते हैं और १०८ से ऊपर विराजते हैं। चारित्रवान् होने से ही यह उच्चासन उन्हे प्राप्त होता है। चारित्र को प्राणो का प्राण ही समझना चाहिए क्योंकि चारित्ररहित प्राण निष्प्राण हैं। आत्मा की रत्नमंजूषा मे चारित्रमणि को संभालकर रखना चाहिए। यदि यह गिर गया तो उस नष्ट नीड में रखने योग्य कुछ न बचेगा। उसके स्थान की पूर्ति इतर उपादानों से नही की सकती। 'न हि रत्नाना बीजावाप: कर्तुं शक्यते'– रत्न-मणियों की खेती नही की जाती। अर्थात् ऐसा नही हो सकता कि अन्नबीज के समान रत्न को बो दिया जाए और सींचने पर उसका पौधा निकल कर अन्य सहस्र रत्न – बालिया उत्पन्न कर दे। रत्न तो एक ही होता है। वह खोने पर नही मिलता। सर्वथा निष्परिग्रह मुनि चारित्र-परिग्रह रखते है। चारित्रहीन जीवन गजभुक्त कपित्थ के समान है, नवनीत निकाले हुए तक्र के तुल्य है, मणिरहित सर्प के सदृश है और प्राणशून्य पुत्तलिका के प्रतिम है। जैसे मन्त्राभिषिक्त प्रतिमा मे देवसान्निध्य आ जाता है, वसन्त का पवनसम्पर्क पाकर वृक्षो के अकुर निकल आते है उसी प्रकार चारित्र की आत्मप्रतिष्ठा करने से प्राणो में महत्तत्त्व का आविर्भाव होता है। वह व्यक्ति महाप्राण हो जाता है जो चारित्ररत्न को आत्मप्रविष्ट कर लेता है।

शास्त्रों मे मोक्षमार्ग पर विचार करते समय 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग '—कहा गया है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान सम्यक्चारित्र की दो आँखे हैं। चारित्र को श्रद्धा अथवा श्रद्धान भी कहा गया है। सम्यग्ज्ञानदर्शन से निज-पर का विवेक होता है। मिथ्यात्व का नाश होकर तत्त्वार्थ का अधिगम होता है। संसार के क्षणध्वंसी पदार्थो से विरति होकर आत्मरति आती है। इन्द्रियविषय जुगुप्सित, मलिन और हेय हो जाते है 'कृमिकुलचित लालाक्लिन्न विगन्धि जुगुप्सितम्' इत्यादि शब्दो मे कविजन (भर्तृहरि) उन मोहकालीन आकर्षणों की निन्दा करने लगते है। किसी ने ठीक ही कहा है कि यदि यह शरीर चर्म से ढँका हुआ न होता तो गीधों के समूह इसे खा जाते, कुत्ते और शृगाल सहभोज करते और कौओ को आमिष की तलाश मे दूर न जाना पड़ता। सम्यग्दर्शन और ज्ञानसे यह सम्यग्विवेक प्राणी को प्राप्त होता है और तब उदासीन, विरक्त, तत्त्ववेत्ता व्यक्ति आत्मकल्याण के लिए मोहपाशो को झटककर चारित्र तपोमार्ग पर प्रवृत्त हो जाता है। सच्चे वैराग्य के उदय से उसको संवर और निजरा की स्थिति उपलब्ध

होती है। मन, वचन और काय समाधिदशा ग्रहण कर लेते हैं। बाह्यदृष्टि अन्तर्मुख होकर आत्मचिन्तन मे लग्न हो जाती है। 'इच्छा निरोधस्तप:' के लिए बल प्रयोग करने जैसा अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं होती। वह 'तप' स्वयं सिद्ध हो जाता है जैसे सर्प ने केंचुली उतार दी हो, जैसे अधोगति का मार्ग छोड़कर कोई ऊर्ध्वगति के मार्ग पर आ गया हो। सम्यक्चारित्र के सर्वागरहस्य उसके सामने स्वय प्रकट होकर मार्गदर्शन करते चलते है। उसके ज्ञान, ऐश्वर्य और वीर्य मे सातिशय उद्रेक का उदय होता है। दु.ख, दुर्गति, भय, कष्ट, अभाव और अपूर्णता का क्षय हो जाता है। 'शिव: केवलोऽहम् शिव. केवलोऽहम्' मै शिव हू, मुक्तिपति हूं'— उसके प्राण बोलने लगते है। ज्ञान, भक्ति और आनन्द उसके श्वासोच्छ्वास बन जाते हैं। चारित्रमय होकर वह भवार्णव की कल्लोलो के घात–प्रतिघात से बच जाता है। शुद्ध मुक्तात्मा के रूप मे मोक्ष को प्राप्त कर, जल मे जलकल्लोल के समान आत्मरूप हो अक्षय आनन्दभाक् हो जाता है।

पिच्छि और कमण्डलु

दिगम्बर मुनि के पास संयम तथा शौच के उपकरण के रूप मे पिच्छि और कमण्डलु होते हैं। सर्वथा नग्न एवं अपरिग्रहमहाव्रती मुनि को चर्या की निर्दोषता के रक्षार्थ इन्हे रखने की शास्त्राज्ञा है। मानो, पिच्छि और कमण्डलु मुनि के स्वावलम्बन के दो हाथ है। प्रतिलेखन-शुद्धि के लिए पिच्छि की नितान्त आवश्यकता है और पाणि-पाद-प्रक्षालन के लिए, शुद्धि के लिए कमण्डलु वाञ्छनीय है। पिच्छिका मयूरपखो से बनायी जाती है अन्य पख पिच्छि के लिए उपादेय नही माने गये। क्योकि मुनियो के लिए हिसा, चौर्य, परिग्रह आदि सर्वथा निषिद्ध है और मयूरपंख ही ऐसे सुलभ है जिन्हे वह उल्लिखित दोषो से बचते हुए ग्रहण कर सकता है (सकते है)। वह इस प्रकार कि मयूर वर्ष मे एक बार अपनी जीर्ण पक्षावली का त्यागकर। नवीन प्राप्त करता है अत· समय पर विना हिंसा उसे प्राप्त किया जा सकता है। वनो मे विचरते हुए मनियों को वृक्षों के नीचे पुष्कल परिमाण मे स्वय पतित पख अनायास मिल जाते है। ये पंख स्वयं मयूर द्वारा परित्यक्त अथ च भूमिपतित होते है अतः इन्हे ग्रहण करने मे चौर्यदोष भी नहीं लगता। तीसरी बात यह कि प्रतिवर्ष और पुष्कल मात्रा मे अनायास मिलते रहने से, यह आवश्यक नही कि इनको बटोरकर, सगृहीत कर आगामी वर्षों के लिए सचित किया जाए जिससे कि परिग्रहदोष की सम्भावना हो। इसके अतिरिक्त मयूरपिच्छ का लवभाग (बालमय अग्रभाग) इतना मृदु होता है कि प्रतिलेखन से किसी सूक्ष्म जन्तु की हिंसा भी नहीं होती। स्वय मयूरी के पंख भी पिच्छि के निमित्त उपादान नही हो सकते। एक जाति के युगल (दम्पति) मे भी समान मृदुपिच्छ प्रसूत करने की क्षमता नहीं है अन्य जातीय पक्षियो के लिए तो कहना व्यर्थ ही है। इन कारणो से मयूरपिच्छिधारण दिगम्बर साधु की मुद्रा है। पिच्छि रखने से वह नग्नमुद्रा किसी प्रमादी की न होकर त्यागी का परिचय उपस्थित करती है। 'मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यात् निर्मुद्रो नैव मन्यते' – नीतिसार की यह उक्ति सारगर्भित है। मुद्रा चाहे शासन वर्ग हो, धार्मिक वर्ग हो अथवा व्यापार-वर्ग हो सर्वत्र अपेक्षित होती है। मुद्रारहित की मान्यता नही। वैष्णवो, शाक्तमतानुयायियों, शैवों, राधास्वामीसाम्प्रदायिकों आदि में तिलक लगाने की

पृथक्-पृथक् प्रणाली है। राजभृत्यों के कन्धो पर अथवा सामने वक्षःस्थल पर वस्त्र-निर्मित या धातुघटित मुद्रा (चिह्न) होती है जिससे उसकी पद-प्रतिष्ठा जानी जाती है और राजभृत्यता की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। कागज के नोट 'मुद्रां' कित होने से चलते है। डाक-तार विभाग मुद्रात्मक है। एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में प्रवेश पाने के लिए अनुमतिपत्र (पासपोर्ट) और रेलयात्रार्थ यात्रापत्र लेना आवश्यक है। इसलिए भी श्रमण परम्परा के आदिकाल से अधिकृत चिह्न के रूप मे पिच्छिकमण्डलु रखने का विधान चला आया है। 'भद्रबाहु क्रियासार' मे पिच्छि रखना आवश्यक बताते हुए कहा गया है कि जो श्रमण पिच्छि नहीं रखता तथा उसकी निन्दा करता है वह 'मूढचारित्र'[1] है। क्योंकि चारित्रपालन में, कायोत्सर्ग में, गमनागमन मे, बैठने-उठने मे पिच्छिका का सहयोग विदित है। अपेक्षासंयमी मुनि को अवधिज्ञान से पूर्व पिच्छि धारण करना शास्त्रसम्मत है[2]। मराठी-कवि जनार्दन ने त्यागियो के लिए लिखा है कि –

करोनी परिग्रहत्याग, तीन राखावे काये सग
पुस्तक, पीछी ठेवी अभग कमण्डलभृ ग शौचासी ।। १३०

अर्थात् परिग्रहो का त्याग करो और पुस्तक, पिच्छि और कमण्डलु को रखो। यहा पुस्तक का अर्थ शास्त्र है। वास्तव मे शौच, सयम और ज्ञान के तीन उपकरण रखने मुनि को उचित है। आचार्य सकलकीर्ति ने 'मूलाचार' मे सूचना दी है कि 'कार्तिकमास मे स्वयपतित पिच्छों से सत् प्रतिलेखन तैयार कर लेना चाहिए यह लिंग है, योगियों का चिह्न है[3]।' जैसे शिशिर मे वृक्षो के जीर्ण पत्र स्वयं गिर जाते है वैसे ही मयूरपख कार्तिक मे झड जाते है। अहिसामहाव्रती जब किसी स्थान पर विराजमान होते हैं, तब इसी कोमलवालाग्र पिच्छि से बुहारकर बैठते है इससे दृश्य-अदृश्य जीवाणु वहा से अन्यत्र कर दिये जाते है। दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनि, ऐलक, क्षुल्लक तथा आर्यिका माताए पिच्छि-कमण्डलु धारण करते है। 'भद्रबाहु क्रियासार' मे वर्णन है कि 'वह सूरि पाच सौ शिष्यो सहित अथवा चार,

---

१. 'जो सवणो णहि पिच्छ गिण्हदि णिदेदि मूढचारित्तो।
सो सवण सघवज्जो अवदणिज्जो सदा होदि ।।' – भ० बा० क्रियासार, ७९.

२ 'अवधे प्राक् प्रगृह्णन्ति मृदुपिच्छ यथागतम्।
यत् स्वय पतित भूमौ प्रतिलेखनशुद्धये ।।' – भावसग्रह, २७६·

३. 'मत्त्वेति कार्तिके मासि कार्यं सत्प्रतिलेखनम्।
स्वयंपतितपिच्छाना लिंग चिह्नं च योगिनाम् ।।' – मूलाचार

तीन, दो, एक पिच्छिधारियों को साथ लेकर विहार करता है। संघपति भी आचार्य का शिष्य होता है और आर्यिका पिच्छिधारण करती है[१]। इस प्रकार पिच्छि रखने का निर्देश प्राचीन श्रमणपरम्परा से चला आया है। मयूरपंखनिर्मित पिच्छिधारी दिगम्बर का उल्लेख वैदिकों के पुराणसाहित्य में भी पाया जाता है। पद्मपुराण, विष्णुपुराण तथा शिवपुराण के टिप्पणी में दिये गये उद्धरणों से यह स्पष्ट है[२]। शिवपुराण में एक कथा आई है कि शिव ने दिगम्बर मुद्रा धारण कर देवदारु वन में आश्रम का निरीक्षण किया था। उनके हाथ में मयूर-पिच्छि थी। प्रसिद्ध स्तोत्र 'नम·शिवाय' (पंचाक्षर स्तुति) मे 'दिव्याय देवाय दिगम्बराय' – शिव की दिगम्बरमुद्रा लिखी है। पिच्छि को प्रतिलेखन मात्र नहीं माना गया है अपितु वन्दना, सामायिक, प्रायश्चित्त, रुग्णदशा, आहारसमय, गमन आदि प्रकरणों में पिच्छि के विभिन्न उपयोगरूप शास्त्रों में निर्दिष्ट हुए हैं। वन्दना के समय मुनि आचार्य महाराज को 'मैं वन्दना करता हूँ' – ऐसा कहते हुए पश्वर्धशय्या से आस्थित होकर पिच्छि को मस्तकस्पर्श देते हुए वन्दना करे[३]। इसी प्रकार जब आचार्य प्रतिवन्दन करे तब उन्हें सपिच्छाञ्जलि होना चाहिए[४]। जिस मुनि महाराज को प्रायश्चित्त दिया गया है, उनको पिच्छि का लोमाग्र भाग आगे की ओर रखना होता है। यह उनके प्रायश्चित्तीय होने का निदर्शक है। जब वे आहार के लिए श्रावकबस्ती मे जाते हैं तब पिच्छिकमण्डलु (दोनों) उनके हाथ में होते हैं। यो साधारण विहारसमय में कमण्डलु को श्रावक, ब्रह्मचारी आदि लेकर चल सकते है। जिस श्रावक के यहां उन्हें आहारविधि मिल जाती है तब वे पिच्छि और कमण्डलु को वामहस्त मे एक साथ धारण करते हैं और दक्षिण स्कन्ध पर अपना पचांगुलिमुकुलित दक्षिण पाणि रखकर आहारस्वीकृति व्यक्त करते हैं[५]। आहार करते समय पिच्छिस्पर्श अन्तराय माना गया है, अतः उसे

---

१. 'पचसय पिच्छहत्थो मह चतु-तिग-दोण्णिहत्थो।
सघवद्दहु सीसो अज्जापुणु होदि पिच्छकरा ॥' – भद्रबाहुक्रियासार.

२. 'योगी दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपिच्छधरो द्विज·'। – पद्म०, १३।३३.
'ततो दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपिच्छधरो द्विजः'। – विष्णु०, ३।१८.
'मयूरचन्द्रिकापुंजपिच्छिका धारयन् करे।' – शिवपु०, १०।८०।८०.

३ 'पश्वर्धशय्ययाऽनम्य सपिच्छाञ्जलिभालकः।' – आचारसार, ६१.

४. 'विगौरवादिदोषेण सपिच्छाञ्जलिशालिना।
सदञ्जसर्याचार्येण कर्तव्यं प्रतिवन्दनम् ॥' – आचारसार, ६२.

५. 'पिच्छं कमण्डलुं वामहस्ते स्कन्धे तु दक्षिणम्।
हस्तं निधाय संदृष्ट्या स व्रजेत् श्रावकालयम् ॥' – धर्मरसिक

उस समय दूर रखते हैं। कुछ लोग मयूरपंख को प्राण्यंग होने से अपवित्र कहते हैं। किन्तु श्रीचामुण्डरायरचित 'चारित्रसार' का कथन है कि 'शरीरजा अपि मयूर-पिच्छसर्पमणिशुक्तिमुक्ताफलादयो लोके शुचित्वमुपागता:' – अर्थात् मयूर के पंख, सर्पमणि, सीप और मुक्ताफल आदि (गजमुक्ता) शरीरज होने पर भी लोकव्यवहार में शुचि माने गये है। यही हेतु है कि शास्त्रों ने इसे धर्मपरिग्रह स्वीकार किया है। 'मूलाचार' तो पिच्छि को दया का उपकरण कहते है। उनकी मान्यता है 'प्रतिलेखन के लिए मयूरपिच्छिधारण श्रेष्ठता की बात है। तीर्थंकर परमदेव इसे सूक्ष्म जीवों तक का रक्षात्मक होने से दयोपकरणरूप मे योगियो के लिए प्रशंसनीय कहते हैं[1]। मत्रलक्षणशास्त्र कहता है कि पिच्छि आवश्यकता होने पर छत्र भी है और चामर भी, यंत्र और मंत्र की प्रसिद्धि (सिद्धि) के लिए भी इसका व्यवहार किया जाता है और सम्पूर्ण प्राणियों की रक्षा के लिए तो है ही[2]। इस प्रकार पिच्छि पंचगुणविभूषित है। मूलाराधना में पिच्छि के अन्य पाच गुण बताते हुए कहा है कि 'रज और स्वेद का अग्रहण, मृदुता, सुकुमारता और लघुत्व (हल्कापन) जिस पिच्छि मे ये पचगुण विद्यमान हो, उस प्रतिलेखन-उपकरण की प्रशंसनीयता असदिग्ध है[3]।' सकलकीर्ति-धर्मप्रश्नोत्तर मे मूलाराधनाप्रोक्त पच गुणों का कीर्तन करने के पश्चात् इसमें निर्भयता आदि अतिरिक्त गुणो का निर्देश किया गया है[4]। नीतिसार का कथन है कि 'छाया मे, आतप मे अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमनागमन करते समय मयूरपिच्छि से आलेखन करके ही मुनि को वर्तना चाहिए[5]। 'चारित्रसार' मे किसी प्रकार के तत्क्रिया-असमर्थ रोगादि कारण होने

---

१. 'सन्ति मयूरपिच्छेऽत्र प्रतिलेखनमूर्जितम्।
तं प्रशसन्ति तीर्थेशा दयार्थं योगिना परम्॥' – मूलाचार, ३२

२. 'छत्रार्थं चामरार्थं च रक्षार्थं सर्वदेहिनाम।
यत्रमत्रप्रसिद्धयर्थं पचैते पिच्छिलक्षणम्॥' – मत्रलक्षणशास्त्र.

३. 'रजसेदाणमगहण मद्दवसुकुमालदा लघुत्त च।
जत्थेदे पचगुणा त पडिलिहण पससति॥' – मूलाराधना, ६८.

४. 'अथ पिच्छिकागुणा रज.स्वेदाग्रहणद्वयम्।
मार्दव सुकुमारत्व लघुत्व सद्गुणा इमे॥
पंच ज्ञेयास्तथा ज्ञेया निर्भयादिगुणोत्तमा'।
मयूरपिच्छजातायाः पिच्छिकाया जिनोदिता॥' – सकलकीर्तिधर्मप्रश्नोत्तर, २९-३०

५. 'पिच्छेन मृदुनाऽलिख्य वपुर्घर्माद् विशेन् मुनिः।
छाया तथैव घर्मं च भूमिभेदेऽपि चान्वहम्॥' – नीतिसार, ४३.

पर कहा गया है कि 'मुनि पिच्छिसहित अंजलिबद्ध होकर, जुड़ी हुई अंजलि को वक्ष:स्थल के मध्य में स्थित करके पर्यंकासन, वीरासन अथवा सुखासन से बैठकर, मन को एकाग्र कर स्वाध्याय तथा वन्दना करे'[1]। खड़े होने की शारीरिक अशक्ति-दशा में ही यह विधान है, स्वस्थ रहते नही। मयूरपिच्छि में एक अन्य विशिष्ट गुण 'मूलाराधना' पृष्ठ २१५ में बताया गया है कि जो सवस्त्रलिग धारण करते हैं उन्हे वस्त्रखड को बहुत शोधना होता है परन्तु मयूरपिच्छि मात्र परिग्रही (निर्ग्रन्थ) को बहुत शोधने की आवश्यकता नही। स्वयं ही उन्हे अप्रतिलेखन गुण प्राप्त है[2]।' 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' का प्रतिपादन है कि 'श्रमणशास्त्रो मे अदत्त के आदान को स्तेय (चौर्य) कहा है। कोई भी लघु या महत् वस्तु, जो स्वय की न हो, परकीय हो, उसे वस्तु के स्वामी से ही याचनाकर प्राप्त करना चाहिए। जान-बूझकर अथवा प्रमादवश, अजाने ग्रहण की हुई वस्तु चौर्यलब्ध ही मानी जाएगी। इस अर्थ मे सामान्यरूप से किसी भी अदत्तवस्तु के ग्रहण का विधान मुनि के लिए नही है। तब क्या मयूरपिच्छ और कमण्डलु जो अरण्य मे पड़े हुए मिल जाते है, मुनि को नही ग्रहण करने चाहिए? वे भी तो अदत्त है, उनका आदान कैसे हो? इस शका का समाधान करते हुए आगे कहा गया है कि नदियों, निर्भरो आदि का जल, सूखे हुए गोमयखण्ड, अथवा भस्म आदि, अपनेआप मुक्त मयूरपंख एव तुम्बीफल आदि (उक्त आदि शब्दो से मिट्टी तथा सामुद्रिकनारियल अर्थ ग्रहण करना अभीष्ट प्रतीत होता है) ग्रहण करने मे स्तेयदोष नही लगता, यह सब 'प्रासुक' है, इसमे स्तेय नही है और इनका ग्रहण प्रमत्तत्व की हानि के लिए अभीष्ट है[3]। कषायसहित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को प्रमत्तयोग कहा गया है किन्तु धर्मपरिग्रह के रूप मे आवश्यक पिच्छि और कुण्डी का ग्रहण

---

१ 'सप्रतिलेखनमुकुलितवत्सोत्सगितकर. सपर्यक ।
कुर्यादेकाग्रमना· स्वाध्याय वन्दना पुनरशक्त्या ॥' – चारित्रसार, ४३.

२. 'अप्पडिलिहण वसनसहितलिंगधारिणो हि वस्त्रखण्डादिक शोधनीय महत् । इतरस्य पिच्छादिमात्रम् ।' – मूलाराधना.

३. 'प्रमत्तयोगतो यत् स्याददत्तादानमात्मन· ।
स्तेय तत् सूत्रित दानादानयोग्यार्थगोचरम् ॥
तेन सामान्यतोऽदत्तमाददानस्य सन्मुने: ।
सरिन्निर्भरणाद्यम्भ: शुष्कगोमयखण्डकम् ॥
भस्मादि वा स्वयं मुक्त पिच्छालाबुफलादिकम् ।
प्रासुक न भवेत् स्तेय प्रमत्तत्वस्य हानित: ॥' – तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ७।१५

कषायनिमित्तक नहीं है प्रत्युत वीतराग मुनिचर्या का उपकारक है। तथा च जीवरहित, अचित्त होने से पिच्छि-कमण्डलु प्रासुक[1] हैं। 'भद्रबाहुक्रियासार' में पिच्छि को मोक्ष का साधक अन्यतम कारण बताते हुए कहा है कि जो मुनि अपने पास पिच्छि नहीं रखता है वह कायोत्सर्ग के समय, स्थिति में, उत्थान में, गमनागमन में अपनी दैहिक क्रियाओं से सूक्ष्म जीवों का नाश करता है। परिणामस्वरूप उसे हिंसादोष लगता रहता है और मोक्षप्रतिबन्धक कर्मों से उसे मुक्तिश्री की प्राप्ति नहीं होती[2]। उक्त समर्थनों से सिद्ध है कि मयूरपिच्छि का धारण करना त्यागियों के लिए आवश्यक है। निर्वाणभूमि पर पहुंचाने में जहां सम्यग्दर्शनज्ञानसमन्वित सम्यक्चारित्र साक्षात्कारण है वहा पिच्छि-कमण्डलु भी चारित्रचर्या के सहायक उपकरण होने से उपकारक अथवा परम्परित कारण है। अत्यन्त कोमल, नयनाभिराम, सुन्दर होते हुए भी मयूर इनका यथासमय त्याग कर देता है और मोह नही करता। इस प्रकार यह निर्मोह सिखानेवाली है। मुनि को पिच्छि को देखते ही वीतराग भाव का स्मरण होना चाहिए। अहो! तिर्यक्योनि होते हुए भी मयूर को अपने एकमात्र अलंकरण बर्हों पर मोह नही उत्पन्न हुआ, मुनि तो मनुष्य पर्यायधारी है, धीमान् है, विवेकसम्पन्न है। यदि वह रागान्ध हो तो धर्म रसातल चला जाना चाहिए। मयूरपख देखकर संयम के भावों मे अवश्य वृद्धि होती है और इसी हेतु से इसे संयमोपकरण कहना समीचीन है। पिच्छिधारण निर्मल तथा शुद्ध जिनलिंग है। इस तथ्य को 'षट्प्राभृत' ग्रन्थ के 'भावप्राभृत' प्रकरण की ७९वी गाथा के चतुर्थ चरण 'जिनलिग णिम्मल सुद्ध' – की टीका मे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'जिनलिगं नग्नरूपमर्हन्मुद्रामयूरपिच्छकमण्डलु-सहितं निर्मलं कथ्यते। तद्द्वयरहितलिगं कश्मलमित्युच्यते। तीर्थकरपरमदेवात्त-प्तर्द्धेर्विना अवधिज्ञानाद् ऋते चेत्यर्थः।' – अर्थात् मयूरपिच्छि तथा कमण्डलु-सहित नग्नरूप ही अर्हन्त भगवान् की मुद्रा है। वह निर्दोष एवं निर्मल है। जो इन दोनो से रहित नग्नरूप है वह मलिन कहा जाता है। किन्तु तीर्थंकर परमदेव, तप्तर्द्धिधारक तथा अवधिज्ञानी को इनका धारण करना आवश्यक नही है। ये (उक्त) पिच्छिकमण्डलुरहित भी अर्हन् मुद्राधारी माने गये है। 'भावसंग्रह' में

---

१. प्रासुकस्यार्थ – 'सुक्कं पक्क तत्तं अम्बिललवणेण मिस्सय दव्वम्।
ज जन्तेण हि छिन्न त सव्व पासुय भणियं॥' – गृहस्थधर्म, ११.

२ 'ठाणणिसिज्जागमणे जीवाण हणंति अप्पणो देह।
दसकत्त रिठाण गदं णिपिच्छे णत्थि णिव्वाण॥' – भद्रबाहुक्रि०, २५.

भी अवधिज्ञान से पूर्व तक पिच्छिधारण प्रतिलेखनशुद्धि के निमित्त आवश्यक कहा है[1]। अवधिज्ञान के अनन्तर इसका धारण आवश्यक नहीं। उपेक्षा-संयमी को पिच्छि की आवश्यकता नही। किन्तु अपेक्षासंयमी को धारणीय है ही। आदानसमिति तथा निक्षेपसमिति का उल्लेख करते हुए श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि 'अपहृतसंयमधारी मुनियों को आगम अर्थ के प्रत्यभिज्ञान के लिए बार-बार ज्ञानोपकरण (शास्त्र) की आवश्यकता होती है, विशुद्धि के लिए शौचोपकरण कमण्डलु की तथा सयमोपकरणरूप मे पिच्छि की आवश्यकता होती है। इन शौच-सयम-ज्ञानोपकरणों के बारम्बार ग्रहण तथा विसर्ग में जो प्रयत्नपरिणाम होता है उसे आदानसमिति तथा निक्षेपणसमिति कहा गया है[2]। एकादश प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकार का होता है प्रथम एक-वस्त्रधारी, द्वितीय वस्त्ररहित कौपीनमात्रधारी। ये दोनो ही तप, व्रत, नियमादि पालन करते हैं। कौपीनमात्र धारण करनेवाले ऐलक 'कचलोंच' करते हैं। पिच्छि-धारण दोनों (क्षुल्लक, ऐलक) करते है। अनुप्रेक्षा (द्वादशानुप्रेक्षा) धर्मध्यान तथा किसी एक स्थान पर करपात्र मे स्थितिभोजन और आसन लेकर भी आहार ग्रहण करते है[3]। मयूरपिच्छि के महत्त्व की सीमा नही है। त्यागी के लिए पिच्छि कितनी उपकारिणी है यह पर्याप्त बताया जा चुका है। पिच्छि को मिथ्यात्वनाशक तथा दुर्मदगजेन्द्र को बाधा देनेवाला सिह कहा गया है। 'मिथ्या-त्वनाशं मदसिहराजम्' – उसके लिए प्रयुक्त प्रशंसावचनो मे से हैं। वसुनन्दि-श्रावकाचार, चारित्रसार, भगवती-आराधना और वट्टकेर मूलाचार इत्यादि में पिच्छिधारण का महत्त्व निरूपित किया गया है। जो त्यागी पिच्छिधारण करते हुए अपने भावलिगी, वीतराग, त्यागप्रधान, लोकगुरुस्वरूप का सरक्षण नही करता, वह मुनिवेष को तिरस्कृत करता है। मुनि और सामान्य लौकिक आगार-धर्मियो मे यदि सम्यक्चारित्र और अपरिग्रहादि से प्रतीयमान शिष्ट-विशिष्ट-

---

१. 'अवधे. प्राक् प्रगृह्णन्ति मृदुपिच्छ यथागतम्।
यत् स्वय पतितं भूमौ प्रतिलेखनशुद्धये ॥' – भावसग्रह, २७६.

२. 'पुस्तककमण्डल्वादिग्रहणविसर्गयो. प्रयत्नपरिणाम.।
आदाननिक्षेपणसमितिर्भवतीति निर्दिष्टा ॥' – (छाया) – नियमसार.

३. 'एकादशस्थाने उत्कृष्टश्रावको द्विविधः।
वस्त्रैकधरः प्रथम. कौपीनपरिग्रहो द्वितीयः ॥
तपोव्रतनियमावश्यकलोचं करोति पिच्छं गृह्णाति।
अनुप्रेक्षा धर्मध्यानं करपात्रे एकस्थाने ॥' – आलोचना.

बोधक भेदरेखा नही होगी तो पर्वत के शिखर और घाटियों के निम्नोन्नतत्व को समान आंकना होगा। पिच्छिग्रहण करने पर वह प्रवृत्तिमार्ग त्यागकर निवृत्ति मार्ग पर गतिमान् होता है। कोटि कोटि जन जिस दिगम्बरत्व को अपना आराध्य, वन्दनीय मानते हैं वह उस वर्ग का महानुभाव व्यक्ति बन जाता है। ऐसी स्थिति में तप, त्याग, चारित्र और आत्मकल्याण की वीथी को प्रशस्त करनेवाले व्यवहारों एवं निश्चयों के कठिन-कठोर मार्ग पर त्यागी को अधिक से अधिक सशक्त और अकम्प पद रखने चाहिए। जिस आस्था से उसने पिच्छिकमण्डलु लिये है उस आस्था के लोकपूज्य रूप की सवर्द्धना मे योग देना मुनि का धर्म है। यदि पिच्छि लेकर भी त्यागी के मन मे आकिचन्य का उदय नही हुआ और परिग्रहो पर तृष्णा बनी रही तो निश्चय ही मयूरपख के चन्द्रक उस आत्मवचित पर हँसेगे। इससे तो राग का मार्ग अच्छा था। उसी पर चलते तो एक निश्चित मार्ग तो सम्मुख रहता। अब पाव शिला पर है और मन कुसुम की मृदुल पखड़ियो पर—यह द्वैधाचार श्लाघनीय नही। जिस भूमि पर खड़े होना है, उसीके होकर रहो। पिच्छिकमण्डलुधारण मात्र से मोक्ष मिल गया, ऐसा मानना मिथ्यात्व है। यदि ऐसा होता तो पिच्छि का प्रथम धारक मयूर पहले मोक्ष गया होता। बहुत-से अकिचन जो धातुपात्रो के अभाव मे कमण्डलुधारक है, प्रतिष्ठा को प्राप्त किये होते। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही होता। यह तो त्यागी के लिए अनिवार्य आवश्यकता होने से विहित है और बन्धन है। उसके लिए तो परपदार्थ सभी रुकावटे है और शरीर तक बन्धन माना गया है। पिच्छिकमण्डलु तो शरीर नही है और भी बाहर की वस्तुए है। कदाचित् इसी आशका से मुनियो को सावधान करने की आवश्यकता शास्त्रकारो ने अनुभव की है। एक ओर वे कहते है कि यदि 'विना पिच्छि के सात कदम गमन कर लिया तो कायोत्सर्ग करना होगा और दो कोस प्रमाण मार्ग पर विना पिच्छि चल लिये तो शुद्धि तथा उपवास दो-दो प्रायश्चित्त आवश्यक होगे'[1]। दूसरी ओर कहते है कि जो त्यागी पिच्छि तथा स्रस्तर (चटाई आदि) पर ममत्व करता है तथा ममत्वपरिणाम से आर्त-रौद्रध्यान-परायण होता है उसे क्या मोक्षसुख की प्राप्ति हो सकती है? 'सरहपाद' मे भी पिच्छिव्यामोह पर कटाक्ष करते हुए लिखा है कि—'पिच्छिग्रहणमात्र से मुक्ति मिलती होती तो उसका प्रथम अधिकारी मयूर होना चाहिए और यदि

१. 'सप्तपादेषु नि.पिच्छ. कायोत्सर्गेण शुद्ध्यति।
गव्यूतिगमने शुद्धिमुपवास समश्नुते॥' —चारित्रसार, ४४.

उञ्छ भोजन से मोक्ष होता तो वन में विकीर्ण (स्वयं पतित) वृक्षपत्रावली खाकर जीवनयात्रा चलानेवाले पशुओं को वह होना चाहिए किन्तु चमरी गाय, पिच्छिधर मयूर, उञ्छ और शिलभोजी वन्यजीवों को उद्दिष्ट उपकरणों से मोक्ष सम्भव नहीं। मोक्ष की उपलब्धि सम्यक् चारित्र द्वारा ही होती है। पिच्छि और कमण्डलु मुनिचर्या के सहायक उपकरण मात्र हैं और उपेक्षासयम अवस्था में, अवधिज्ञानी होने पर अथवा तप्तर्द्धि होने पर उसकी आवश्यकता नहीं रहती। पिच्छि से विहित चर्यासौविध्य मात्र ग्राह्य है, यथेच्छ व्यवहार उसके द्वारा नहीं किया जा सकता। यथेच्छ व्यवहार तो प्रायश्चित्त का कारण बन जाता है। नीरोगदशा मे यदि मुनि उसे मस्तक पर छायार्थ उत्तोलित करता है, छाती को आच्छादित करता है और मस्तक-आवरण बनाता है तो उसे प्रायश्चित्त कल्याणक देना चाहिए। रुग्णदशा मे दोष नही माना गया[1]। तथापि वह अपवाद मार्ग है और यावच्छक्य मुनि को अपवाद और प्रायश्चित्तीय मार्ग नही लेना चाहिए। पिच्छि अप्रतिलेखन गुण से युक्त है किन्तु कमण्डलु मे सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति होती रहती है अत. उनके निराकरणार्थ एक पक्ष में उसे बाहर-भीतर से प्रक्षालित करते रहना चाहिए। यदि एक पखवाड़े के पश्चात् भी कमण्डलु का सम्प्रोक्षण नहीं किया गया तो प्रतिक्रमण तथा उपवास लेना होगा[2]।' इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं जो पिच्छिग्रहण की मर्यादा का निरूपण करते हैं और वैसे भी हैं जो अवधिज्ञानादि विशेष स्थितियो मे इसकी आवश्यकता का सर्वथा निराकरण करते है तथा इस पर उत्पन्न हुए व्यामोह की 'यावच्च आर्तरौद्र तावन्न मुंचति' – कहकर भर्त्सना भी करते है। इन्हे परस्पर विरोधी नही मान सकते। क्योंकि जो पिच्छिकमण्डलुग्रहण की आवश्यकता का निरूपण करते हैं वे मुनिचर्या के विधिपरक सूत्र है और सम्यक् जिनलिग को प्रमाणित करते है किन्तु पिच्छिग्रहण मात्र से मोक्ष नही होता, अथवा पिच्छिकमण्डलु पर आसक्तिभाव नही रखना चाहिए – इत्यादि प्रतिपादन करनेवाले सूत्र है, वे मुनि के व्यामोहनिवर्तक है। हो सकता है, मोह तथा अज्ञान के प्रभाव से मुनि को अपने पिच्छिकमण्डलु पर व्यामोह उत्पन्न हो जाए या शास्त्रज्ञान के अभाव मे अथवा मूढ आग्रह से वह

---

१ 'उच्छीर्षस्य विधानेऽपि प्रतिलेखस्य हृच्छदे।
मस्तकावरणाद् देयं कल्याणं वा न दुष्यति ॥' – प्रायश्चित्त, ७५.

२. 'शश्वद् विशोधयेत् साधुः पक्षे-पक्षे कमण्डलुम्।
तदशोधयतो देयं सोपस्थानोपवासनम् ॥' – प्रा० समुच्चय, ८८.

पिच्छि को ही इतना महत्त्व देने लगे कि – 'बस ! पिच्छि मिल गई, मानो मोक्ष मिल गया' – और ऐसा मानकर सम्यक्चारित्रपालन में शिथिलाचारी हो जाए, ऐसी स्थिति में उसे इन गाथाओं, श्लोकों तथा सूत्रों से संवित् मिलनी चाहिए कि पिच्छिग्रहण करने मात्र से कोई सम्यक्त्वी नहीं बन जाता[१]। सर्वस्वत्यागी त्यागी के व्रतों की निर्दोष रक्षा के लिए ही इन निषेधसूत्रों का निर्माण किया गया है। क्योंकि परिग्रह का अर्थ विशालसम्पत्ति से ही गतार्थ नही होता, एक सूई भी मूर्च्छा (व्यामोह) का कारण हो सकती है और वह सूची का अग्रभाग भी मूर्च्छा-कारक होने से परिग्रह कहा जाएगा – 'मूर्च्छा परिग्रहः' – यह सूत्र उपादानों की विपुलता को ही परिग्रह नही मानता, अपितु जिस वस्तु के लवमात्र ग्रहण से मूर्च्छा का उदय हो, वही परिग्रह हैं। तब व्यामोह होने से पिच्छि भी मुनिचर्या की साधिका न होकर प्रत्यवायकारिणी हो सकती है। परमात्मप्रकाश की उक्ति है कि – 'चेला-चेलियो का परिवार बढ़ाकर, पुस्तको का प्रभूत सग्रह कर अज्ञानी को हर्ष होता है। किन्तु जो ज्ञानी है, वह इन परिग्रहों से शरमाता है तथा इन्हे राग और बन्धकारण मानता है। यदि त्यागी का मन चेला-चेलियों, पुस्तको, पिच्छि-कमण्डलुओ, श्रावक-श्राविकाओ, अर्जिका-क्षुल्लक-ऐलक-परिवारो मे तथा चौकी-पट्टे-चटाई आदि मे उलझा रहा तो इनको लेकर रातदिन उसे आर्त-रौद्र ध्यान मे फँसना पड़ेगा। न निराकुलचर्या हो सकेगी न स्वाध्याय और सामायिक। जिस आत्मकल्याण के लिए मुनिदीक्षा ली, वे उद्देश्य कही मूर्च्छाओ मे खो जाएगे[२]। ये परिग्रह त्यागी का पतन कराने मे सहायक होकर उसे आत्ममार्ग से विस्मृत कर सकते है। त्यागी और रागी के मार्ग भिन्न-भिन्न है। प्रसगवश यहां यह लिखना अवसरोचित होगा कि त्यागियो को धनसम्पन्न तथा स्वल्पवित्त, विशेष अथवा सामान्य श्रावकों, जनो के आगमन पर अपने को अधिक गौरवशिखरारूढ नही मानना चाहिए। उनका समभाव ही लोककल्याणकारक है। ऊचे-नीचे आसनों की व्यवस्था तो राजपरिषदों मे ही बहुत है। स्वय भूमि पर, शिलातल पर अथवा चटाई पर बैठनेवाले मुनियों के पास आनेवाले को गद्दी-मसनद (गाव-

---

१. 'पिच्छेण हु सम्मत्त करगहिए चमरमोरडबर ए।
समभावे जिणदिट्ठ रायाई दोसचत्तेण ॥' – ७।७ गाथा, २८.

२. 'चेल्ला चेल्ली पुत्थियहिं तूसइ मूढ णिभंतु।
एयहिं लज्जइ णाणियउ बंधह हेउ मुणतु ॥
चट्टहिं पट्टहिं कुंडियहिं चेल्लाचेल्लियएहिं।
मोहु जणेविणु मुणिवरह उप्पहि पाडियतेहिं ॥' – परमात्मप्रकाश, ८८–८९.

तकिया) या मृदुल मखमली गलीचों की अपेक्षा नहीं होती। वह तो मुनिचरणों में उपासीन होकर, त्यागी के चरणों की धूलि ललाट पर लिम्पन कर प्रसन्न होता है। उसके लिए सम्भ्रम के उपकरण प्रस्तुत कर उसके आगमन को अतिरंजित बनाना वीतरागमुनिचर्या से विपरीत है। श्रमणों के आराध्य भगवान् के लिए तो स्तुति के छन्द लिखते समय 'इन्द्रः सेवां तव सुतनुतां' – कहा गया है। विगौरव का दोष जानबूझकर नहीं लेना ही श्रेष्ठ है। इस विषय मे सिकन्दर और दिगम्बर मुनि के साक्षात्कार का एक प्रसग इतिहासप्रसिद्ध है। त्यागी को उस आरण्यक नदी के समान होना चाहिए जिसके तट पर हाथी पानी पीने आए तो वह हर्षित होकर किनारों पर उच्चलित नही होती और हरिण आए तो मन छोटा नहीं करती। उसके दो पाटों की अजलि का नीर सबके लिए समान सुलभ है। मुनि-त्यागी का स्थान सम्राटों से भी ऊपर है। सम्राट् भी त्यागी के आशीर्वाद की अपेक्षा करता है और उससे ऐश्वर्य, विभूति, कृपाप्रसाद चाहता है। किन्तु मुनि निरपेक्ष है। यदि ससार आशा का दास है तो त्यागी ने आशा को दासी बना लिया है। वे मुनि मनुष्यपर्यायी होते हुए भी मनुष्यकोटि से ऊपर हैं। चिन्ता को वशीभूत करने से उन्हें सिद्ध (तपस्वी) कहा जाता है। 'जे नर चिन्ता बस करहि ते माणस नहि सिद्ध' – ऐसा कहते हुए उनका स्तवन किया गया है और इतने पर भी वे केवल 'बाह्यग्रन्थिविहीनाः' ही हो तो क्या कहा जा सकता है? वह तो अगार मे विद्रुम का भ्रम ही कहा जा सकता है।

प्रस्तुत निबन्ध 'पिच्छि और कमण्डलु' मुनियों के द्वारा धारणीय शौच-सयमोपकरण-विषयक है और ज्ञानोपकरण के रूप मे शास्त्र रखने का, स्वाध्याय-तत्पर रहने का आदेश शास्त्रो मे दिया गया है अतः लेखसमाप्ति से पूर्व यह आवश्यक है कि 'मूलाराधना' की उन पक्तियो को स्मरण कर लिया जाए, जिनमे शिक्षा (स्वाध्याय) का आग्रह करते हुए आचार्य ने कहा है कि – 'प्राण जब कण्ठगत हो तब भी मुनि, तपस्वी को प्रयत्नपूर्वक आगमस्वाध्याय करना चाहिए।' आचार्य श्रीकुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है – 'आगमचक्खू साहू' और 'अज्झयण-मेव झाणं' – साधु की आंखे उसका शास्त्र है। जहा उसे चर्या में सशयविकल्प हों, तत्काल शास्त्रों की शरण लेनी चाहिए। शास्त्र बताएंगे कि वह क्या करे? क्या न करे? और त्यागी का ध्यान उसका अध्ययन है। अध्ययन द्वारा ही वह सम्यक्त्व के विषय मे जानकारी प्राप्त करता है। शास्त्रों की सीप से सम्यक्त्व के मुक्ताफल मिलते हैं। तन्मयता बढ़ती है और ज्ञानसम्पन्न होने से

स्व-पर का बोध होता है। इस प्रकार ध्यान द्वारा जो परिणामविशुद्धि होती है वही शास्त्रस्वाध्याय से सिद्ध होती है। यही सोचकर आचार्य कहते हैं 'अध्ययनम् एव ध्यानम्'—यहां 'एव' शब्द निश्चयपरक है। वास्तव में जिनसरस्वती के दर्शन करनेवालों ने तन्मय होकर अध्ययन में ही ध्यान तथा समाधि प्राप्त की है। जिन्होंने दुस्तर संसारवारिधि को तैरकर पार जाने के लिए पिच्छिकमण्डलु तथा शास्त्र तीन उपकरण एवं सम्यक्त्वपूर्वक दर्शन-ज्ञानचारित्ररूप त्रिरत्नों को धारण कर लिया है मानो उसने जन्म-पुनर्जन्म की गति रोकने के लिए वज्रमय तिहरी प्राकारभित्तियो का निर्माण कर लिया है। पिच्छि शिवमार्ग की बुहारी है, कमण्डलु सिंचन करनेवाला है और शास्त्र शिवमार्ग की दिशाबोध की ध्रुवसूची (कम्पास) है। उस दुर्गम पथ पर पहुँचनेवाला तो कर्मरजोविमुक्त आत्मा ही है, इति शुभम्।'

शब्द और भाषा

शब्द का अर्थ ध्वनि है और इस निरुक्ति से शब्द ध्वन्यात्मक है। इस ध्वनि को अपने व्यावहारिक स्थैर्य के लिए मानव ने आकृतिबद्ध कर लिया है, अतः शब्द वर्णात्मक है। तर्कशास्त्रियो ने इसी बात का निर्वचन करते हुए लिखा है – 'शब्दो द्विविधः। ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च। तत्र ध्वन्यात्मको भेर्यादौ, वर्णात्मकश्च सस्कृतभाषादिरूपः' – वस्तुतः ध्वनि शब्द का स्फोट है और वर्ण उसकी आकृति-परक रचना है। मानवजाति का लोकव्यवहार परस्पर बोलकर अथवा लिखकर चलता है। वह अपने विचारो को लिखकर स्थिरता प्रदान करना चाहता है। किसी एक समय वाणी द्वारा प्रतिपादित अथ च चिन्तन मे आये हुए भाव किसी अन्य समय मे विस्मृत हो जाते है इसी विचारणा ने लेखनप्रक्रिया का आरम्भ किया। इस लेखनप्रणाली से विश्व के किसी भी भाग पर स्थित मनुष्य अपने सन्देश को दूरातिदूर स्थानो तक पहुँचा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि लिपिमयी भाषा का विकास न हुआ होता तो मनुष्य साक्षात् वार्तालाप तो कर सकता था किन्तु उन्हें स्थिरता प्रदान नही कर सकता था। इस महत्त्वपूर्ण शब्द-स्थैर्यकरणविधा को जिस दिन लिखितरूप मिला, लिपिशक्ति प्राप्त हुई, वह दिन मानवजाति के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण रहा, इसमे कोई संशय नही। अब मानव अपने विचारो का सकलन कर सकता था, अपनी वाणी को स्थिरता दे सकता था और दूर अथवा समीप प्रदेशो तक अपनी आवाज पहुँचा सकता था। सिद्धान्त-वाक्यो के विस्मरण का लिपिरचना के बाद कोई भय नही रहा। परन्तु कालान्तर मे मौखिक तथा लिखित भाषा मे परस्पर प्रतिष्ठा को लेकर कलह उत्पन्न हो गया। लिपिरचना के पूर्वसमय मे 'उक्ति' को प्रतिष्ठा प्राप्त थी और महान् उपदेशको, आचार्यों के आशय को उदाहरणरूप मे प्रस्तुत करते समय 'उक्तम्' – जैसा कि अमुक ने कहा है, कहकर अपने भाषण को समर्थन दिया जाता था किन्तु लिखने की शक्ति मिलने पर 'मौखिक' का महत्त्व समाप्तप्राय हो गया और जिह्वा की प्रमाणवत्ता हाथों को प्राप्त हो गई। हाथ से लिखा हुआ प्रामाणिक माना जाने लगा और मुख से कहा हुआ लिपिरूप में प्रत्यक्ष (आँखों के समक्ष) न होने से अविश्वस्य हो गया। अस्तु।

जैनमत के अनुसार भगवान् आदिनाथ ने अपनी ब्राह्मी तथा सुन्दरी नामक दो पुत्रियों को वर्ण और अंक विद्या का उपदेश दिया था। इसीलिए भारतीय लिपि तथा भाषा को ब्राह्मी और भारती कहा जाता है। वैदिकों के अनुसार ब्रह्म ने चिन्तन किया – 'एकोऽहं बहु स्याम्' 'मैं एक हूँ और अनेक हो जाऊं' – इसी इच्छाशक्ति ने शब्दरूप मे प्रथम जन्म लिया अतः वह ब्रह्मभाषित होने से ब्राह्मी कही गई। भाषाशास्त्रियों का मत है कि मनुष्य आरम्भिक अवस्था में छोटी-छोटी सामान्य ध्वनियों से काम चलाता था। जैसे किसी को आह्वान करना (पुकारना) हुआ तो 'ए' 'ओ' कहता था। पानी की इच्छा हुई तो 'क' कहता था, आकाश का संकेत करना होता तो 'ख' कह देता था। आश्चर्य व्यक्त करने के लिए 'ई' 'उ' पर्याप्त था। इस प्रकार आरम्भ मे लघुतम वर्णध्वनियों से अभिव्यक्ति के मार्ग पर बढ़ रहा था। संस्कृत भाषा मे ये एकाक्षर शब्द आज भी मूल अर्थ मे सुरक्षित हैं। उस प्राचीनतम समय का 'ऐ-ओ' अयि तथा अये बन गया है। इसी प्रकार 'च' 'न' 'ह' 'र' 'ल' – इत्यादि एकाक्षर शब्दों को लिया जा सकता है। कालान्तर में शब्द एकाक्षर से द्वयक्षर, त्र्यक्षर और बह्वक्षर बना। तब मिश्र, यौगिक आदि अनेक ध्वनियों का विकास हुआ। आज मानवमात्र के पास एक न एक भाषा है जिसमे वह अपनी अभिव्यक्ति को मूर्त करता है। इन ऊपर से पृथक् प्रतीयमान भाषाओ के उपलब्धिस्रोत अधिकांशतः अपने मानवपरिवार-सामीप्य की सूचना दे रहे हैं। भाषाओं का यह साम्य उनके आभ्यन्तर जीवन पर है। दिन, वार, पक्ष, मास, वर्ष, सख्या तथा इसी प्रकार के अन्य साम्य विश्वभर मे है। सर्वत्र वर्ष-गणना के दिनो मे, मास सख्या में, अको की शतकपरम्परा मे किसी अतिपूर्व-कालीन एकानुबन्ध का सकेत है। यह एकानुबन्ध सर्वप्रथम किस भाषा का ऋणी है, यह निश्चय से नही कहा जा सकता। तथापि आधुनिक 'भाषाविज्ञान' के मनीषियो ने यह स्वीकार किया है कि 'ऋग्वेद' सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ है और उसीकी भाषा प्राचीनतम है। यह भी भाषाविदों का अभिमत है कि सम्पूर्ण मानवपरिवार कभी एकभाषाभाषी था और अपने कौटुम्बिक आयामो की बिस्तृति के साथ भूमण्डल पर फैलता गया। वह मूलभाषा उनके साथ विश्व मे फैल गई और दीर्घकाल के अनन्तर उन-उन परिवारों के देश, काल, सस्कार तथा परिस्थितियों के परिवेष को स्वीकार कर परिवर्तित होती गई। जैसे आज के भूगर्भविशारद पृथ्वी की गहराइयों का उत्खनन कर प्राप्त वस्तुओ से प्राचीन इतिहास का पता लगा रहे हैं और टूटी शृंखला की ऐतिहासिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक परम्पराए जोड़ रहे है, उसी प्रकार भाषाविज्ञान के आचार्य भी बनते,

बदलते, घिसते, घिसटते, खुरदरे, चौकोर और लम्बोतर होते शब्दों की मूल आकृति को जानने के लिए कृतोद्यम हैं। उन्हें इस बात में सफलता भी मिली है। प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, मागधी, अर्धमागधी, हिन्दी, मराठी, गुजराती, राजस्थानी आदि भारत की प्रादेशिक भाषाओं में संस्कृत भाषा के तद्भवरूपों की प्रचुरता है और विदेशी भाषाओं में भी संस्कृत के सहस्रों-सहस्रों शब्द विद्यमान है। सस्कृत की व्याकरणसम्मत प्रक्रिया आज भी उनमें प्राप्त है। यद्यपि उन-उन देशी-विदेशी भाषाओ के साहित्य अपने स्वतंत्र मौलिक चिन्तन के साथ लिखे गये हैं तथापि उनका शब्दविधान संस्कृत का ऋणी है। प्रकृति-प्रत्ययों की शैली ने संस्कृत को जो उर्वरता की पुष्कलक्षमता प्रदान की है, वह अद्भुत है। शब्दनिर्माणशक्ति की साभिप्राय प्रक्रिया संस्कृत व्याकरण को प्राप्त है। सिद्ध है कि भारतीय तथा भारतीयों से इतर भाषाओं को संस्कृत ने पर्याप्त जीवन दिया है। आज राष्ट्रभाषा पद पर विराजमान हिन्दी अपने को संस्कृत से विश्वभाषाओं की तुलना मे सर्वाधिक सम्पन्न कर सकती है। सस्कृतभाषा की शब्दनिर्माणशक्ति को एक झलक यहा प्रस्तुत की जा रही है।

शब्दनिर्माण करते हुए उन-उन निर्माताओं का ध्यान वस्तु के गुण, स्वाद, आकृति, स्वभाव, वश, स्थान, प्रकृति इत्यादि अनेकागों पर गया और फलतः उन्होंने जो शब्दरचना की, वह वस्तुविज्ञान के इतिहास मे आज भी अपूर्व है तथा प्राचीनो की शोधमनीषिता को बताती है। गुण के आधार पर निर्मित शब्द 'धात्री' है। धात्री ऑवले को कहते हैं। धात्री का अन्य अर्थ धाय (उपमाता) है। माता के अभाव मे जो शिशु को अपना स्तन्य पिलाकर जीवन प्रदान करती है, उसे धात्री कहते हैं। आँवला मा के स्तन्य का विकल्प ही है, उतना ही शक्तिदाता एव पोषक है, इस गुणानुसन्धान के बाद आयुर्वेद के मनीषियों ने आमलकी को 'धात्री' कहा। स्वादपरक नामों मे 'मधुयष्टि' जिसे मुलैठी कहते हैं, प्रसिद्ध है। मधुयष्टि का अर्थ है, मीठी लकड़ी। और इस नाम से कोई भी उसे पहचान सकता है। मण्डूकपर्णी तथा कृष्णाक्षी क्रमशः मंजिष्ठा तथा गुंजा (चिर्मी) को कहते हैं। यह आकृति देखकर निर्मित संज्ञा है। मेढक जैसे पत्तोंवाली मण्डूकपर्णी और काली आंखवाली कृष्णाक्षी। स्वभाव का निरूपण करनेवाले शब्दो मे 'चन्दन' नाम लिया जा सकता है। चन्दन शब्द का अर्थ है आह्लाद देनेवाला। चन्द्रमा, कपूर तथा पाटीर वृक्ष के अर्थ मे इसका प्रयोग किया जाता है। 'चन्दनं शीतलं लोके' यह लोकोक्ति भी है जो चन्दन के शीतल स्वभाव को बताती है। वंशपरिचायक

शब्दों में 'राघव' शब्द है। रघुकुल मे उत्पन्न श्रीरामचन्द्र इसका अर्थ है। स्थान अथवा क्षेत्र का अर्थबोध करानेवाले शब्दों में कमल के वाचक 'नीरज' शब्द को लिया जा सकता है। प्रकृतिपरक शब्द 'पुनर्भू' है। नाखून तथा केश अर्थ में 'पुनर्भू' का प्रतिपादन होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाला। नाखून काटने पर भी बार-बार बढ़ते रहते हैं इसलिए इन्हें पुनर्भू कहा। इस प्रकार विविध दृष्टिकोण से शब्दरचना की प्रक्रिया तैयार की गई है। जैसे परिवार में एक ही व्यक्ति को अपेक्षाभेद से पिता, पुत्र, कहते हैं उसी प्रकार शब्द भी अपने गुण-स्वभाव-प्रकृति आदि से निष्पन्न होता है। चन्द्रमा अपनी शीतलकिरणों की अपेक्षा 'शीतरश्मि' है और अपने बिम्ब मे दिखायी देनेवाले धब्बे की अपेक्षा 'कलंकी, शशलक्ष्मा' है। वह कभी क्षीण और कभी पूर्ण होता है अत. 'क्षयी' है। चन्द्रमा के उदय से कुमुद खिल जाते है अतः इसे 'कुमुदबान्धव' कहते हैं। इसी प्रकार भगवान् महावीर के वर्द्धमान, सन्मति, अतिवीर तथा वीर नामों की रचना की गई है। शब्दरचना की अनन्त सम्भावनाओं से सस्कृत वाङ्मय भरा हुआ है। शब्दों का यह परिचय-अवगाहन दिङ्मात्र है और शब्दरचना के लिए जिज्ञासा रखनेवालो को प्रेरणार्थक है अन्यथा यह एक विषय एक पुस्तक हो सकता है। शब्दों के रहस्यपूर्ण रचनाकौशल की अधिक जिज्ञासा व्याकरण और भाषाविज्ञान से तृप्त की जा सकती है।

भाषा ने मनुष्य की अनेक समस्याओ का समाधान किया है। भौतिक और आत्मिक जगत् मे भाषा के राजमार्ग क्षितिज तक चले गये है। भाषा के रथ पर बैठकर भाव यात्रा करते है। भाषा भावों के आभूषण पहनकर महासम्राज्ञी की गरिमा धारण करती है। भावो के विना भाषा विधवा है और भाषा के विना भाव अमूर्त हैं। इनका परस्पर सहचारिभाव है। भावो के विना भाषा चल नहीं सकती, आखिर वह तो खाली गाडी के समान है, यात्री तो भाव है, जिन्हे लेकर शब्दगाडी को चलना होता है। इस विचारणा से भाषाओं के साथ समन्वय तथा समताभाव रखनेवालों मे श्रमण मुनि और जैनपरम्परा आग्रहशील रही है। जैसे कोई तृषाक्लान्त व्यक्ति दूर तक भरे हुए जलाशय के जलविस्तार को नही देखता किन्तु अपनी अजलि मे आनेवाले (उतने ही) पानी को ग्रहण करने का ध्यान रखता है उसी प्रकार उन्होने भाषाओ को भावग्रहण का माध्यम मात्र माना, उसकी सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि जातिविशेष पर मोह नहीं किया। उनका उद्देश्य लोक मे धर्मप्रभावना रहा और इसलिए लोक जिस भाषा को समझते हों, उसी का आधार लेकर उन्होंने अपने धार्मिक भावो को अभिव्यक्ति दी। कभी वे

संस्कृत की रत्नशिविका में बैठकर चले तो कभी प्राकृत के पल्यंक पर विराजमान हुए। कभी अपभ्रंश की बीथी को धन्य किया तो कभी प्रान्तीय भारतियों को समृद्ध किया। इसके प्रमाण के लिए जैनसाहित्य के द्रष्टाओं, दर्शनेच्छुओं को तमिल में लिखित जीवन्धर चरित, कन्नड़ में पम्प कवि का आदिपुराण, अपभ्रंश में स्वयम्भू महाकवि का पउमचरिउ, प्राकृत मे धवला, जयधवला और गोम्मटसार, मराठी में जनार्दन कवि का श्रेणिक पुराण और अन्यान्य विविधभाषी ग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिए। जैन श्रमण-परम्परा ने भारत की प्रान्तीय भाषाओं और प्राचीन धार्मिक भाषाओं का समत्वयोग से उपबृंहण किया है। यह दृष्टिकोण असाधारण है और लोकभावना को सम्मान देनेवाला है। वस्तुतः जिनके धर्ममय विश्वासों पर भगवान् महावीर के सर्वोदयी तीर्थ के संरक्षण, सवर्धन का महान् दायित्व है उन्हें विविधभाषाओ से परिचय रखना ही चाहिए। यही उनकी वीतरागता का प्रमाण है कि उन्हें किसी भाषा से राग नही, आग्रह नही। बहुभाषाविद् होने का एक लाभ यह भी होता है कि धर्मोपदेष्टा अपनी बात बहुतो तक पहुँचा देता है और उनकी बात को सुन-समझ लेता है। नित्य परिभ्रमण करनेवाले मुनियो के लिए तो यह बहुज्ञता और अधिक महत्त्वपूर्ण है।

देश-देश मे अलग-अलग भाषाएं है। जो जिस देश का निवासी है वह उसी देशकी भाषा बोलता है, यह स्वाभाविक है। भाषा मे अपनी सस्कृति का इतिहास अकित है और आत्मीयता के सूत्र लिखे हैं। अपनी-अपनी मातृभाषा के प्रति व्यक्तियों का आग्रह सहज होता है। किन्तु आग्रह को इतनी रूढता तक नही ले जाना चाहिए कि वह वैर, कलह और वैमनस्य की भूमि बन जाए। विश्व के सभी मनुष्यो का काम भाषा से चलता है। वह भाषा उसके व्यवहारसाधन मे उपयोगी है किन्तु साध्य नही। जब कोई उसे साध्य मानकर स्वयं साधन बन जाता है तो कलह का सूत्रपात हो जाता है। किसी व्यक्ति को वाष्पयान और किसी को वायुयान पसन्द है। दोनो अपनी-अपनी रुचि के वाहनो से यात्रा करते हैं। किन्तु गन्तव्य स्टेशन पर पहुँचते ही वे दोनो वाहनों को भूलकर अपने घर चले जाते हैं। यही भाषाओं की स्थिति है। भावों को व्यक्त करने के उपरान्त भाषाओं की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। अतः भाषाएं साधन हैं और व्यक्ति उनसे उपयोग लेनेवाला, उपयोक्ता है। वाहन पर सवार व्यक्ति अपनी मंजिल तक पहुँच जाता है किन्तु जो वाहन को अपने ऊपर बैठाकर चलता है वह वाहन के भार से मध्यमार्ग में ही थककर बैठ जाता है। इतना होने पर भी राष्ट्र के लिए भाषा

एक सफल माध्यम है। भाषा की सहायता से राष्ट्र विस्तार ग्रहण करता है। समानभाषाभाषी के हृदय में दूसरे समानभाषी के प्रति व्यवहारसौकर्य तो होता ही है, प्रेमभाव भी उत्पन्न होता है। अतः राष्ट्रीय स्तर पर किसी एक भाषा का निर्धारण आवश्यक है। वह भाषा अधिकतम जनों की भाषा होनी चाहिए। उसके माध्यम से राष्ट्र के पूर्व-पश्चिम, दक्षिणोत्तर प्रान्तों के लोग समीप आएंगे। एक सशक्त राष्ट्रभाषा के विना केन्द्रसंस्था का राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार स्फीत नही हो सकेगा। विदेशों में राष्ट्रीय स्वर को किसी वैदेशिक अथवा प्रान्तीय भाषा द्वारा सम्मानित नही किया जा सकता। 'सगच्छध्व, संवदध्वम्, सं वो मनांसि'— इस प्राचीन राष्ट्रीय सूक्त मे साथ चलने, साथ बोलने तथा साथ-साथ मानसिक समत्व रखने का निर्देश किया गया है। यह राष्ट्र के सहअस्तित्व के लिए नितान्त उपयोगी है। अपनी टेढी चाल से, वक्रगति से राष्ट्रीय राजमार्ग को विकृत नहीं करना चाहिए। प्रायः राष्ट्रभक्ति का परिचय व्यक्ति की भाषा से भी होता है।

भाषा लोकव्यवहार में आकर परिमार्जित तथा स्फीत होती है। भाषा की समृद्धि उसके उपयोक्ताओं पर है। उपयोक्ता जिस क्षेत्र मे प्रगतिशील होंगे, भाषा और उसकी शब्दनिधि उस विषय मे अधिक प्राजल तथा अधिकारसम्पन्न अभिव्यक्तिपूर्ण होगी। लोकजीवन में आकर ही शब्द विविध रूप ग्रहण करते हैं। कभी वे शीर्षासन करने लगते हैं और कालान्तर मे वैसे ही रह जाते हैं तो कभी गेहुँओं मे मिले यवकणों की तरह किसी अन्यार्थक शब्द के साथ मिलकर स्वयं अन्यार्थक हो जाते हैं। वैयाकरणों को यह परिवर्तित, विकृत अथवा अर्थान्तर-परिणत रूप बड़ा प्रिय लगता है। वे ढू ढ़-ढू ढ़कर ऐसे शब्दों को लोकव्यवहार से ग्रहण करते हैं तथा उस पर अपनी मान्यता की मुहर लगा देते है। जैसे 'सिह' शब्द 'हिंस' से बना है। हिंसाजीवी होने से पूर्वसमय मे इसे 'हिंस' कहते रहे होंगे। कालान्तर मे वर्णविपर्यय हो गया, और हिंस शीर्षासन करने लगा, सिह हो गया। 'देवानां प्रियः' का अर्थ है देवों का प्रिय। प्रियदर्शी अशोक सम्राट् को 'देवानां प्रिय' कहते थे। कालान्तर मे इसका अर्थ 'मूर्ख' किया जाने लगा। सम्भव है, अशोक द्वारा बौद्धधर्म स्वीकारने से उसकी प्रशसा को निन्दा में प्रचलित कर दिया गया हो। पाणिनि व्याकरण के 'षष्ठया चानादरे' सूत्र का उदाहरण 'देवानां प्रिय' इति च मूर्ख, दिया गया है। वस्तुतः देव और प्रिय दोनों शब्दों का मूर्ख अर्थ नहीं होता। तुलसीदासजी ने अपने एक दोहा में लिखा है – 'रामचरण छहतीन रहु दुनिया से छत्तीस' – अर्थात् रामभक्ति करते समय छह और

तीन के अंकों के समान रहो – ६३ तिरेसठ का यह रूप परस्परोन्मुखी है। अतः अर्थ किया गया है कि रामचरणों के सदा सम्मुख रहो और संसार से ३६ अर्थात् तीन और छह के अंकों के समान नित्य विमुख रहो। ये रति और विरति के अर्थ भाषा की ऊर्जा को, उसकी नित्यनवग्रहणसमर्थ प्राणशक्ति को सूचित करते हैं। वैयाकरणों का एक प्रसिद्ध श्लोक है – कि शब्द का अर्थ करते समय व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति और सिद्धपद का सामीप्य – इतने अनुबन्धों का ध्यान रखना चाहिए। अन्यथा अर्थ विपरीतार्थक भी हो सकता है। 'अर्थ' प्रकरणं लिंग वाक्यस्यान्यस्य सन्निधिः' – लिखते हुए एक अन्य श्लोक मे भी शब्दशक्ति का निरूपण किया गया है। प्रकरण जाने विना शब्दमात्र से अर्थ का अभीष्टदोहन नही किया जा सकता, इसका उदाहरण है सैन्धव शब्द। सैन्धव के दो अर्थ हैं; अश्व तथा लवण। यदि वक्ता भोजन की थाली पर बैठा है और 'सैन्धव लाओ' कहता है तो प्रकरण देखकर उस समय नमक लाना सगत है और वस्त्र धारणकर यात्रा के लिए सन्नद्ध है तो भृत्य को उचित है कि वह अश्व लावे। प्रकरण जाने विना यदि वह दोनों अवसरो पर विपरीत अर्थ करे तो शब्द अपनी स्वाभाविक शक्ति का प्रतिपादन नही कर पाएगा। बहुत-से शब्द संस्कृत भाषा के तत्समरूपो से विकृत होकर विदेशी भाषाओं मे घुलमिल गये है। जैसे डाटर (दुहितर्), होम (हर्म्य), क्वार्टर (कोटर), मैन (मनु), नियर् (निकट), लोकेट (लोकित), थ्री (त्रि), डोर (द्वार) इत्यादि। इसी प्रकार विदेशी भाषाओ के रूप भी भारतीय भाषाओं मे रच-पच गये है।

ये शब्द रूप, रस, गन्ध, वर्ण युक्त है, पौद्गलिक हैं। परंतु पुद्गलपर्यायी होने पर भी इनकी स्थिति महत्त्वपूर्ण है। अपराजित मंत्र 'णमोकार' शब्दरूप है, भगवान् के स्तुतिपद शब्दों की सोद्देश्यरचना है। आशीर्वाद और अभिवादन का शिष्टाचार शब्दमाध्यम से पूरणीय है। परिवार के वात्सल्य अग शब्दसहयोग से निष्पन्न होते है। पत्नी, माता, पुत्री आदि शब्द न होते तो पारिवारिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। आगम-शास्त्र कुछ शब्दो के ही अर्थानुगामी विन्यास है। विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों की सज्ञाएं शब्दबद्ध हैं। शब्दों का सावधानी से चयन कर हम दूसरों के मुख पर स्मित के फूल खिला सकते है और अवमानना के शब्दों से नेत्रो मे अग्निज्वाला का अविर्भाव भी कर सकते है। कतिपय अवसर-प्रयुक्त शब्द जन्मभर के लिए मैत्री में बाँध लेते हैं और दुष्प्रयुक्त होने पर वैर-विरोध उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रकार अमृत और विष जिह्वा मे बसे हुए है। जिसके पास मधुरभाषा है, मीठी बोली है, वह पशु-पक्षी भी मनुष्य को प्रिय लगता है। यह

जानकर मधुरवाक् की शक्ति बढानी चाहिए। जो सदैव स्मितपूर्वक बोलता है, उसके सभी मित्र बन जाते हैं। जो बहुत-से लोगों के सम्पर्क में आते हैं, उन्हें वाणी को नवनीत मे चुपड़कर स्निग्ध रखना चाहिए। किसी सूक्तिकार ने कहा है–'बोलबो न सीख्यो, सब सीख्यो गयो धूल में' यदि किसी ने बहुत सीख लिया किन्तु बोलना नहीं सीखा तो पढा-लिखा सब धूलि मे मिल गया। बोलना, अर्थात् वाचात्मक शब्द-भारती का विशिष्टचयन कर लोक को प्रसन्न, मुग्ध कर देना, बडा कठिन है। काक निम्ब वृक्ष पर बैठता है और कटु बोलता है, कोकिल रसाल को चुनती है और रससिक्त वाणी बोलती है। शब्दो के उचित व्यवहार पर सुखी जीवन का निर्माण होता है। जो वाणी पर वारण रखता है, लोग उससे त्रस्त रहते हैं। कीर्ति-जीवी को शब्दजीवी, अक्षरजीवी कहते है। पुरुषायु समाप्त करने पर भी, दिवगत व्यक्ति अक्षरो मे जीवित रहता है। 'कीर्तिर्यस्य स जीवति'–जिसकी कीर्ति लोक में विश्रुत है, वह मरकर भी जीवित है। जिसे शब्दो ने धिक्कार दिया, उसको तीन लोक मे यशस्विता प्राप्त नही होती। सम्यक्चारित्रशील को विद्वान्, त्यागी शब्दों द्वारा ही स्मरण किया जाता है। शब्द मे शृ गार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, बीभत्स, रौद्र, शान्त सभी रस समाहित है। मत्ररूप मे शब्द अचिन्त्य महिमशील है।

शब्दकोष के धनी विरले व्यक्ति होते है। बहुत-से तो एक-एक शब्द के लिए तरसते है। इस प्रकार कुछ व्यक्ति शब्दों की उपासना करते है और कुछ व्यक्तियो की उपासना के लिए शब्द स्वय प्रस्तुत होते रहते है। जैसे महाप्रभावी तपस्वियो के चरणस्पर्श का सभी को तुरन्त अवसर नहीं मिलता, उसी प्रकार उन समर्थ शब्दधनियों को अपनी विशाल शब्दसपत्ति मे से सभी का प्रयोग करपाना कठिन होता है। कवि धनजय ने इसी आशय का एक श्लोक लिखते हुए कहा है कि धनंजय ने चुन-चुन कर शब्दो को कोषबद्ध कर दिया है। उसके भय से पलायित शब्द तीनों लोक मे दौड़ लगा रहे है। वेदवाणी के रूप मे वे ब्रह्मा के पास चले गये, गगाध्वनि का ब्याज करते हुए हिमालय पर शकर के पास और क्षीरसमुद्र की कल्लोल-हुंकारों के मिष से केशव (विष्णु) के पास चले गये। धनंजय के भय से उत्पीडित शब्द फुंकार कर रहे हैं, मानो[1]। तात्पर्य यह है कि धनंजय के पास शब्दों की कमी नही है।

---

१ 'ब्रह्माण समुपेत्य वेदनिनदव्याजात्तुषाराचल–
स्थानस्थवारमीश्वर सुरनदीव्याजात्तथा केशवम्।
अप्यम्भोनिधिशायिन जलनिधेर्ध्वानोपदेशादहो
फूत्कुर्वन्ति धनजयस्य च भिया शब्दा. समुत्पीडिता॥'–

वह ब्रह्मा, विष्णु और महेश के पास जो शब्दसम्पत्ति है, उस सभी को जानता है। जो शब्द-शब्द को मोतियों के समान चुनते हैं वे गम्भीर शास्त्रसमुद्रों मे गहरी डुबकी लगानेवाले गोताखोर होते हैं। वे ही वाङ्मयप्रासाद को सँवारते है, भारती-मन्दिर में अर्चना के पुष्पोपहार समर्पित करते है।

भौतिक विज्ञान की सहायता से आज शब्दशक्ति नये-नये रूप में लोकव्यवहार का साधन बनी है। 'डाक' विभाग की कृपा से शब्द देश-विदेश मे पर्यटन करने लगे है। 'तार' से उड़ते हैं, टेलीप्रिंटर पर साकार होते है। संगीत के तारो पर थिरकते है। अभी ज्वालामुखियो के विस्फोट तक सोमित थे अब अणुआयुधो मे बन्द हैं और मानव की किसी भी क्षण की गई अबुद्धिमत्तापूर्ण कार्यवाही की प्रतीक्षा मे हैं। क्राकातोआ और विषूवियस से अधिक भीषण उद्घोष करनेवाले 'धडाके' इन बमो मे अकुला रहे हैं।

'श्रेधा जिनेन्द्रवचोऽमृतम्'—भगवान् जिनेन्द्र की वाणी को अमृत बताया गया है। जो अपने अस्तित्व से लोक मे जीवन सचारित करे, वह वाक् अमृत ही है। यह शब्द, शब्दमय वाक् प्राणिमात्र मे बन्धुत्व स्थापन करनेवाली है। इस भाषा के अमृतपात्र मे विश्व के रसपिपासु अधर डूबे हुए है।

वक्तृत्व-कला

वक्तृता से वक्ता का पता चलता है। वाक् वक्ता के व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करती है। कौन क्या है, इसका परिज्ञान उसकी वाणी से होता है। मनुष्य में अभिव्यक्ति की अदम्य इच्छा होती है। वह जिन संस्कारों मे पालित-लालित होता है, उन्ही को अपने व्यवहार से प्रकट करता है। यह सिद्धान्त केवल वक्तृत्व पर ही चरितार्थ नहीं होता, अपि तु व्यक्तिमात्र के सर्वांग आचरणों मे परिलक्षित होता है। वाणी से उसकी विद्वत्ता, आचरण से उसकी संस्कारिता, व्यवहार से उसका स्वभाव, खान-पान से धार्मिक विवेक और सगति से उसके गुण-दोषों का सहज ही पता लग जाता है। जो विद्वान् है वह हीनभाषी, अपशब्दप्रयोक्ता, कटुवादी नही होता है। शब्दो के विपुल भण्डार एक दूकान के समान है जहाँ खरीदार अपनी पसन्द के शब्दो को ग्रहण करता है। वह वहाँ किस वर्ग के शब्द चुनता है, इतने मात्र से वह क्या है, इसका बोध हो जाता है। क्योकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि का आभरण करता है। मन प्रियवस्तु की प्राप्ति के लिए हाथ बढाता है। जलाशय मे राजहस और शूकर दोनो प्रवेश करते है। राजहस उसके निर्मल नीर पर तैरता है और शूकर उसके पक मे प्रवेश कर उसी का विलोडन करता है। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार निर्मलजल और पक दोनो को प्रिय है। इसी को लक्ष्यकर किसी नीतिविद् ने कहा है कि 'कासारेऽपि प्रविष्ट. कोल: कर्दम गवेषयति'– यह रुचिभेद ही व्यक्ति-व्यक्ति के व्यक्तित्व मे न्यूनाधिकत्व, अथवा अवरत्व-उत्तमत्व की श्रेणिया प्रसूत करता है। किसी कवि ने कहा है कि उच्चकुल मे उत्पन्न व्यक्ति की हथेली में (करतल मे) कमलपुष्प नही होता और किसी जारज सन्तान के शिर पर शृ ग नही उगता। सामान्य दृष्टि मे दोनो समान प्रतीत होते है किन्तु जब-जब उनमे से कोई वाणीप्रयोग करता है, तब तब उनके जाति-कुल का प्रमाण अपने आप प्राप्त हो जाता है[1]। शब्दराशि का भावाभिव्यक्ति के लिए उत्तम चयन अवचेता के उत्तम

---

१ 'कुलप्रसूतस्य न पाणिपद्म
न जारजातस्य शिरोविषाणम्।
यदा यदा मुञ्चति वाक्यवाण
तदा तदा जातिकुलप्रमाणम्॥'–

मन की सूचना है। एक गुरु के पास दो छात्र व्याकरण और साहित्य (काव्य) विषयों का अध्ययन करते थे। एक दिन उनकी भाषा-परीक्षा लेने के लिए गुरु ने सामने खड़े हुए निष्पत्र वृक्ष की ओर संकेत कर कहा– यहा सूखा पेड़ खड़ा है– इसका संस्कृतानुवाद करो। वैयाकरण ने कहा 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' और साहित्यपाठी ने कोमलकान्तपदावली का प्रयोग करते हुए, 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' कहा। व्याकरणविज्ञ ने सरस पदों का प्रयोग सीखा ही नही था। अत एव वह कठोर, संयुक्त तथा सन्धिनियमों से जड़ीकृत भाषा मे बोला और कवितापाठी ने मृदु, विरल शब्दों का चयनकर उस नीरस तरु को भी मानो, वाणीरस से सिक्त कर दिया। वास्तवमे लोकव्यवहार वाणी की कोमलता पर निर्भर है। कोमलता मे दयनीयता का मिश्रण नही होना चाहिए। दयनीयता का मिश्रण कोमलता का व्याघातक है। दुर्बल द्वारा विहित 'क्षमा' जैसे 'कायरता' मे अर्थान्तरित हो जाती है उसी प्रकार कोमलता मे दयनीयबोध उसकी मृदुता को बाधित कर देता है। उत्तम वक्ता इस भेद को सदैव हृदय मे रखते है। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द कोमल हो सकते है किन्तु भीरु नही होते। उनके अर्थ निर्बल नही होते अपि तु निर्मल और अगाध होते है। एक सूक्ति है कि राजहस अपने स्वाभाविक स्वर मे जैसा मधुर कलकूजन कर जाता है, वैसा सौ वर्ष शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भी बकोट कर सकता है क्या[1] ? वस्तुतः जैसे मोरपख को धूलि नही लगती, कमल को पक नही छूता वैसे उत्तम वक्ता की जिह्वा को दुष्ट, अपशब्द स्पर्श नही कर पाते। अपि तु सरस, विमल, जलपूर्ण तडाग को जैसे राजहंस पक्षी घेर लेते है वैसे ही उसकी जिह्वा-सरसी के तट पर बैठने के लिए सुसस्कृत शब्दराशि अवतीर्ण होती रहती है। वक्ता उन शब्दविहगमो के पखो पर अपनी भावसम्पत्ति को विराजित कर श्रोताओ के देश पहुँचाता है। उन शब्दो मे वक्ता का मानस छिपा रहता है, उसके समर्थ वाग्विभव का सकेत मिलता है।

वाणी के मूल मे 'वाण' निहित है। मर्म को व्यथा पहुँचानेवाली वाणी 'वाण' नही तो क्या है ? भर्तृहरि ने कहा है कि 'वाक्शल्यो हि निर्हर्तुं न शक्य. स हि हृच्छयः'–शस्त्रास्त्र चुभने पर निकाले जा सकते हैं किन्तु वाणी का शल्य सीधा हृदय मे प्रवेश कर जाता है अत· उसको निकालना कठिन है। यही कारण है कि जिह्वा की रचना मृदु है। अच्छे साधुवक्ता उस मृदुजिह्वा में अपने हृदय का माधुर्य भी मिला

---

१. 'हेलया राजहसेन यत् कूजं कलकूजितम्।
ताद‍ृग् वर्षशतेनापि जानात्याशिक्षितुं बकः ॥'–

देते हैं और तब श्रोताओं को वह वाणी मिश्री मे घुली हुई, शर्करालिप्त के समान प्रतीत होती है। सन्तों की इस मिष्टवाक् को महाकवि बाण ने मणिनूपुर बताया है जिन्हें सुनकर हृदय मे आह्लाद उत्पन्न होता है। 'मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे पदे हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव'– वाणी का सम्यक् प्रयोग लोक में प्रतिष्ठा प्रदान करता है तथा आत्मा में सुख, शान्ति का सचार भी करता है। अतः वाणी को अश्व के समान बाँधकर रखना चाहिए और जब वाग्व्यवहार अत्यावश्यक हो जाए तब उत्तम अश्वारोही के समान उस वाक्रथ की गति को वश मे रखते हुए भाषण करना उपयुक्त है। वाणी बोलकर अपने को, सुनकर श्रोताओ को आनन्द की प्राप्ति नही हुई तो वाक्श्रम व्यर्थ ही नही हुआ, अहितकर भी रहा। हिन्दी कवि की यह सूक्ति यथार्थ है, जिसमे वक्ता को मधुरशब्दो मे परामर्श दिया गया है कि वह मन के दुराव को दूर रखकर ऐसी वाणी बोले जिसको सुनकर श्रोताओं के हृदय शीतलता से तृप्त हो सके —

'ऐसी वाणी बोलिये मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे आपहु शीतल होय ॥'

वाणी के इस प्रयोग को जब सार्वजनिक मच से प्रसारित करना हो तब तो उत्तरदायित्व और अधिक गुरुभार हो जाता है। क्योकि सभाओ मे श्रद्धा-परायण, आलोचक, दोषदर्शी, विरोधी और सिद्धान्तहीन स्वैरवादी सभी प्रकार के लोग एकत्र होते है। यदि वहाँ वाणी और विचार-सन्तुलन नही रख सके तो रस्सी पर चलनेवाले नट के समान ऊचाई पर स्थिरचाल से बढना अशक्य हो जाता है। इसलिए आत्मीयो, अनात्मीयो, विद्वानो, दोषद्रष्टाओ और निरक्षरो सभी के चित्त को जो आह्लादित कर सके, आकर्षित कर ले, वैसी वाणी को 'सभायोग्य' निर्वचन से पुरस्कृत किया जा सकता है[1]। इस सभाशास्त्र को जाने विना वक्ता का वक्तृत्व अस्थान प्रयुक्त है और कहा जा सकता है कि— 'श्रम एव हि केवलम्'—कोरी कसरत है। उस वाणी-प्रयोग का उद्देश्य तो श्रोतृप्रबोध है। यदि वह चरितार्थ नही हुआ तो श्रममात्र है। ज्वर दूर करने के लिए दी जाने वाली 'क्विनाइन' की टिकिया को शर्करालिप्त किया जाता है। किसी को प्रबोध देना हो तब भी भाषा का सौष्ठव और वाणी का माधुर्य व्याहत नहीं होना चाहिए। सारा

---

१. 'तास्तु वाचः सभायोग्या याश्चित्ताकर्षणक्षमा'।
स्वेषां परेषां विदुषां द्विषामविदुषामपि ॥'–

ससार मधुर वाणी सुनना चाहता है । वाणी में वह चन्दन की शीतलता, मणियो की तेजस्विता, चन्द्रमा की आह्लादकता, मालतीमाला की सुरभि—सभी की एक साथ अपेक्षा करता है । शास्त्रकारों का अभिमत तो यहाँतक है कि चन्दन, मणि, चन्द्रमा और मालतीमाला से अधिक सुख देने वाली श्रुतिप्रिय वाणी है[1] । श्रुति अर्थात् शास्त्र और श्रोत्रेन्द्रिय—जिस वाणी में आप्तप्रामाण्य भी हो और जिसको परोसने का प्रकार भी मृदु हो, वह वाणी श्रोताओं को सुख पहुँचाती है तथा अनुकूल करने मे समर्थ होती है । शीतलजिनस्तोत्र मे इसी आशय को व्यक्त करने वाला पद्य है कि हे मुनिपरमेष्ठिन् ! आपकी निष्पाप वाणी मे शम का नीर मिला है । वह शीतल है । इतनी कि चन्दन, चन्द्र, गगाजल और मुक्तावली के हारो मे भी वह शीतलता प्राप्त नही होती [2] । प० दौलतरामजी ने 'छहढाला' मे भाषा-समिति प्रकरण मे मुनियो की वाणी को विश्वहितकर, अहितनिवारण, कर्णप्रिय, सशय-हारिणी बताते हुए लिखा है कि साधुवक्ताओ का मुख चन्द्रमा-समान है और उनकी प्रबोध-वाणी भ्रमरोगहारिणी अमृत-रसस्यन्दिनी है [3] । वाणी का माधुर्य यदि वक्ता मे नही है तो उसके वचन उस घृतकुम्भ के समान है जो विशुद्ध तथा शक्तिप्रद तो है किन्तु उसको पीकर पचाना प्रत्येक के लिए सुलभ नही है । उसी के अश को मिष्टान्नरूप मे देने से वह उपभोग्य होकर रसस्वादन देता है तथा रुचि को बढाता है । अत एव वक्तृत्व-कला से अभिज्ञ वक्ता को श्रोताओ के समक्ष मधुरता के साथ उतना ही वक्तव्य देना चाहिए जितने को वे हृदयगम कर सके, पचा सके । शास्त्र-स्वाध्याय की आह्निक प्रक्रिया इसी दैनिक अनुक्रम की सूचक है । श्रोता को प्रतिदिन नया पद, नया ज्ञानोन्मेष हित-मित मात्रा मे मिलना चाहिए । यदि बहुत-से अध्यायो को एक ही दिन मे व्यक्त करेगे तो श्रोता ग्रहण नही कर पाएगे । यह लोकशास्त्र की अभिज्ञता आगमशास्त्र के विद्वान् वक्ता के लिए आवश्यक है ।

'आत्मानुशासन' मे वक्ता के कार्य को असामान्य कहा है । धर्मकथा कहने के लिए सभा मे ऊचे आसन पर विराजमान व्यक्ति को अपने गुणो की उच्चता

---

१. 'न तथा चन्दन चन्द्रो मणयो मालतीस्रजः ।
कुर्वन्ति निर्वृति पुसा यथा वाणी श्रुतिप्रिया ॥'— ज्ञानार्णव, ६।२०

२. 'न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो न गागमम्भो न च हारयष्टय ।
यथा मुनेस्तेऽनघवाक्यरश्मय: शमाम्बुगर्भा. शिशिरा विपश्चिताम् ॥'— ४६

३. 'जग सुहितकर सब अहितहर श्रुतिसुखद सब सशय हरै ।
भ्रमरोगहर जिनके वचन मुखचन्द्र तै अमृत झरै ॥' — छहढाला.

का परिचय देना आवश्यक है। केवल वैदुष्य से भी काम नहीं चलेगा। श्रोताओं का ध्यान उपादेय की ओर आग्रहशील करने के लिए कुछ लोकरंजन उपायों का आश्रय भी लेना होगा। ऐसा वक्ता विद्वान् हो, विविध शास्त्रों के हृदय को जानने-वाला हो, लोकमानस से अभिज्ञ हो, किसी प्रकार की आशा नहीं रखनेवाला, प्रतिभावान्, सयमी, तथा सम्भावित प्रश्नचर्चा से पहले से ही जानकार हो और उनका समाधान कर सके, साथ ही निर्भीकता, स्थिरता उसमें होनी आवश्यक है ताकि वह प्रश्नों की झड़ी लगने पर भी विचलित न हो, अधिकारपूर्वक सभा पर नियत्रण रखने मे कुशल हो, श्रोताओ का हृदय अपनी मधुरभाषिता से जीत सके तथा किसी पर आक्षेप न करते हुए अपने विषय का समर्थन करे—इतने गुणों का समवाय एक वक्ता मे अपेक्षित है[1]। अल्पश्रुत वक्ता को विरोधी शंकाओं से कीलित कर देते है। इस वक्तृता का मार्गदर्शन करने वाला एक सूत्र 'सर्वार्थसिद्धि' मे आचार्य ने दिया है—'वाचनापृच्छनाऽनुप्रेक्षाऽऽम्नाय धर्मोपदेशाः' ९२५। यह सूत्र स्वाध्याय की पंचविधता बताता है कि स्वाध्यायशील सर्वप्रथम वाचना सीखे, सशय का उच्छेद करने के लिए यथोचित प्रश्न करे, वाचना तथा प्रश्न से परिपुष्ट पदार्थज्ञान का मन में अभ्यास करे, मनन करे। अपनी अर्थसंगति को आम्नाय-विशुद्ध रखे तथा पदोच्चारण मे अशुद्धि हो तो उसे निरस्त करे और इन चारो प्रक्रियाओं में निष्णात होने पर धर्मोपदेश दे। इस प्रकार धर्मोपदेश शास्त्रमत से स्वाध्याय का ही अग है तथापि उपदेष्टा के पद तक पहुँचने के लिए यह वक्ता का क्रमिक विकास भी है। वक्ता होने से पूर्व वह अध्ययन करे, नाना ग्रन्थो को देखे, उनमे शकाए हो, उनका योग्य गुरु से समाधान प्राप्त करे, चिन्तन-मनन द्वारा अधीतविषयो को सुदृढ करे, उनमे उच्चारण की, आम्नाय की कोई सदोषता हो तो उसका अपवारण करे और इस प्रकार सर्वथा प्रस्तुत होकर, सज्जित होकर सभामच को अलकृत करे। जो बोलने की अभिलाषा रखते हुए भी उसकी आवश्यक अपेक्षा की ओर अवधान नही देते वे असिद्धवक्ता अपनी वाक्सिद्धि के अभाव मे वक्तृता के क्षेत्र मे क्रान्ति नही कर सकते, नयी उपलब्धि नही दे सकते। प्रायः ऐसे लोग बोलते समय बीच-बीच मे रुकते है, विषय पर स्थिर नही

---

१. 'प्राज्ञ प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थिति.
प्रास्ताशः प्रतिभापर. प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः ।।
प्राय प्रश्नसहः प्रभु परमनोहारी परानिन्दया
ब्रूयाद् धर्मकथा गणी गुणनिधि. प्रस्पष्टमिष्टाक्षर. ।।' आत्मानुशासन– ४

रहते, विषयान्तर हो जाते हैं, अनेक बार एक ही बात को दोहराते रहते हैं, विषय की क्रमबद्धता को सुरक्षित नहीं रख पाते। वे अपनी असमर्थता को श्रोताओं की अयोग्यता कहते हैं। परिणामतः वे असफल होते हैं। समर्थ वक्ता तो जब बोलता है तब 'सूचीपात निःशब्द' शान्ति रहती है। वह लोकरुचि को पहचानकर विषय चयन करते हैं। 'किं मे जनः पश्यति भाव-भाषिते' पर उनकी अन्तर्दृष्टि रहती है। वे 'लोग मेरे वक्तव्य पर क्या सोच रहे हैं' इसको तुरन्त भाप लेते हैं। इसीलिए लोहा जैसे चुम्बक की ओर खिचा आता है, लोग उत्कण्ठा-सहित ऐसे विशिष्ट वक्ताओं को घेरे रहते है। उनकी सभी इन्द्रियाँ उस समय श्रोत्रेन्द्रिय मे आकर बैठ जाती है। वक्ता के पीयूषवर्षी वक्तव्य को पी-पीकर भी उनकी अतृप्ति शान्त नही होती। ऐसी आकर्षक, चमत्कारपूर्ण तथा अपने अभिप्राय को स्पष्ट प्रतिपादित करनेवाली वाक्शैली, वाणीसामर्थ्य किसी को कभी सौभाग्य से ही मिलती है। गगाप्रवाह के समान अस्खलित, समुद्रवेला के समान प्रत्येक क्षेपण में मणिमुक्तासम्भार को लिये हुए, वर्षाकालीन मेघो के तुल्य धीर-गम्भीर और कमलपुष्पो के समान जलाशयो (जडाशयों) के अन्तःकरण मे प्रस्फुरित होनेवाली वाणी किसी धन्य को ही मिलती है[1]।

प्रतिपद उदार भावो से युक्त अथ च चमत्कारगर्भित और भावप्रेषण में निपुण वाणी सैकडों मे किसी एक को प्राप्त होती है[2]। 'वक्ता दशसहस्रेषु'— दशसहस्र व्यक्तियों मे वक्ता एक ही होता है। यह अनुपात वक्ता की असाधारण स्थिति का परिचायक है। यो प्रत्येक व्यक्ति को वाक्सामर्थ्य प्राप्त है किन्तु लोक-प्रबोधकारिणी वाक् सबके पास नही होती। काकभाषित और पिकभाषित का स्वाभाविक अन्तर वक्ता और अवक्ता मे बना ही रहेगा[3]। इसी को लक्ष्य करते हुए प्राचीनों ने वाणी को निर्दोष रखने के उपायो का निरूपण किया। उन्होने कहा—प्रवक्ता के रूप मे सभाओ मे नही जाना चाहिए और यदि अपने मे शास्त्र,

---

१ 'गगाप्रवाहसदृशी स्खलतिप्रहीणा
मुक्तालसद्गतिरपांनिधिभगिमेव।
प्रावृट्पयोद इव धीररवाऽम्बुजन्मे –
वोद्भेदिनी गुरुगिरा हि जलाशयानाम्॥' – सुधासूक्तिशतकम्

२. 'शतादेकतमस्यैव सर्वोदारचमत्कृति.।
ईप्सितार्थार्पणैकान्तदक्षा भवति भारती॥' – योगवासिष्ठ

३. 'काक. कृष्ण पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः।
वसन्तसमये प्राप्ते काक. काकः पिकः पिक.॥' –

युक्ति, प्रमाण इत्यादि में कुशल सामर्थ्य है और सभाशास्त्र में निपुणता है तो सभाओं मे सम्मिलित होना उचित है। वहाँ किसी विषय पर बोलना आवश्यक हो तो सत्य और धर्मयुक्त ही बोलना चाहिए। जो व्यक्ति गुरुपाठ से (सभा में वक्ता को व्यास, गुरु और उसके मान्य स्थान को व्यासपीठ या गुरुपीठ कहते हैं)—प्रतिपाद्य विषय के सत्य को जानते हुए भी मौन रखे अथवा यथार्थ को विकृत करके उपस्थित करे, ऐसा मनुष्य पाप का भागी होता है[1]।

किन्तु इस पाप और पुण्य का आत्मपरीक्षण कौन करे? अधिकाश वक्ता तो वाणीप्रयोग के अधिकारी भी नही होते। वे प्राय: सभाओं में सम्मिलित होते हैं अनुपार्जित यश ख्याति के लिए। विना किसी विषय पर अधिकारपूर्ण जानकारी प्राप्त किये वे बोलने की उत्कण्ठा रखते है। जैसे विना नीर के वारिद (बादल), जिन्हे वास्तव मे 'वारि+द' न कहकर वातुल कहना अधिक उपयुक्त होगा, जो व्यर्थ मे ही आकाश की ऊचाइयों तक उठना चाहते है, तथापि जिनके हृदय सार-शून्य होते हैं, मढे हुए नगारे की तरह, भीतर से जो पोले (नि.सार) होते हैं। ऐसे बादल और वक्ता शब्द बहुत करते है किन्तु जल की, जीवन की एक विन्दु भी नही दे सकते। वैसे लोग, जो विश्वसमुद्धार की क्षमता रखते है, लबालब पानी से भरे जलद के समान, वे सद्वक्ताओ की पक्ति मे गणनीय है, उनकी आत्मा अन्दर से आर्द्र है। उनकी सर्वत्र प्राप्ति दुर्लभ है। उनके प्रत्येक शब्द मे जीवन होता है और श्रोता उनसे संजीवन शक्ति प्राप्त करते है। उनकी जिह्वा पर सम्यग्रस साजलि उपस्थित रहते हैं और अपनी पवित्र वाणी के निर्झर से वे श्रोताओ के हृदय की मलिनता को क्षणमात्र मे प्रक्षालित कर देते है[2]। यदि सभा की समझ मे नही आया, और वक्ता महोदय अपने वाक्शौर्य का अविहत प्रदर्शन करते रहे, तो यह उनका श्लाघास्पद रूप नही। क्योकि, 'वक्तुरेव हि तज्जाड्यं यावत् श्रोता न बध्यते'—श्रोताओ के समय का मूल्य नही समझना भी विज्ञता का अभाव है।

इस कलिकाल मे मनुष्यो का स्वाध्यायबल क्षीण हो गया है और अभिव्यक्ति की इच्छा प्रबल हो उठी है। इस अभिव्यक्ति को प्रदर्शन कहना अधिक सयुक्तिक होगा। आज व्यक्ति जो नही है, वैसा दिखाना, सिद्ध करना चाहता है। उसके बाहरी

१ 'सभा वा न प्रवेष्टव्या प्रविष्टश्चेद् वदेद् वृषम्।
अब्रुवन् विब्रुवन् वाऽपि नरो भवति किल्विषी॥'

२. 'जना घनाश्च वाचालाः सुलभा. स्युर्वृथोत्थिताः।
दुर्लभा अन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षवः॥'—आत्मानुशासन.

वेष से, मिथ्याप्रदर्शित दर्प से इसका प्रमाण मिलता है। पूर्व समय में लोग आहार-संयम, विहारसंयम और वाक्संयम इत्यादि अनेक प्रकार के संयमों का पालन करते थे। सयम से सचय होता था और आत्मशक्ति प्राप्त होती थी। आज व्यय करने की प्रवृत्ति अधिक है। लोग प्रतिक्षण व्यय करते हैं और जेब मे व्यय करने की मात्रा नहीं होती तब ऋण करते है। इसका आशय यह हुआ कि संचय तो दूर रहा, व्यय करते-करते उनकी व्ययशक्ति भी अपव्यय के अधीन हो चुकी है और अब तो व्यय करने के लिए ऋण लिया जा रहा है और अपने व्यसनो को तुष्ट करने की कोशिश जारी है। इस प्रकार जहा पूर्वसमय मे सयम से लोगो के पास उनकी निधि सुरक्षित रहती थी और समय आने पर वे उसका समर्थ होकर सानन्द उपयोग करते थे, आज वह स्थिति नही। किसी नीतिविद्वान् ने कहा है कि जो व्यक्ति एक कपर्दिका (कौडी) का भी अपव्यय नही करता, वह समय पर लाखों का व्यय कर सकता है[1]। क्योकि उसके पास सचय होता है। सचित मे से तो खर्च किया जा सकता है किन्तु शून्य के वृत्त मे से रुपयों की बाकी कैसे निकाली जाए। आज लोग शून्य को दुहते है और दूध पाने की इच्छा रखते है। 'नभ दुह दूध चहत अज्ञानी'—ऐसे लोगों के अज्ञान पर तरस आता है।

स्वाध्याय का विस्मरण ही 'नभ को दुहना' है। सभा मे कुछ कहना चाहते हो, वह पहले से आपके पास विद्यमान होना चाहिए। 'न हि शशविषाणं खपुष्प वा कोऽपि दर्शयितु समर्थ:' – कोई खरगोश के शृंग और आकाशपुष्प को कैसे दिखा सकता है? अपने मे अविद्यमान, अनुपस्थित का वक्तव्य कैसे दिया जा सकता है? सचय की प्रक्रिया स्वाध्याय से आरम्भ होती है। 'धर्मश्रुतधनाना प्रतिदिन लवोऽपि सगृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिक.' – प्रतिदिन यदि लवप्रमाण भी धर्म, धन और श्रुत का संचय किया जाए तो वह समुद्र से भी अधिक हो जाता है। ऐसे संचयशील स्वाध्यायी इस कलिकाल मे असुलभ हो गये है। इस स्थिति पर खेद व्यक्त करते हुए पं० आशाधर सूरि ने कहा है– 'यह कलियुग वर्षाऋतु के समान है, इसमे दिशाएं मिथ्यात्व मेघो से ढकी हुई है। अच्छे उपदेशक जुगनू के समान कही-कही चमकते है[2]।' अर्थात् 'औपचारिक वक्तृत्व' बढ गया है। सभापीठ पर आकर 'दो शब्द'

---

१. 'य. काकिणीमप्यपथप्रपन्ना समाहरेन्निष्कसहस्रतुल्याम्।
कालेन कोटिष्वपि मुक्तहस्त त राजसिह न जहाति लक्ष्मी.।'–

२. 'कलिप्रावृषि मिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह।
खद्योतवत् सुदेष्टारो ह्युद्योतन्ते क्वचित् क्वचित्॥'–सागारध०

बोलने का व्यामोह बढ़ गया है। श्री 'ग्र' ने कुछ कहा है तो श्री 'क' भी बोलेंगे और श्री 'ख' को बोलने का अवसर न दें, ऐसा साहस श्री 'स' संयोजकजी में कहाँ ! किन्तु यद्वा-तद्वा बोलनेवाले और व्यामोहविस्तार करनेवाले ऐसों मे परमात्म-प्रकाश दर्शित करानेवाले साधुवक्ता अत्यन्त दुर्लभ हैं[1]। किंचिद्ज्ञो की – सभा में 'अहोरूप-महोध्वनि' चलती रहती है। इस प्रकार की प्ररोचनात्मक भाषा का निरर्थक प्रयोग साधु के लिए वर्जित है।

जैनशास्त्रों मे वक्ता साधु के लिए भी अनेक-विधिनिषेध किये गये है। कहा गया है कि सभी सासारिक द्वन्द्वों से अलग रहते हुए मुनि को व्याख्यान भी नही करना चाहिए। उसे विरक्त, मौनी तथा ध्यानपरायण होना श्रेयस्कर है[2]। क्योंकि वाक्सम्पर्क करने मात्र से चित्त मे विभ्रम उत्पन्न होने लगते हैं। अत: परम समाधि प्राप्त करने के अभिलाषी योगी वचनो की क्रिया का त्याग कर अपने आत्मा का ही ध्यान करते है और मोक्षगामी होते हैं[3]। तथापि स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा एव धर्म-प्रभावना के निमित्त से मुनि भी आभाषण-सम्भाषण करते है। आगम का आदेश यह बताने के लिए है कि भाषण मे ही अधिक प्रवृत्ति नही होनी चाहिए। यदि वे सर्वथा बोलना निषिद्ध मान लेगे तब तो लोकमार्गनिर्देशक सुवचनो का दुष्काल पड जाएगा। क्योंकि अपूर्व आह्लाद को देनेवाली, ऊंचे से ऊचे पद पर पहुँचानेवाली और सबसे बढकर मोह-मूर्च्छा का अपहार करनेवाली तो महात्माओ की सूक्तियां ही हो सकती हैं[4]। जो रागादिपरिग्रहयुक्त हैं वे तटस्थ कल्याणमार्गोपदेष्टा कैसे हो सकते हैं ? जिनके स्वय के परिणाम विशुद्ध नही वे लोकपरिणामो के शास्ता नही हो पाते। इसीलिए प्राचीनकाल मे भी आचार्य समन्तभद्र और अकलकदेव जैसों को शास्त्रार्थ, वादभिक्षा मे प्रवृत्त होना आवश्यक प्रतीत हुआ। धर्मप्रभावना और धर्मरक्षा के हेतु से व्याख्यान देना, वाणीप्रयोग करना साधु के लिए विहित है।

---

१ 'वक्तार: प्रतिसद्म सन्ति बहवो व्यामोहविस्तारिणो
येभ्यस्तत् परमात्मतत्त्वविषय ज्ञान तु ते दुर्लभा ॥'

२ 'सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो व्याख्यानादि च वर्जयेत् ।
विरक्तो मौनवान् ध्यानी साधुरित्यभिधीयते ॥' – इन्द्रनन्दिनीतिसार, १७

३ 'वयणोच्चारणकिरिय परिचत्ता वीयरागभावेण ।
जो झायइ अप्पाण परम समाही हवे तस्स ॥' –

४. 'अपूर्वाह्लाददायिन्य उच्चैस्तरपदाश्रया. ।
अतिमोहापहारिण्य. सूक्तयो हि महीयसाम् ॥'–सुभाषित०

ऐसे अवसरों पर शिष्ट, मधुर और धर्मनिरूपक वाणी से राजा, कोटपाल, राज-पुरोहित आदि को स्नेहपूर्वक धर्मप्रबोध करना विहित है[1]।

मिस्टर एम.एस. रामस्वामी आयंगर ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिजम' मे लिखा है कि 'समन्तभद्र एक बहुत बड़े जैनधर्म प्रचारक थे जिन्होंने जैनसिद्धान्तों और जैन आचारों को दूर-दूर तक विस्तार के साथ फैलाने का उद्योग किया है। जहां कहीं वे गये, अन्यसम्प्रदायों की ओर से उन्हें किसी भी विरोध का सामना करना नहीं पड़ा।' उन्होंने वाद में ही दिग्विजय नहीं किया अपि तु अपनी अकाटच युक्तियो और मृदुभाषिता से हृदयविजय भी किया। प्रति-वक्ता के अहंकार को शिर से पैर की एडी तक उतारकर भी उन्होने अपने वाणी-माधुर्य और व्यवहारसौष्ठव को अक्षुण्ण रखा। इससे प्रतिवादी केवल शास्त्रवाद मे ही पराजित नही हुआ प्रत्युत मनोभूमियों की औदार्य-स्पर्धा में भी उसे हार स्वीकार करनी पड़ी। परिणामतः प्रतिवाद के स्वर अनुवादी बन गये। इस प्रकार एक नहीं, अनेक आचार्यों ने धर्म को वक्तृत्व के माध्यम से भी संवर्धित किया है। परिष्कृत विचारो को, परिमार्जित वाणी से व्यक्ति तथा समाज के पास पहुँचाने की निर्दोष पद्धति भाषणकला है।

जो तत्त्वज्ञान से वंचित हैं उनकी वाणी मे अध्यात्म की गूंज सुनायी नहीं देती। वे क्लेशो से ऊपर नही उठ पाते और श्रोताओ को भी दुःखनिवृत्ति का मार्ग नहीं बता सकते। किन्तु जिन्होंने आगम-स्वाध्याय मे निपुणता प्राप्त की है और अपने समय को ज्ञानोपयोग मे नियुक्त किया है वे अपने सिद्धवाणी-प्रसाद से श्रोताओं को उत्तम ज्ञानसम्पत्ति प्रदान कर सकते हैं[2]।

वक्ता मे ज्ञानसम्पत्ति पुष्कल होनी चाहिए और सभाशास्त्र की अभिज्ञता तो प्रथम आवश्यक है। समय पर सभा का आरम्भ करना तथा समय पर उसका विसर्जन करना श्रोताओं को नियमित करने में सहायक होता है। यह सभाशास्त्र का प्रथम सूत्र है। यदि श्रोताओं को आप यह विश्वास दिला देगे कि आप यथासमय अपना प्रवचन आरम्भ कर ही देगे तो वे नित्य नियमित समय पर उपस्थित होने

---

१ स्नेहमुत्पादयन् कुर्यात् सुवाग्भिर्धर्मभाषणम्।
राजरक्षिकतत्प्राये सशुद्धो गणरक्षणात् ॥'– प्रायश्चित्तचूलिका, १११.

२. 'तत्त्वज्ञानविहीनाना दुःखमेव हि शाश्वतम्।
पक्वज्ञानवयस्येव गुणाः सर्वेऽपि सिद्धिदाः ॥'–

म तत्परता रखेंगे किन्तु यदि उन्हे यह सन्देह हो जाएगा कि वक्ता श्रोताओं की प्रतीक्षा मे कुछ समय विलम्ब से भी शास्त्रप्रवचन आरम्भ कर सकेंगे तो वे शिथिल हो जाएगे तथा इस सन्देह का लाभ उठाकर और देर से उपस्थित होगे। दूसरी ओर यदि वक्ता अपने व्याख्यान को नियमित समय पर समाप्त करने का ध्यान नही रखेगे तो श्रोताओ को अपने दैनिक कार्यविभाजन मे असुविधाए होने की आशंका रहेगी और वे प्रतिदिन नही आना चाहेगे। एतावता उभयपक्षीय नियमितता का ध्यान रखने से ही सफलता प्राप्त की जा सकती है।

वक्ता को अप्रतिभ नही होना चाहिए। किसी भी प्रश्न के लिए नित्यसन्नद्ध रहना और दैनिक स्वाध्यायचिन्तन रखना उसकी सिद्धि के सोपान हैं। पानी के मूल में रहनेवाला कमल सूखता नहीं और नित्य ज्ञानार्णव मे निमग्न सद्वक्ता विषय-भावों के लिए अकिंचन नही होता। सद्वक्ता लोकमानस मे व्याप्त निराशाओं को आशा में परिवर्तित कर देता है, अनुत्साह को उत्साह प्रदान करता है, मोह और मिथ्यात्व के स्थान पर सम्यक्त्व की प्रतिष्ठा करता है। उसके प्रत्येक पद मे उत्साह की ध्वनि निकलती है, आत्मचेतना के छन्द गूंजते है, विवेक और धर्म के भाव प्रस्फुरित होते हैं। श्रेष्ठवक्ता की वाणी पापपकप्रक्षालन मे धर्मनिर्भर के समान होती है। कायरो के हृदयों में ओजस्विता पूरनेवाला भेरीनाद सद्गुरुओ के कण्ठो से निकलता है। वे मृदु बोलें या कठोर, उनके वाक्यामृत का परिणाम संजीवनप्रद होता है। कठोर होने पर भी सूर्यकिरणें अरविन्द को विकास देती हैं और कठोर गुरु की उक्ति से भव्यजनों को धर्ममार्ग पहचानने का अवसर प्राप्त होता है[1]। गुरु की तो मुद्रा में वह शक्ति होती है कि सन्देह तथा शकाएं स्वय शान्त हो जाती हैं। 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यान शिष्या उच्छिन्नसंशयाः' और 'मोक्षमार्गमवाग्विसर्ग वपुषा निरूपयन्तम्'—तपस्वी वक्ताओं के मौन-व्याख्यान को सुपूजित करनेवाली सूक्तिया हैं। दिगम्बर मुनिचर्या में मौन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वयं भगवान् महावीर ने १२ वर्ष मौन रखा था। उनकी दिव्यध्वनि ६६ दिनो तक नही खिरी। पात्र को देखकर बोलना उचित है। टूटे पात्र मे दूध डालना किस काम का? वह उसे ग्रहण नहीं कर सकता और तांबे–पीतल के पात्रों में वह विकृत हो जाता है। ऐसे ही पात्रता के विना दिये गये उपदेश व्याहत हो जाते है अथवा विकृत हो जाते हैं। श्रमण

१. 'विकासयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमशव.।
रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरूक्तयः॥'—आत्मानुशासन १४२

मुनि सदैव निर्दोष बोलते हैं। कन्नड़ भाषा में एक हिन्दू कवि (सर्वज्ञ) का कथन है कि 'कालदोष से नमक का क्षारत्व नष्ट हो सकता है, कर्पूर कृष्णवर्ण और सर्पपुच्छ द्विधा विभक्त हो सकती है किन्तु श्रमण मुनियों का वचन कभी दो नही हो सकता[1]।'

तत्त्वचर्चा का माध्यम शब्द है। यह शब्द रूप, रस, गन्ध, वर्णयुक्त है। इसे भी भोग माना गया है। क्योंकि यदि वीतराग भगवान् की स्तुतिपदावली गाते हुए मन में वैराग्य का उदय होता है तो शृंगारपदावली सुनकर रागभावो का होना भी आवश्यक है। मन्दिरो के घंटानाद और स्त्री के पदनूपुर शब्दायमान होकर श्रोता के मन मे भिन्न-भिन्न अनुभूतियो, भावो को प्रबुद्ध करते है। सिंहगर्जन सुन-कर भयमिश्रित रोमांच हो जाता है। एतावता शब्दचर्चा भी आवश्यकता से अधिक नही करना श्रेष्ठ है। तत्त्वचर्चा और स्वाध्याय उद्देश्यपथ के साधन हैं, साध्य नही। वक्तृत्वकला लोकानुकम्पावश धर्मसमर्पित होकर धन्य तथा उपयोगिनी है इससे अधिक इसका प्रयोजन नही। मुनि का हित तो आत्मध्यान में निहित है।

---

१. 'उप्पू सप्पने यक्कु कर्पूर करि दक्कु।
सर्पनिगे बालबेंडक्कु श्रमण तातप्पाडिदंते सर्वज्ञ ॥'—१०१३

मोह और मोक्ष

मोह शब्द 'मुह' धातु से निष्पन्न होता है। व्याकरणानुसार इसकी पदसिद्धि मे 'अ' प्रत्यय लगता है और लोकपक्ष में देखा जाए तो मोह अप्रत्यय (अविश्वास) के योग्य ही है। जो व्यक्ति इसे अपना हितू समझकर इस पर प्रत्यय (विश्वास) कर बैठता है, उसके इह और पर दोनों लोक बिगड़ जाते है। अज्ञान के जितने पर्याय हैं उन सब का जनक (उत्पन्न करनेवाला तथा पिता) मोह ही है। मोह से दृष्टि मे विकार उत्पन्न होता है। विकार से सत् और असत् का विवेक रखनेवाली ज्ञानमय दृष्टि अन्ध हो जाती है। परिणामस्वरूप मोहतिमिराच्छन्न को सभी परपदार्थ मोहनीय दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे पाण्डुरुजाक्रान्त को सभी वर्ण पाण्डु दिखायी देते हैं वैसे ही मुग्ध की दृष्टि मे विश्व के सतरंगे चित्र आकर्षक एवं मन को लुब्ध करनेवाले लगते है। वे परपदार्थ, जिनका वास्तविक स्वरूप पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकायिक है, मोहावरण कर्म की छाया मे अपने मूलरूप से भिन्न, आपातरमणीय प्रतीत होते है। जैसे किसी दीवार पर रग पोतकर कोई चित्र बना दिया जाता है और देखनेवाला उस समय चित्र को ही देखता है, दीवार को नही, इसी प्रकार मास, शोणित, कपूय-क्लेद युक्त शरीर की वास्तविक स्थिति न देखते हुए ससार ऊपर के चर्मसौन्दर्य पर आसक्त होकर अपना भान भूल जाता है। मोह का यही प्रथम लक्षण है। इसके प्रादुर्भाव से प्रथम आँखों मे राग (प्रेम, लालिमा) उत्पन्न होता है फिर हृदय में अनुराग जन्मता है। राग और अनुराग मे निमग्न व्यक्ति कर्मबन्धनों को स्वयं आमन्त्रण देता है। रँहट के शराव जैसे रज्जु मे बँधकर कूप मे उतरने तथा ऊपर जलभरित होकर उठने के लिए विवश है और बार-बार भरते तथा रिक्त होते रहते हैं उसी प्रकार कर्मपरवश, मोहपराजित व्यक्ति को भी नीचे जलाशयों (जड + आशयो) मे उतर कर प्यास बुझाने का प्रयत्न करना होता है। किन्तु विषयो को पीने से प्यास बुझती नहीं, जैसे पानी के स्थान पर मदिरा पीने वाले के कण्ठ सूखते हैं, तृप्त नही होते, उसी प्रकार अनादि काल से मोह-महामद पीनेवाले को मृगतृष्णाओं मे भटकना पड़ता है। कर्मतृषा-परिणाम से उसकी नीच गति का कर्मक्षय किये बिना कभी अन्त नही हो सकता। द्वादशानुप्रेक्षा मे आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि यह जीव मोहान्ध होकर रात्रिन्दिव

विषयों के निमित्त से होनेवाले पापापराधों को यत्नपूर्वक करता नहीं थकता। परिणामस्वरूप निरन्तर भटकता रहता है[1]। मोहपराजित की दशा उस शख के समान है जो सार्वजनिक चौराहे पर पड़ा हुआ है। जो कोई आता है, उठाकर एक जोरदार फूंक मार देता है और अन्तःसारशून्य वह उसी की फूंक से बजने लगता है। मोहान्ध को भी पांचों इन्द्रियां मुंह लगा-लगा कर अपनी-अपनी राग में बजाती रहती हैं। स्व-परविवेकशून्य शंखसमान उस व्यक्ति के पास अपनी कोई रागध्वनि है नहीं, जिससे वह कुछ बोल सके और जबतक किसी सक्षम के मुंह नहीं लगे, दिव्यध्वनि उसे प्राप्त नही होती। ऐसे परभक्तो को कोई नचा सकता है, बजा सकता है और विकारों से उच्छिष्ट कर सकता है।

मोक्ष और मोह छत्तीस (३६) के अंकों के समान परस्पर विरोधिधर्मा हैं। ये पाणिनि व्याकरण के 'येषा च विरोध. शाश्वतिक:' के उदाहरण 'अहिनकुलम्' के तुल्य हैं। यदि मोक्ष की परिभाषा सर्वकर्मविप्रमोक्ष है तो मोह सर्वकर्मसन्दोह है। ये दोनो ही सुभट हैं। एक निवृत्तिपथ का द्रष्टा है तो दूसरा प्रवृत्तिमार्ग का स्रष्टा है। एक की मुट्ठी मे स्वर्ग और अनन्त सुख है तो दूसरे की भ्रुकुटि मे नरक तथा अनन्त दु ख है, एक सुनीतियो का व्यवस्थापक है तो दूसरा अनीतियो का उत्थापक है। एक सुष्ठु और दूसरा दुष्ठु। एक प्राणिमात्र का सखा तो दूसरा दुर्धर्ष वैरी। एक मणिरत्नो का आकर तो दूसरा क्षारसार लवणाकर। एक के करतल मे ससार की अशेष विभूतियां तो दूसरे मे उनको भोगने की अदम्य लालसा। एक आनन्द से लहराता हुआ अपार पयोनिधि तो दूसरा भीषण वाडव-ज्वाला। ससार के इस विशाल अगण मे, अखाडे में जैसे दो मल्ल परस्पर भुजाभुजि सालम्भ (कुश्ती) करते हों। दोनों ही कामदेव के समान अनग है— अग से रहित हैं, तथापि ससार के क्रीडांगण मे प्रतिक्षण इनकी बल-परीक्षा (जोर आजमाई) चल रही है। इस उठापटक मे कभी मोह विजयी होता है तो कभी मोक्ष सवासेर बैठता है। सत् तथा असत् के प्रतीक इन का पारस्परिक संघर्ष कभी समाप्त नही होता। आश्चर्य तो यह है कि ये दोनों परस्पर शत्रु होते हुए भी अन्योन्य महिमा के आधार हैं। मोह जैसे दुर्धर्ष अराति को पराजित कर सकने पर मोक्ष महामहिम बनेगा और मोक्षमार्ग को जितनी प्रबलता से मोह मूर्च्छित कर सकेगा उतना ही प्रभविष्णु होगा। यदि मोह को हीनबल

---

१ 'जत्तेण कुणइ पाप विसयणिमित्त च अहणिसजीवो।
मोहान्धकारसहियो तेन दुःपडदि ससारे॥' –द्वादशानुप्रेक्षा, ३४.

माना जाए तो मोक्ष के लिए परमपुरुषार्थ युक्तिहीन हो जाएगा। वस्तुस्थिति यह है कि मोह की उत्कटता पर विजयी होने से मोक्ष बलवान् है और मोक्ष की अनन्तानन्दानुभूति को विस्मृत कराते हुए मिथ्याविकार पंक मे फंसा देने से मोह की अतुल शक्ति का अनुमान किया जाता है। किन्तु राम और रावण के समान अथवा भगवान् महावीर और घातिय कर्मों के समान परस्पर प्रतिमल्ल होते हुए भी मोक्ष और मोह को समानता नही दी जा सकती। मोक्ष आत्मा से उत्पन्न अपूर्व आनन्द का भण्डार है और मोह उच्छिष्टभोजी है। एक वार नही, अनन्तवार जिन पुद्गलो को जीव भोग चुका है, मोहबुद्धि से उन्हे ही फिर-फिर भोगता है। जन्म-जन्मान्तर में काम, क्रोध, लोभ, मान, मायादि विकारों को पुन.-पुन. भोगना किसी उच्छिष्ट भाजन को मुँह लगाने से अतिरिक्त क्या है? इस दृष्टि से मोक्ष महान् है। मोह तुच्छ है। जैसे वस्त्र पर स्पर्शमात्र से 'कोलतार' चीकट होकर चिपक जाता है उसी प्रकार मोह भी दुर्जय रिपु प्रतीत होता है। उसे वैराग्य भावना के, द्वादशानुप्रेक्षाओ के तीव्र तेजाब से दूर करना विज्ञो का सात्विक पराक्रम है। ज्ञानवान् कहते है – 'अरे! मैंने जन्म-जन्मान्तरों में मोह के वशीभूत होकर सभी पुद्गल-पर्यायो का भोग किया है। वे सब मेरे द्वारा उच्छिष्ट किये हुए है, भुक्तोज्झित है (खाकर छोडे हुए है) – अब मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है, मेरा अज्ञान, मोह गलित हो गया है। तब उन जूठे पात्रो और पदार्थों में इच्छा कैसी[१]? कोई अपना 'वान्त' निगलता है? धीर विज्ञजनो द्वारा त्यक्त किया गया कोई भी पदार्थ गजेन्द्र के दातो के समान पुन: मुंह मे नही लिया जा सकता। ज्ञानसूर्योदय होने पर मोहतिमिर नही ठहरता।

मोह दु खमय है क्योकि उसका रागादिपरिग्रहरूप परिवार बडा है। मोक्ष सुखमय है क्योकि सर्वत्यागमय होने से उसमे किसी अभाव, वियोग की अनुभूति नही है। जैसे शीतल लोहे से लोहा एकजुट नही होता (तप्त लोह से ही तप्त लोह सयुक्त होता है) वैसे स्वमग्न आत्मा को जड (शीतल) पुद्गलपर्याय का स्पर्श नही होता। यदि यह आत्मा स्वभाव को प्राप्त नही कर पाता है तो उसमें मोहतत्परता ही बाधक कारण है। जैसे धत्तूरे इत्यादि मादक बीजो का सेवन करने से मनुष्य उन्मत्त हो जाता है वैसे ही मोह से मूर्च्छित की दशा होती है[२]।

---

१ 'भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान् मया सर्वेऽपि पुद्गला:।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा?॥'

२ 'मोहेन सवृत ज्ञान स्वभाव लभते न हि।
मत्त. पुमान् पदार्थाना यथा मदनकोद्रवै:॥' – इष्टोपदेश, ७

हिन्दी के सन्तकवि तुलसीदास कहते है कि 'भूमि परत भा डाबर पानी। जिमि जीवहि माया लिपटानी ॥' – वर्षा का नीर पृथिवी पर गिरते ही मलिन हो जाता है क्योकि उसमें धूलि, मैल, तृण आदि का सम्पर्क तुरन्त हो जाता है। वैसे ही यह जीव उत्पन्न होते ही माया-मोह के बन्धनों में जकड़ जाता है। इस मोह को राजा कहना चाहिए। अन्य सब विषय-कषाय इसकी प्रजा हैं। राजा को गद्दी से उतार दिया जाय तो उसकी प्रजा अपने आप निस्तेज हो जाएगी। क्योंकि किसी वृक्ष के मूल को पकड़ने से उसकी स्कन्ध, शाखाए तथा पत्रावलिया अपने आप हाथ में आयी हुई मान ली जाती है, वैसे मोह को वश में करने का आशय है सम्पूर्ण रागात्मक मनोवृत्तियो का नियन्त्रण करना। समस्त विकारो का मूल मोह है।

'छहढालाकार' ने कहा है – 'मोह महामद पियो अनादि। भूल आपको भरमत बादि।'– अपने मूल स्वरूप को विस्मरण करने में मोहरूप महामद्य कारण है। कविवर प० दौलतरामजी ने मोह को मद्य बताकर, उसका सेवन भव्यजनो के लिए सर्वथा त्याज्य है, यह सहज ही बता दिया है। कविवर बनारसीदास ने मोह को धत्तूर-रसपान बताया है। कहते हैं – 'मोहकर्म परहेतु पाय चेतन पर रच्चय। ज्यो धत्तूर-रसपान करत नर बहुविध नच्चय।' धत्तूरा पीकर उन्माद परवश व्यक्ति के नाचने का साम्य मोहाकुल व्यक्ति से देना यथार्थ ही है। क्योकि चचलता के सभी रूपक मोहपरिचालित है। रागपरिणति से नाना प्रकार के नट-कर्म मनुष्य करता है, विरागी तो प्रशान्तात्मा होने से वेषविन्यास, सौन्दर्यप्रसाधन तथा इनसे आकर्षण करने के उपायचिन्तनों से विमुख रहकर आत्मलीन हो रहता है। अत जीव को मोक्षमार्ग का निरूपण करनेवाले शास्त्रकारो ने कहा कि यह कोई कठिन बात नही है। ममत्व से बँधा हुआ जीव ससारपरिभ्रमण करता है और ममत्व से मुक्त तो मुक्त होने के लिए अनुकूल भूमि की रचना करने वाला है[1]। ऐसा विचारकर ज्ञानपूर्वक निर्ममत्व, वीतरागत्व का अनुचिन्तन करना चाहिए। मोह धर्म का द्वेष्टा है, अधर्म का मित्र तथा रत्नत्रय का विस्मरण करानेवाला है। इसी के प्रभाव से प्राणी आत्मस्वरूप को विस्मृत कर दु खो के पाश में बँधे हुए है।

मोहनीय कर्म के उदय से मनुष्य हितमार्ग का परित्याग कर अहितमार्ग में प्रवृत्त होता है। उसकी विवेकदृष्टि व्यामोहग्रस्त होने से उत्तम-अधम की

---

१ 'बध्यते मुच्यते जीव. सममो निर्मम क्रमात्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्व विचिन्तयेत् ॥' – इष्टोपदेश, २६

वास्तविकता को नहीं जान पाती। ऐसा व्यामूढ जन विपरीत कार्य करता देखा जाता है। वह अपूज्यों को पूजता है और पूज्यों का तिरस्कार करता है। कोयले के भण्डार को ताला देकर सुरक्षित करता है तथा अशर्फियों को लुटाता है। आँखों को जैसे शृंगारपरायण कज्जल से और अधिक श्यामायमान करता रहता है वैसे मोहाभिभूत व्यक्ति पाप-कलुष की कालिमा को हृदय में धारण करता है। क्षत्रचूडामणिकार कहते हैं—'मोह अशेष कर्मों का निर्माता है, यह धर्मवैरी है। प्राणी इसी के द्वारा पाश में पडे है'[1]। वस्तुतः जागतिक प्रपंच के प्रवृत्तिपथ पर मोह के पदन्यास अग्रगामी है। मोह का विध्वस ही प्रवृत्तिमार्ग की परिसमाप्ति है। यदि मन में मोह पलता रहा और बाहरी क्रियाओं से उपवास आदि व्रताचरण किया गया तो वह मलिन पात्र को ऊपर से क्षालित करने के समान है। जब भी उसमें कोई वस्तु रखी जाएगी, मलिन हो जाएगी। क्योकि पात्र का विशुद्धिभाव केवल बाह्य शुद्धि पर ही निर्भर नही है उसकी आभ्यन्तरशुद्धि परमावश्यक है। 'स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा' का मत है कि लोकदृष्टि में उपवास करता हुआ भी जो मोहपाश से आबद्ध है, वह उपवास तो उसके लिए कायकष्ट का प्रदाता तो हुआ किन्तु अपेक्षित कर्मनिर्जरा उससे नही हुई[2]। वस्तुत. उपवास तो 'नोत धावन्त्यनूत-पथम्'—इन्द्रिया उन्मार्ग में दौड न लगावे, इस निमित्त से किया जाता है। इन्द्रिय-सयम से परिणामविशुद्धि और परिणामविशुद्धि से परमपद प्राप्ति का पथ प्रशस्त होता है। इस प्रकार उपवास इन्द्रियदमन का कारण होता हुआ मोक्षमार्ग की ओर साधना के चरण बढाने वाला है। यदि उपवास तथा अन्य कायक्लेशप्रद व्रतानुष्ठान आत्मा को बलवान् तथा अनात्मा को (परपदार्थो को) क्षीणबल करने के निमित्त न हो तो 'किन्तेन किम्पाकफलास्वादितेन ?'—उस कडुए फल को खाने से क्या लाभ, जो व्याधि भी दूर नही कर सका और मुह का स्वाद बिगडा सो अलग।

मद, मदन, मूर्च्छा, मलिनता—मोह के प्रथमाक्षर से उत्पन्न होते है। यह महाप्रतारक है। इसके जैसा ठग न हुआ, न होगा। प्रतिक्षण कोटि-कोटि जीवों के ज्ञान-विज्ञान, तप सयमाचार और विवेक का अपहरण करने में इसे श्रम नही होता, यह अलक्ष्य सिद्धि से मानो, प्राणियों के अन्त करण मे प्रवेश कर उसे

---

१ मुह्यन्ति देहिनो मोहान् मोहनीयेन कर्मणा।
निर्मितान्निर्मिताशेषकर्मणा धर्मवैरिणा॥' — क्षत्रचूडामणि, ७६

२ 'उपवास कुव्वाणो आरभ जो करेदि मोहादो।
तस्स किल सो अपर कम्माण णेव णिज्जरणं॥' — स्वा० का० अनु०, ४४२

कालांजन से लिप्त कर देता है, ऐसा ऐन्द्रजालिक है कि अस्थिचर्ममय देह में गुलाब के पुष्पों का भ्रम उत्पन्न कर देता है, श्वास मे दक्षिण समीर की सुरभि को उच्छ्वसित कर देता है, तथा नेत्रो के सचार में कामदेव की बाणावलि के अचूक लक्ष्य उद्भावित कर देता है। ससार के सभी इन्द्रजालविद्याविशारद इसके सम्मुख अकिंचन हैं। इसने राजमहालयो को लूटा, निर्धन की झोंपड़ियो को आग लगाई, विवेक को अधोगत किया, ज्ञान को वेश्या को हाट खुले हाथों बेचा, शान्ति की निर्मलधारा में मलिनता का पक-मिश्रण किया। एक हल्की-सी ठोकर दी और वज्रकठोर तपस्वियो को मेनका - विश्वामित्र के नेपथ्य में परिवर्तित कर दिया। भर्तृहरि का अनुभव तो और अधिक स्फीत है। 'शुनीमन्वेति श्वा' – लिखते हुए उन्होंने जिस कृश, काण, खज, कुत्ते का वर्णन किया है वह दुर्वार मोह का प्रतीक चित्र है। उन्होने ही शृ गार शतक में लिखा है कि 'जो लोग पवन पीकर, पत्ते चबाकर, पानी की घू ट लेकर अत्यन्त कठोर व्रताचरण करते थे, वे विश्वामित्र मेनका के रूपमोह मे, पराशर मत्स्यगन्धा की देहयष्टि पर आसक्त होकर तपश्च्युत हो गये। जो लोग प्रतिदिन घृतदुग्धशर्करादि पदार्थों से तर मेवा-मिष्टान्न, दूध-भात खाते है उनमे यदि इन्द्रियनिग्रह रह सके तो विन्ध्याचल समुद्र तैर जाए[1]।' मोह और उसकी उत्पत्ति का निरूपण इससे बढ़कर क्या हो सकता है ? अत. शरीर को कृश रखना, जिह्वासक्ति को निर्मूल करना तथा स्त्रीजातिमात्र से विरक्तिभाव रखना मानो मोह पर मुद्गर प्रहार करना है।

'हाड जले ज्यों लाकड़ी चाम जले ज्यो चीर' – इस प्रकार की अनित्यस्वरूपा अनुप्रेक्षाओ से विरक्ति का उदय होता है। श्मशान में जलते हुए शव को देखकर यदि मोह को चिताभस्म नही दी जा सकी तो बुद्धि का क्या लाभ हुआ ? कपिलवस्तु के राजकुमार सिद्धार्थ को दीन-हीन, विकलाग तथा शव को देखकर वैराग्य उत्पन्न हो गया था। भगवान् त्रिशलानन्दन भी ससार की निःसारता को आरम्भ से ही पहचान गये थे। ससार मे प्रतिक्षण जन्म-मृत्यु का चक्र चल रहा है। लोग अपने कन्धो पर बैठाकर मृतको को श्मशान ले जाते है और फिर भी पापाचार नही छोड़ते, अनित्य भावना भाकर आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्त नही होते। यह

१ 'विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपकज सुललित दृष्ट्वैव मोह गताः।
ये ह्यश्नन्ति घृतान्वित प्रतिदिनं शाल्योदनं पायस
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत् विन्ध्यस्तरेत् सागरम् ॥' – शृ गारशतक ८०

कितने आश्चर्य की बात है[1]। सभी जीवित प्राणी संसार में अनन्त कालतक ठहरने का विश्वास रखते है और विभुता का अभिमान करते है। महाभारत में दुर्योधन श्रीकृष्ण से कहता है कि 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव !' हे श्रीकृष्ण ! विना युद्धकिये पाण्डवो को सूई की नोक बराबर भूमि भी नही दूंगा। वह दुर्योधन, वे पाण्डव–आगे-पीछे समाप्त हो गये और यह भूमि 'अचला' होकर वही पड़ी है। राजा भोज को, उसके बचपन में, मुंज ने मरवाना चाहा था। मुंज सोचने लगा कि बडा होने पर भोज राज्य मागेगा। क्योकि वयस्क होने पर अपने स्वर्गीय पिता की राजगद्दी का वही अधिकारी था। उस मुंज ने मत्रियो को आज्ञा दी कि भोज को मार कर उसकी आँखे हमारे सामने प्रस्तुत की जाए। मत्रियो ने युक्ति से भोज को बचा लिया और किसी मृग की आखे मुंज को दिखा दी। परन्तु भोज अपने पितृव्य के क्रूर व्यवहार से इतना दुःखी हुआ कि उसने एक श्लोक लिखकर राजा को भेजा। मत्रियो ने आँखे और श्लोक दोनों उपस्थित किये। श्लोक का अन्तिम चरण था – 'नैकेनापि सम गता वसुमती मुंज ! त्वया यास्यति' – हे मुंज! मान्धाता से लेकर आजतक बडे-बडे चक्रवर्ती महाराज हो गये परन्तु अपना काल समाप्त कर सब चले गये। यह पृथिवी तो कभी विधवा नही हुई। नये-नये नृपाल आते रहे, जाते रहे। यह आजतक किसी के साथ नही गई। अब प्रतीत होता है आपके साथ जाएगी[2]।' इस अनित्य ससार के साथ इतना अधिक दारुण मोह करते लोग अपना विवेक, धम, ज्ञान सभी कुछ हार जाते है। केवल मोह, मोह और मोह की मृगतृष्णा के अतिरिक्त जीवन मे जीने योग्य उनके पास कुछ नही है। अहो ! मनुष्यो के मोह को उच्छिन्न करने में काल का बड़ा हाथ है। यदि काल न होता तो मोहान्ध मनुष्य अपने परिग्रह को कितना विस्तार देता, कहना कठिन है। सौ वर्ष जीने का भरोसा न होने पर तो यह हाल है और अनन्त समय तक जीते रहने का विश्वास होता तो सम्पूर्ण विश्व की सम्पत्ति को एक ही मनुष्य अपने नाम लिखाने के लिए सारी मानव जाति से विद्वेष, युद्ध करता और इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य संघर्ष की शरशय्या पर सोता, उसी पर उठता, चलता और अपनी महत्ताई

---

१ 'अहन्यहनि गच्छन्ति भूतानि यममन्दिरम्।
शेषाणि स्थातुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमत.परम् ॥'

२ 'मान्धाता स महीपतिः कृतयुगालकारभूतो गत
सेतुर्येन महोदधौ विरचित क्वासौ दशास्यान्तक।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिव भूपते !
नैकेनापि समं गता वसुमती मुंज ! त्वया यास्यति ॥' – भोजप्रबन्ध

को बुलन्द करने की रात्रिन्दिव कोशिश करता। परन्तु काल की बाधा से वैसा नहीं हो पाता, इस दृष्टि से मृत्यु के देवता यमराज स्तुति करने योग्य हैं। इस काल का नियंत्रण न होता तो विश्व कल्पनातीत दु.खों, भोगो और आसक्तियो से आकीर्ण हो उठता। किसी ने कहा है –

'कालबली सब को डसे क्या राजा क्या रक।
ज्ञानी चले खुशी-खुशी मूर्ख होय बदरग।।'

परन्तु किसी के बदरग होने की काल परवाह नही करता वह अपनी गति से चलता है। न थकता है न बैठता है। एक क्रमबद्ध योजना के अनुसार किसान जसे सस्यो पर दराती चलाता है, काल लोकजीवन के सहार में लगा हुआ है। जो ज्ञानवान् है वे अपनी निश्चित मृत्यु जानकर अमर होने के आध्यात्मिक प्रयास में लग जाते है। इसलिए मोह के साम्राज्य की मृगतृष्णा जैसी कल्पना को समझते हुए मनष्य को चाहिए कि वह मोह का उच्छेद करने में सदा-सर्वदा लगा रहे। क्योकि क्षीणराग व्यक्ति ही मुक्त होता है[1]।

मनुष्य का वन्धन और मोक्ष अपने उपायो से ही होता है। नर अपने आप को स्वय वन्धनो मे डालता है और स्वय मुक्त होता है। ससार में भी अपने द्वारा ही मनुष्य कर्मबन्धन में सयमित तथा मुक्त होता है। यही मुक्ति का रहस्य है। जो अपने शुद्ध आत्मा मे राग-द्वेष और मोह से रहित शुद्ध उपयोग धारण करता है, वही शुद्धि को प्राप्त करता है। इस प्रयत्न में मोह ही बाधास्वरूप है। सर्वप्रथम मोहवृक्ष को सुखाना पडेगा। उसकी मूलसिचनप्रवृत्ति को बन्द करना होगा। मूल सुखा देने पर वृक्ष के हरे होने की आशका नही रहती वैसे ही जीव को कर्म उत्पन्न नही होते। मोहनीय कर्म का क्षय ही कर्मवृक्ष को सुखानेवाला है[2]। इसके क्षय से जन्म-मरण-गतिक सहस्रार चक्र की धुर टूट जाती है। मोह को पराजित करने के लिए विषयो की क्षणविनश्वरता का विस्मरण नही होना चाहिए। निर्विषय, अर्थात् विषयो से रहित मन ही उत्तम सुखप्राप्ति में सहायक है[3]।

---

१. 'तदमु मोहमेवाहमुच्छेत्तु नित्यमुत्सहे।
मुच्येतैतत्-क्षये क्षीणरागद्वेषः स्वय हि ना।।' – सागारधर्मा०

२. 'सुक्कमूले जहा रुक्खे सिचमाणे ण रोहति।
एव कम्मा ण रोहति मोहणिज्जे खयं गते।।'

३. चइऊण महामोह विसए मुणिऊण भगुरे सव्वे।
णिव्विसय कुणहमणं जेण सुह उत्तम लहहि।।' – कार्तिकेयानुप्रेक्षा, २२

अभ्यास तथा वैराग्य से जब मन निर्विषय हो जाए तथा अपने वश में हो चुके तब भी इस पर कठोर नियंत्रण रखना आवश्यक है। क्योंकि इन्द्रिय तो अश्व हैं, जरा वल्गा शिथिल की और नियंत्रण से बाहर हुए। अतः प्रतिसमय वशीकृत मन पर भी पूर्ण विश्वास नही रखना चाहिए। 'ज्ञानार्णव' का इस विषय में स्पष्ट वचन है कि 'यदि मुनि का मन कदाचित् रागचेतना से अभिभूत हो गया है तो आत्मतत्व मे नियोजित कर देना अभीष्ट है। इससे रागादि परास्त हो जाते हैं[1]। रागादि रिपुओ को परास्त करना योगियो की विशेषता है। सामान्य लौकिक प्राणी जिन राग-बन्धनो से पराभूत रहते है, वे रागादि मुनियों से सदैव स्वय पराजित रहते हैं। जैसे महाविषधर नाग गारुडिक के मन्त्रो से कीलित होकर शिर नही उठा सकता, वैसे वीतराग मुनियो के अन्तर में विषयविकाररूप सर्प प्रवेश नही पा सकता। यह सारा ससार विभ्रम के आवर्त में फसा है। मोहनिद्रा से इसकी चेतना अस्त हो रही है किन्तु इस विषम दुर्घट परिस्थिति में योगी विजेता के समान अप्रमत्त, धीरभाव से जाग्रत रहता है[2]।

मोक्ष के इस प्रकरण में यह निरूपण करना आवश्यक है कि जैनपरम्परा के अनुसार मोक्ष ज्ञानमात्र से उपलब्ध नही होता। सम्यग्ज्ञानदर्शन के साथ सम्यक्चारित्र होना मोक्ष के लिए अनिवार्य है। मनुष्य मे देखना, जानना और प्रवृत्त होना – ये तीन क्रियाए स्वाभाविक है। दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र इन्ही तीनो प्रवृत्तियो के नामान्तर है। अनादिकाल से मनुष्य देखता, जानता और दृष्ट-ज्ञात पदार्थों मे प्रवृत्ति करता आया है। ससार के आत्मभिन्न द्रव्यो मे उसकी परिणति का इतिहास अनुस्यूत है। वह देखकर, जानकर तथा प्रवृत्त होकर भी तबतक मुक्त नही हो सकता जबतक उसकी त्रिविध प्रवृत्तियो मे सम्यक्त्व का पुट नही होता। सम्यक्त्व से ही पदार्थों का यथार्थ रूप प्रतिभासित होता है और जीव अनन्तानुबन्धी कर्म से छुटकारा पाता है। इस दृष्टि से सामान्य दर्शन तथा विशेष दर्शन मे भेद हो जाता है। सामान्यरूप से देखनेवाला सुवर्ण और मिट्टी मे भेद तो देखेगा परन्तु वह भेद लौकिक उपयोगिता की तुला पर रखा हुआ होगा। कह सकते है कि उसकी भेदमूलक दृष्टि राग, जिसे यहा स्वार्थपद से अभिहित कह

---

१ 'मुनेर्यदि मनो मोहाद् रागाद्यैरभिभूयते।
तन्नियोज्यात्मनस्तत्वे तान्येव क्षिपति क्षणात् ॥' ज्ञानार्णव, ५२

२ 'भवभ्रमणविभ्रान्ते मोहनिद्रास्तचेतने।
एक एव जगत्यस्मिन् योगी जागर्त्यहर्निशम् ॥' ,, ४०

सकते हैं, से बाधित है। मिट्टी के प्रति उसे विराग और सुवर्ण के प्रति राग है। यदि यह राग-विराग न होता तब उसके लिए सुवर्ण तथा मिट्टी समानरूपेण उपेक्षणीय ठहरते। किन्तु दो या दो से अधिक द्रव्यों में से किसी एक के प्रति आसक्ति तथा किसी दूसरे के प्रति उपेक्षा उसके वीतरागभाव को निषिद्ध करती है और किसी एक को राग का, तो किसी अन्य को विराग का स्थान मानती है। ऐसा मानते हुए जो जीवों की प्रवृत्ति-निवृत्ति देखने में आती है वह राग-द्वेष को जन्म देती है। और जिसे जिस वस्तु पर राग है, वह उसे असुन्दर, हेय अथवा त्याज्य मानता ही नही। एक आँख से हीन व्यक्ति भी अपनी आकृति का शृ गार करता है। इसका तात्पर्य यही है कि वह अपने को रूपहीन नही, अपितु रूपवान् मानता है। रागानुबन्धी व्यक्ति अपने रागस्थान को सुन्दर मानकर ही प्रवृत्त होता है। विषयो का जो स्वरूप एक रागी के सामने है, विरागी उससे सर्वथा भिन्न, विपरीत सोचता है। वेश्यागामी जबतक वेश्यागमन को बुरा नही मानता तबतक वहाँ जाता है। जिस दिन उसको यह पता चल जाता है कि यह वास्तव मे जघन्य कृत्य है उसी दिन उसे उससे घृणा अथच वैराग्य भी हो जाता है। भर्तृहरि को अमरफल के माध्यम से अपनी पत्नी के दुश्चारित्र का पता चला और वह उसी समय विरक्त हो गये। विरक्त व्यक्ति वस्तु के दोनो पक्षो को सोचता है। जहाँ एक कामातुर अपनी वासनातृप्ति को ही लक्ष्य मान कर उसमे बलात् प्रवृत्त होता है वहाँ वासनारहित व्यक्ति वासना मे प्रवृत्ति से होनेवाले दु.खपरिणाम, बन्ध, आसक्ति, कायक्लेश को भी जानता है और शान्ति, निराकुलता, प्रसन्नता को भी पहचानता है। वही किसी को रागसम्पर्क से होनेवाले दु खो की परिचिति करा सकता है। इस तटस्थ दृष्टि को सम्यक्दृष्टि कहते है। वादी-प्रतिवादी से पृथक् तीसरा व्यक्ति ही निर्णायक होता है। राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति ही रागद्वेष पर सही विवेचन दे सकता है। अत यह निष्कर्ष निकला कि दर्शन-ज्ञान तथा चारित्र का सामान्य रूप जो लोकप्रचलित है, वास्तविक स्वरूप से भिन्न है, विपरीत है। बाजार में रंग डालकर सजायी हुई मिठाई पर बालक का मन ललचाता है, वयस्क जानता है कि यह नेत्ररजक तो है परन्तु उदर में रोग उत्पादक है। सम्यग्दृष्टि भी यह समझता है कि 'आपातरम्या विषयोपभोगा.'—विषयो के उपभोग आरम्भ में रमणीय लगते हैं, परन्तु परिणाम मे विष के समान है। इसी परिप्रेक्ष्य में वह ससार के अशेष नाशमान् पदार्थों को जाचता है। आत्मा से भिन्न ये परपदार्थ खरी कसौटी पर परखने से मिथ्या सिद्ध होते है इसे जानकर वह 'आत्मरति'

आत्मा से ही स्नेहशील होकर अन्य सबसे मोहासक्ति को समेट लेता है। उसके दर्शन ज्ञान और चारित्र सामान्यबोध से ऊपर उठकर सम्यक्त्व से परिदर्शित, परिज्ञापित, तथा परिपालित होते है। वह समताभाव को प्राप्तकर मणि में लोष्ठ में, प्रासाद में श्मशान में समान दृष्टि रखता है। शास्त्रकारो ने पदार्थ में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – तीन स्थितिया निर्धारित की है। वस्तु है और वह मिट्टी से कुम्भ के समान रूपान्तर ग्रहण करती है तथा पुन: कुम्भ टूट जाने पर मृत्तिका ही रह जाती है। इस प्रकार मिट्टी से कुम्भ उत्पन्न होता है, टूट जाता है तथा मिट्टी ही होता है। उसकी इन तीनों स्थितियो में उसका मार्तिक स्वरूप अविनश्वर है। घडा होने पर भी उसमें मिट्टी का सद्भाव है और भग्न कुम्भ के उन बिखरे टुकड़ो मे भी मिट्टी का सद्भाव है तथा मृत्तिकाकार में भी मिट्टी की सत्ता अक्षुण्ण है। यह ज्ञान-दर्शन ही सम्यक् है। इसके विपरीत खेलते हुए बालक के हाथ मे गिरकर मिट्टी का बना हाथी टूट जाता है और वह बालक रोने लगता है कि मेरा हाथी टूट गया। किन्तु उसके पिता अथवा घर मे बडे लोग उसे चुप कराते हुए कहते है कि यह तो हाथी नही, मिट्टी है। इस प्रकार सामान्यत' वे बालक की अबोध दृष्टि से कुछ अधिक सोचते है किन्तु वास्तविक हाथी की मृत्यु पर उन्हे भी दु ख होता है तब सम्यग्ज्ञानी उन्हे प्रबोध देते है कि यह तो मिट्टी था, मिट्टी हो गया। उनका ज्ञान वास्तविक है। यही सम्यग्ज्ञान में तथा मिथ्याज्ञान मे अन्तर है। ससारी जन प्राय नाम-रूप जगत् मे विश्वास करते है और अपनी आसक्तियो को उनमें आरोपित कर देते है, उनकी आसक्तियो के स्थान जैसे-जैसे टूटते है वैसे-वैसे उन्हे शोक, दु ख, चिन्ता, क्लेश होते है। इसी दृष्टिकोण से तो किसीने कहा है कि 'मूढ मनुष्यो को एक-एक दिन मे सैकडो शोकस्थान, सैकडो भयस्थान बाधित करते रहते है, किन्तु स्थितप्रज्ञ पण्डित को तो जीवन मे एक वार भी शोक तथा भय उपस्थित नही होते। वास्तव मे देखा जाए तो जो स्वय शोचनीय है, वह दूसरो का क्या शोच करे। जो स्वय मृत्यु के जबडो मे पडा हुआ है वह किसी दूसरे के मरने पर क्या शोक करे, विस्मय करे। यह विवेक पदार्थों के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को जानने वाले सम्यग्दृष्टि जीव को प्राप्त होता है जिससे वह ससार के विषयादि से उत्पन्न रागादि क्लेशो से छुटकारा पाकर परम आनन्द को प्राप्त करता है। मिथ्यात्व से उत्पन्न दृष्टि-विकार जीव को ससार के नीच कीच में सान देता है और सम्यक्त्व से जन्य दर्शन-ज्ञान और चारित्रभेद उसे मोक्षमार्ग पर ले जाता है। 'सम्यग्दर्शनज्ञान-

चारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्रवर्ती पदविन्यास इसी अनुक्रमणिका की ओर सकेत करता है।

परिणामतः मोहयुक्त अज्ञान से बन्ध होता है। मोहरहित अज्ञान बन्ध का विषय नहीं है। यदि ज्ञान अल्प हो किन्तु मोह नही हो तो मुक्ति प्राप्त हो सकती है किन्तु मोहविद्ध ज्ञान से मुक्ति नही हो सकती। लोकप्रसिद्ध है कि 'क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति' – वस्तु वैशिष्ट्य से क्रिया की फलसिद्धि में विशेषता आती है। धृत को रजतपात्र मे रखने पर उसकी विशुद्धता बनी रहेगी और पीतल के पात्र में रखने से दोष आ जाएगा। ज्ञान को निर्मोहपात्र मे रखने से वह मुक्तिपरिणामी होगा और विपरीत अवस्था मे बन्धकारण बनेगा। ज्ञानवान आसक्तियो से परे होकर शरीर को आत्मा से भिन्न देखता है। वह सोचता है – 'जब मेरी (आत्मा की) मृत्यु नही तो भय कैसा ? जब मेरा आत्मा रोगमुक्त है, उसे रोग आ ही नही सकते तो पीडा किस को ? वस्तुत न तो मै बालक हू और न वृद्ध हू। यह सब तो पुद्गल का खेल है[1]।' ऐसे परिपक्व ज्ञानी ज्ञान-सम्पदा से अतिशय भारायमाण न होकर यदि अल्पज्ञानवान् है तो भी अपने भेद-ज्ञान से भवसागर पार उतर जाते है। उन्ही को लक्ष्य कर यह कहा गया है कि 'याद करत तुष-माष को उतर गये भवपार'। क्योंकि मोक्षप्राप्ति मे वीतरागता सर्वोपरि है। इस देहपजर में कर्मपरिणाम से ही आत्मशुक बन्धनग्रस्त है। आत्मध्यानी मुनि कर्मनिर्जरा से अपने को अनन्तानुबन्ध से मुक्त कर लेते है। जो जितना मोहग्रस्त है वह उतना ही मृत्यु से डरता है। मुनि तो स्वय मृत्यु वरण करने के लिए सल्लेखनाव्रत लेते है। जिसने जन्मभर सिहवृत्ति से चर्या की, वह मृत्यु के द्वार पर भी सिहवृत्ति से ही जाएगा। कामासक्तो को मृत्यु डरा सकती है, विरक्त को नही। आत्मा को अमृतस्नान करानेवाले अजर-अमर आत्मधर्मा मुनि की मृत्यु होती ही नही। कहा है – 'ममेति द्व्यक्षरो मृत्युरमृत न ममेति च' – मम (मेरा) यह ममत्व ही मृत्युजनक है और ममत्व से रहित होना ही अमर होना है। अमरता वीतरागता का परिणाम है। सच्चा वीतराग तो किसी पदार्थ पर राग नही करता। मोक्ष पर भी आसक्ति नही रखता। सर्वत्यागी को भौतिक-अभौतिक सभी आसक्तियो का त्याग होता है। आचार्य अकलकदेव ने इसी सच्ची वीतरागता को लक्ष्य करतेहुए कहा है – 'यस्य

---

१ 'न मे मृत्यु कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ?
नाह बालो न वृद्धोऽह न युवैतानि पुद्गले ॥'

मोक्षेऽप्यनाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति' – जिसे मोक्ष की भी इच्छा नही, वही मोक्ष को प्राप्त करता है। वीतरागता की कितनी भव्य झांकी आंकी है आचार्य ने! अतः वीतराग भाव को लक्ष्य में रखना ही मुक्तिसोपान है। बहुत पढ़ना, उग्र तपस्या करना ये तो स्वय में कर्तृत्वाभिमान उत्पन्न करनेवाले है। भला, 'उस रातदिन पढ़ते रहने से क्या, जिससे केवल तालू सूखता रहे। वह एक ही अक्षर पढना सार्थक है जिससे शिवपुर (मोक्ष) जाया जा सके[1]।' कोरे शब्दपण्डितो को लक्ष्य मे रखकर नीतिकार कहते है – 'शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्' – शास्त्रो का प्रचुर अध्ययन करके भी लोग मूर्ख रह जाते है, जो शास्त्रो के स्वाध्यायपरिणाम को क्रिया में परिवर्तित करता है, निरा शास्त्रवादी न होकर चर्यावादी होता है, वही विवेकी है। भेदज्ञानी मुनि चारित्र पालन करतेहुए शास्त्रस्वाध्याय के परिणाम को शुद्धोपयोग में परिणत करते है और कोरे शुकपाठी आजन्म पक्तियो के परिष्कार मे ही अटके रहकर शास्त्राध्ययन से प्रादुर्भाव्य परिणाम से वचित रहते है। एक कोयले को जलाकर राख कर देता है और दूसरा उसे कूट-कूट कर राख मे सन जाता है। कोयले की राख तो दोनो ने की किन्तु एक ने उस कोयले में अग्नि प्रज्वलित कर उसके ताप का उपयोग किया किन्तु दूसरे ने न तो अग्नि के दर्शन किये और न ताप का अनुभव किया। ऐसा व्यक्ति 'विदग्ध' कैसे हो सकता है ? ज्ञान मोहक्षय के लिए है न कि वितण्डावाद के लिए। अत ज्ञानोपासक भी मोहपराभव नही कर सका तो यह 'कोयला कूटने' जैसी बात हुई। भ्रम, अज्ञान तो दूर हुए नहीं और शास्त्रभार वहन करना पड़ा सो अलग। ऐसे दिग्भ्रान्त बालिशो को आचार्यो ने मोक्ष का अधिकारी नही बताया है। 'जो व्यक्ति अज्ञानतिमिर से आच्छन्न अपने आपको कर्तृताभिमानयुक्त रखते है और सोचते है – अमुक को कष्ट पहुंचाने की शक्ति मुझ में है। मै चाहूं तो समुद्र को मरुस्थल और मरुस्थल को समुद्र में परिवर्तित कर सकता हू तो यह उसका अज्ञान है। उनको मोक्षप्राप्ति नही होती[2]। वह परपरिणति मे अपने को फँसाये रखकर आत्मचिन्तन से दूर चला जाता है। कर्तृत्वाभिमान का उदय भी मोह से होता है। और मार्ग से विचलित करना मोह का निसर्ग स्वभाव है। ऐसे मोहमग्न किन्तु मुक्ति चाहनेवाले व्यक्ति

---

१. 'बहुयइ पढियइ मूढ पर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कुजि अक्खर त पढहु शिवपुर गम्मइ जेण॥'

२. 'ये तु कर्तारमात्मान पश्यन्ति तमसा ततः।
सामान्यजनवत्तेषा न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम्॥'

ऐसे लोगों के समान हैं जो भगवान् के सम्मुख बैठकर जाप्य करते हुए मन में नर्तकी के नृत्य को न देख पाने की विवशता पर अन्दर ही अन्दर खिन्न हो रहे हैं। शास्त्रकारों का अभिमत है कि यदि कोई गृहस्थ श्रावक, जो मोहरहित है, मोह-पराभूत किसी त्यागी से श्रेष्ठ है। मोहमग्न मुनि शिथिलाचारी है तो यह उसकी श्रेष्ठता में न्यूनता है। मोक्ष के लिए कषायकर्षण आवश्यक है। विना कषायकर्षण के कायकर्शन निष्फल है। शुद्धोपयोग के विना शास्त्रश्रम व्यर्थ है। मोह रखते हुए ज्ञानवान् कहलाना ज्ञान का दम्भ करना है। विद्या की उपासना मुक्ति के लिए की जाती है। जो मोक्षतक पहुँचाने में असमर्थ है, वह विद्या नही, अविद्या है। जहाँ दर्शनमोह की सीमा समाप्त होती है वहाँ से मुक्तिपुरी का आरम्भ होता है।

सक्षेप में, मोह और मोक्ष पर विचार करते हुए इस वास्तविकता को हृदय में रखना चाहिए कि यह संसार अनादि है। ये दृश्य जीव आज ही उत्पन्न नही हुए है और जिनकी मृत्यु हुई है, वे आज प्रथम वार कालकवलित नही हुए है। 'पुनरपि जनन पुनरपि मरण पुनरपि जननी जठरे शयनम्' – पुनर्जन्म और पुनर्मृत्यु, गर्भानल और चितानल, तथा अनन्त भवो में चक्रमण की अभग्न शृंखला। एक ऐसी निरुद्देश्य यात्रा, जिसका अन्त नही। पीडाओं का अवसान नही और जन्मपरम्परा को विश्रान्ति नही। मनुष्य के लिए यह स्थिति शोचनीय है। क्योकि वह मति, मेधा और बुद्धि का धनी है। मनन करना, धारण करना तथा उस पर विवेचक चिन्तन करना मनुष्यपर्याय में ही सम्भव है। उसे अज्ञान के हाथ से होनेवाली अपनी अकाल मृत्यु से बचने को प्रयत्नशील होना चाहिए। इस विषय में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थो की उत्तरोत्तर अन्वयिता, उपयोगिता तथा उत्थानमार्ग में प्राप्य प्रेरणा का परिशीलन करना उसके लिए हितकर है। पुरुषार्थों का मूल धर्ममय है, धर्म है और पुरुषार्थों का अन्तिम फल मोक्ष – अर्थात् मुक्ति है। अर्थ और काम लौकिक विषय हैं परन्तु इनकी नीव धर्माश्रित है और परिणाम मोक्षगामी होना अपेक्षित है। जो धर्म को मूल मानकर अर्थप्रवृत्त होता है, वह पुण्यबन्ध करता है किन्तु जो अर्थ उपार्जन करते समय धर्म का तिरस्कार करते हुए 'येन केन प्रकारेण' धन कमाता है, वह उसके साथ पाप भी अर्जित करता है। मात्र धनार्जन ही जिनका लक्ष्य है, उद्देश्य है, वे अर्थ के लिए किसी की हत्या भी कर देते हैं। अतः शुद्ध अर्थव्यवसाय धर्माश्रित होना आत्मकल्याण तथा वृत्ति की पवित्रता के लिए नितान्त अनिवार्य है। 'काम' पुरुषार्थ क्यों कहा गया ? यदि यह

निन्दनीय 'वासना' मात्र है तो इसे पुरुषार्थों की अवली में प्रतिष्ठित क्यो किया ? अतः इसके धर्ममूलक रूप को जानना आवश्यक है। ससार को त्याग से जीता जाता है और राग से बन्धनपरिणाम भुगतना होता है – यह नित्य सत्य है। किन्तु त्याग का मार्ग सम्पूर्ण ससार ग्रहण नहीं कर पाता और बहुसंख्यक लोग संसारी है। यह ससार वासनामूलक है तथापि मनुष्य ने अपनी विवेक-शक्ति से वासना को पाशविक धरातल से उठाकर मानवोय रूप दिया है। वह इस अपरूप पशुधर्म को सामाजिक तथा सास्कृतिक रूप देने में सफल हुआ है। समाज के रूप में उसने पत्नी, माता, पुत्री, स्वसा आदि विविध सम्बन्धो की प्रतिष्ठा करतेहुए वासना को सीमित किया है तथा पुत्रपरम्परा को सृष्टि का स्वाभाविक परिणाम मानकर उसे पिता-पुत्र के पवित्र सम्बन्ध में अनुसूत्रित किया है। अनिवार्य यौन सम्बन्ध को देव, गुरु, तथा अग्निहवन एव मंत्रो की सन्निधि तथा साक्षी मे सम्पन्न कर उसे सामाजिक सम्कृति का पावन विधान बना दिया है। विवाह होने पर पुरुष तथा स्त्री के लिए समार के सभी पुरुष तथा स्त्रीवर्ग यौनसम्बन्धबाह्य हुए, यह प्रतिष्ठा करना पति-पत्नी की दैहिक, मानसिक, आत्मिक चर्या का अनिवार्य अग हो जाता है। इस प्रकार वासना पर सम्पूर्ण नियत्रण नही, तो उमकी अकुण्ठ गति पर समाज तथा सस्कृति के सीमा-कवाट तो लग ही जाते है। एक पुरुष एकपत्नीव्रतो हो और एक स्त्री एकपतिव्रत धारणकर जन्मभर के लिए शपथ ले, यह पवित्र जीवन को आरम्भ करने का प्रथम चरण है। जिस व्यक्ति ने सम्पूर्ण ससार के स्त्री-पुरुष-परिवार मे से अपना वासनासम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया और एकमात्र 'दम्पती' युग्मतक उसे सीमित कर लिया, उस से यह आशा की जा सकती है कि कालान्तर मे विषयरुचि को जीत कर वह त्यागमार्ग पर भी विचरण करने मे समर्थ हो सकेगा। क्योकि मन का चचल स्वभाव एक स्त्री से, तथा एक पुरुष से तृप्ति अनुभव नही करता और स्वैर, स्वच्छन्दगामी होना पसन्द करता है। मनुष्य समाज के कठोर नियम उसे विवश करते है तथा सत् शास्त्र स्वाध्याय से वासना का मलिन रूप भी उसे शनै शनै. प्रतीत हो जाता है। इस प्रकार 'काम' भी पुरुषार्थ है। वह पवित्र सन्तान की परम्परा चलानेवाला है, पत्नीव्यतिरिक्त सभी स्त्रियो के प्रति भगिनीत्व–मातृत्व की भावना चरितार्थ करनेवाला है। इस उद्दाम मानसिक विकृति को नियन्त्रित करने में 'काम' की यह परिभाषा बहुत महत्त्वपूर्ण है। मोहनीय कर्म का क्षय कर मनुष्य को अन्तिम पुरुषार्थ 'मोक्ष' की सिद्धि करना ही उपादेय है। 'काम' कामनाओ की पूर्ति से शान्त नही होता। अग्नि

घृताहुति से निर्वापित नही की जाती। अत. काम को त्यागकर मोक्षमार्ग को अंगीकार करना ही मनुष्यभव की सर्वश्रेष्ठ परिणति है। जो अपने जीवन में अर्थ और काम से ऊपर नहीं उठ सका, उसने 'नर से नारायण' होने की सम्भावना रखनेवाले, क्षमताशील मनुष्यपर्याय को, मणि से काक उडाने के समान तुच्छ किया, दीन बनाया और हीनताओं में समाप्त कर दिया। अर्थ और काम से रति करना तो परपदार्थ से आसक्ति रखना है। अनेक जन्मों तक परपदार्थरति रखते हुए मृत्यु प्राप्त करना और इसकी समाप्ति का प्रयास न करना, अज्ञता नही तो क्या है? वास्तविक धर्म अर्थ और काम मे नही है। वह तो सम्यक् चारित्र में है। चारित्र का पालन वीतराग तपस्या के बिना अशक्य है। जहाँ एक लंगोटी धारण करनेवाले ऐलक भी प्रतिलेखन शुद्धि में समय देने से अपना अभीक्ष्ण उपयोग नही कर पाते, वहाँ सागार गार्हस्थ्यपालन करनेवाले कहाँ तक सक्षम हो सकते है? यह मोक्ष 'मोक्षमार्ग प्रकाश' अथवा अन्य मोक्षविषयक प्रतिपादन करने वाले आगम-स्वाध्याय से उपलब्ध नही होता, इसके लिए तो कर्मों के पर्वत तोड़ने पडते है, ससार के समस्त आत्मभिन्न वैकारिक पदार्थों से विराग लेना पडता है और सर्वारम्भ परित्यागपूर्वक महाव्रतो का अनुपेक्ष्य पालन करना होता है। विशुद्ध आत्मतत्त्व मे ध्यानावस्थित होकर जो मुनि ध्यान, ध्याता और ध्येय की एकात्मता का साक्षात्कार करते है, मोक्ष उन्ही को प्राप्त होता है। यह सामर्थ्य आन्तर-बाह्य परिग्रहहाणपूर्वक निर्ग्रन्थचर्या के पालन मे उद्भूत होता है। जब आत्मा ससार की आकुलताओ से मुक्ति प्राप्त कर चुके, तभी तो पारलौकिक दुर्गम पथ पर निराकुल संचरिष्णु हो सकता है। स्वकल्याण के लिए आत्मनिष्ठता प्राप्त करो, परपदार्थरति का त्याग करो तथा अत्यन्त विशेषणयुक्त आनन्द, ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य और परमसूक्ष्मता को अधिगत कर मोक्षगामी बनो। ससार के आनन्द, ज्ञान, ऐश्वर्य और वीर्य आदि क्षुद्र है, नाशमान् है, अल्प है, क्षयिष्णु है और आत्मा का अध.पतन करानेवाले है। अत निर्वीर्यता के धरातल से उठकर ब्रह्म पद प्राप्ति के पुरुषार्थ करो।

लेखन-कला

वाक् के दो व्यावहारिक रूप है ध्वनि और लिपि। दोनो शब्दमय हैं। एक भाषितरूप है और दूसरा लिखितरूप। वक्तृत्वकला में वाक् के भाषितरूप की अवगति दी जा चुकी है। प्रस्तुत लेख मे वाग्विधान के लेखात्मक विन्यास पर विमर्श किया जाएगा। लेखनकला छवि-अकन-विद्या के समान है। एक व्यक्ति के अनेक चित्र 'फोटो' से प्राप्त किये जा सकते है और आवश्यकता होने पर व्यक्ति-परिचय के लिए विविध स्थानों पर प्रेषित किये जा सकते है। प्रत्येक स्थान पर आकृतिदर्शन के लिए उसी व्यक्ति का जाना, उस प्रतिच्छवि के पश्चात् आवश्यक नही। लेखनकला भी लिपिविद्या है और लिपिबद्ध अक्षरो मे व्यक्त विचारो को पुन पुन: मुखयत्र द्वारा उच्चारित करना अपेक्षित नही। जैसे व्याख्यान सुना जाता है वैसे लेख पढा जाता है। वाक् का श्रव्यरूप वक्ता की अपेक्षा करता है किन्तु उसका लेख्यरूप वक्ता की अनुपस्थिति मे भी उसके द्वारा प्रतिपादित भावो को उसीके शब्दो मे यथावत् प्रस्तुत कर देता है। इस प्रकार दीर्घजीविना की स्पर्धा मे वाक् का लेख्यरूप अधिक उपादेय है। वैसे यह उसका अवरज है। वाक् अग्रजन्मा है और लेख अनुजन्मा है। जब वक्ता को अपनी अभिव्यक्ति के सरक्षण का विचार हुआ, उसने लिपिविद्या का आविष्कार किया। इस लिपिविद्या ने उसकी वाणी को पुनर्जीवन दिया। उसके विचारो को अक्षय यौवन प्रदान किया। उसकी मृत्यु को पराजित किया। अक्षरो मे लिखित उसकी कीर्ति कल्प-काल के लिए सुरक्षित होकर लेखक के लिए अमरता हो गई। स्वर्ग मे रहनेवाले देवो का नाम 'अमर' है। उन्होंने अमृत पीकर अमरता प्राप्त की और लेखन-कला से यशस्वी हुए कलाकार को लिपिबद्ध अक्षरो ने 'अमर' कर दिया। पृथ्वी पर 'अमर' होकर जीनेवाले वे है, जिन्होने अपनी लेखनी को कनकमषी में निमग्न कर शाश्वत साहित्य की रचना की। अपने तप:-स्वाध्याय-चिन्तन से समुद्भूत विचारो को लिखा तथा उन्हें वाक् के साथ शून्य में उडने, खो जाने से रोका। यह लेखनप्रणाली मानव जाति के लिए वरदान है। वह कामधेनु के समान इससे इच्छित क्षीरदोहन कर सकता है। आज के युग में लेखनकला को मुद्रण से पर्याप्त विकास मिला है। यान्त्रिक मुद्रण के युग से पूर्व लिखित पुस्तको का बहुत

समादर था। एक-एक ग्रन्थ वर्षों में लिखकर समाप्त किया जाता था। उसकी लिपि तथा प्रतिलिपि सम्भाल कर रक्खी जाती थी। प्राचीन हस्तलिखित संग्रहालयों में सुरक्षित ग्रन्थों को देखकर उस समय के लिपिधुरीणों के श्रम का ज्ञान होता है। हाशियों को हिंगुल से, कुंकुमद्रव से, हल्दी से रंगने की प्रथा थी। पत्रों में कथानक के पात्रों का चित्रांकन चलता था। चित्र साधारण और विशिष्ट होते थे। चित्रों में सुवर्णनिर्मित मषी का प्रयोग किया जाता था। बहुत-सी पुस्तके कांचन के पानी से ही लिखी होती थीं। पुरातत्वसग्रहालयो में ऐसी कुछ पुस्तकें आज भी विद्यमान हैं, जिन्हें देखकर लिपिकर्ताओ के असीम धैर्य का पता चलता है। ताड़पत्र पर, भोजपत्र पर तथा हाथबने देशी कागज पर मुहबोलते वे चित्रांकन, अक्षरलेखन आज भी धूमिल नहीं हो पाये हैं। उनकी स्याही इतनी पक्की है कि देखकर उनके अज्ञात मिश्रण पर विस्मय होता है। आज मुद्रण की सुविधा मिलने से ग्रन्थो की सुरक्षा का उतना अवधान नही रह गया है। एक-एक ग्रन्थ की सहस्रो प्रतियाँ छपती है और खरीदार प्राचीन युग की तुलना में बहुत अल्पमूल्य देकर उसे प्राप्त कर लेता है। अप्राप्ति की सम्भावना न होने से उन ग्रन्थो को सावधानी से रखने तथा चयन करने का रुझान आजकल कम हो चला है। परन्तु यत्रयुग से पूर्व में इन्हे देवप्रतिमा के समान आदर-मान से रखा जाता था। जरी की किनार लगे पीले वेष्टनों में पुट्ठे लगाकर ऊचे स्थानों पर रखने की प्रथा थी। ग्रन्थो को श्रुतपाहुड पर रखा जाता था और नीचे अगण में विना आसन के रखना वर्जित था। 'देव-गुरु और शास्त्र' एक कोटि में स्मरण किये जाते थे। शास्त्र को भूलकर भी पैर लग जाने पर उसे मस्तकस्पर्श दिया जाता था। यह प्रक्रिया लिखित पुस्तको में होनेवाले श्रम को लक्ष्य करके प्रचलित थी, उन ग्रन्थो से प्राप्त होनेवाले ज्ञान के निमित्त श्रद्धाभाव की द्योतक थी। आज मुद्रित पुस्तकों का युग है। प्राचीनकाल जैसी कलात्मकता यद्यपि सर्वत्र देखने में नही आती तथापि मुद्रण बहुत उन्नतावस्था में पहुँच गया है। तभी लाखों की संख्या में एक जैसे अक्षरों में दैनिक समाचार-पत्र छपकर प्रतिदिन देश-विदेशो में पहुँच जाते है। आज इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति ग्रन्थों, पुस्तको को प्राप्त कर सकता है और उस युग में पुस्तकों का लिखना-लिखवाना बहुत व्ययसाध्य कार्य था और सभी के लिए सुलभ नहीं था। किसी मूल प्रति का पा लेना कठिन था और उससे दूसरी प्रति तैयार करवाना और भी कठिन था। एक-एक ग्रन्थ के लिखने में, उसके श्लोकसंख्या परिमाण के अनुपात से दीर्घकाल लग जाता था। आज का यह मोनोटाइप, कम्पोज उस समय कल्पनाबाह्य था। अस्तु।

ऊपर केवल लिखने की एक कला पर दृष्टिपात किया गया है। वस्तुत: यह बाह्य वर्णनमात्र है। इसके मूल अक्षर तो लेखकों, ग्रन्थरचयिताओं, शास्त्रकारों से सम्बन्धित हैं। इस दृष्टि से विचारने पर प्राक्कालिक लेखकों और अधुनातन लेखको में एक स्पष्ट अन्तर देखने में आता है। मुद्रणकला की सुविधा मिलने से आज आत्मख्याति एवं प्रकाशन के अवसर अधिक सुलभ हो गए हैं। इस हेतु से प्रत्येक वह व्यक्ति, जो मुद्रण के लिए व्यय कर सकता है, लेखक होने, प्रसिद्धि पाने में समर्थ है। इसके विपरीत एक सुलेखक अर्थाभाव होने से न अपने ग्रन्थ को प्रकाशन दे सकता है और न लेखकों की पक्ति में आ सकता है। यह अर्थ का प्रभुत्व ही है कि आज के बाजारो में पुस्तको के रग-विरगे अम्बार लगे है। जासूसी, तिलस्मी, हत्याभरी, तथा दैनिक पत्रो के समान यात्रापठनीय सस्ती (स्तर से तथा मूल्य से) पुस्तके सर्वत्र पुष्कल मात्रा में उपलब्ध है। ऐसे असीम समुच्चय में किसी सुलेखक की स्थायी साहित्य में गणनीय विचारप्रद पुस्तक ढूँढ निकालना परिश्रमसाध्य है। इसमें साहित्य के स्तर को गिरानेवाले व्यवसायी लेखक है जो प्रतिदिन एक पुस्तक लिखनेवालो तक हैं। उन्हे अर्थ चाहिए और प्रकाशको को नित्य नया 'माल' चाहिए। इस प्रकार वनस्पतितैल से निर्मित मिठाइयो के समान 'घासलेटी' साहित्य का बाजार गर्म है। जैसे सिनेमा के गीतो ने राग-रागिनीबद्ध पक्के राग के गीतो की ध्वनि को मन्द कर दिया है वैसे सस्ते कहे जानेवाले इस पण्य साहित्य ने पुण्यपाठ को अध:पतित करने मे अपना कौशल प्रदर्शित किया है। आज के नैतिक पतन का अर्धांश सिनेमा-जगत् को और अर्धांश ऐसे सस्ते बुकस्टालो को दिया जाना युक्तिसगत है। वे जनता के हाथो मे विषभरे अनैतिक कथानको को पहुँचाने के गम्भीर अपराधी है। जिस राष्ट्र का विद्याविभाग इतना अनियंत्रित हो, वहाँ 'रीटा और 'सीता' का सम्मानप्रश्न उपस्थित होने पर 'रीटा' के पक्ष मे समर्थक मत अधिक मिले तो आश्चर्य क्या ?

वस्तुत लेखन इतना सरल नही है। वर्षों के तप स्वाध्याय के परिणाम-स्वरूप लिखने का साहस किसी-किसी मे होता है। प्राचीन वाङ्मय को देखने से ज्ञात होता है कि एक-एक ग्रन्थ लिखने में जीवन लग जाते थे। कभी-कभी तो जीवन लगने पर भी ग्रन्थो की परिसमाप्ति नही हो पाती थी। संस्कृत साहित्य मे प्रसिद्ध गद्यभट्टारक बाण भट्ट की कृति 'कादम्बरी' के अपूर्ण भाग को बाण के पुत्र ने पूर्ण किया। आचार्य जिनसेन सम्पूर्ण 'महापुराण' नही लिख पाये और

फलतः उनके शिष्य गुणभद्र ने 'उत्तरपुराण' लिखकर उसे समाप्त किया। आचार्य अकलक तीन ग्रन्थ ही लिख सके, जबकि आज अनेक लेखक कुछ दिनों में ही एक ग्रन्थ लिखने के अभ्यासी हैं। यह विरोधाभास किस ओर निर्देश करता है ? क्या इसका यह तात्पर्य समझा जाए कि लेखन का प्राचुर्य आधुनिको में अधिक है अथवा पूर्वकालिक न्यून लिखते थे। विचार करने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि आधुनिक साहित्यलेखकों का लेखन जिन विभक्तियो में विभाजित है वे निम्न प्रकार हैं—

अधिकाश लेखक पूर्ववर्ती लेखको के सन्दर्भजीवी है। यदि वे आलोचक हैं तो सहज ही उन्हें स्लेट और खडिया की सुविधा प्राप्त है। वे उस आधार से जीवित रहकर अपनी लेखनप्रवृत्ति को प्रेरणा देते रहते हैं। यद्यपि वे स्वतत्र कुछ नही लिखते तथापि स्वतत्रता से लिखे हुए पर अपना मत अभिव्यक्त करते हुए अनेक ग्रन्थो के लेखक बनने का सौभाग्य प्राप्त कर लेते है। प्राचीन लेखन-विभाग के अनुसार ये मल्लिनाथपरिवार के कहे जाने चाहिए। मल्लिनाथ ने अपनी टीकाओ के आरम्भ में प्राय: लिखा है कि 'नामूल लिख्यते किचिन्नानपेक्षित-मुच्यते'—'जो मूल मे विद्यमान नही है, वह मै नही लिखूंगा तथा जिसकी अपेक्षा नही है वह भी मैने नही लिखा है।' आधुनिको मे मूल से व्यतिरिक्त प्रतिपाद्य विषय मे सम्बन्धित विषय के उपबृहण की प्रवृत्ति बढ गई है और इतने मात्र से वे मल्लिनाथपरिवार मे आगे है। जो मौलिक लेखक है वे पण्डितराज जगन्नाथ के अनुगामी है। पडितराज ने 'रसगगाधर' मे यह प्रतिज्ञा की है कि 'कस्तूरिका जिसकी नाभि मे है, वह हरिण किसी अन्य सुगन्धि को सूघने की लालसा क्यो करे ? मैने साहित्य मे अपनी मौलिक स्थापना तो की ही है, साथ ही उनके उदाहरण भी स्वनिर्मित दिये है।' उनकी यह घोषणा साहित्यजगत् मे नवीन है। ऐसे मौलिक चिन्तक जीवन में एक-दो कृतियाँ ही दे पाते है। किन्तु उन कृतियो में जो गम्भीरता, विशिष्टता अथ च मौलिकता दिखायी देती है, वह अन्यत्र दुर्लभ होती है। इस विचार से प्राचीनो ने सूत्रात्मकता से जितना लिखा, आधुनिक प्राय उसकी व्याख्या करने मे लगे हैं और उस मौलिक चिन्तन पर अनुचिन्तन करनेवालों की लेखनपद्धति आज अधिक दृश्यमान है।

यह लेखनकला स्वाध्याय, शक्ति और बहुज्ञता से प्राप्त की जाती है। जिसने कठिन श्रम करतेहुए स्वाध्याय नही किया, उससे प्राप्त ज्ञान को आत्मसात् कर पचाया नही, वह कभी कुशल लेखक नही हो सकता। जिसने ध्यानस्थ होकर

लेख्य विषय का सर्वांग दर्शन नहीं किया, क्या वह उसका पूर्ण वर्णन कर सकता है ? इस पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए पुराकालीन लेखक तपस्या करते थे, चिन्तन में युग बिता देने थे और सत्य के साक्षात्कार के अनन्तर ही प्रतिपाद्य विषय का शुभारम्भ करते थे। तब भी वे 'मंगलाचरण' करना न भूलते थे। मानो, ऐसा करतेहुए उन्हें 'दिव्यध्वनि' सुनायी पड़ती हो। लिखने में भाषा, भाव, शैली, मितात्मकता के सौष्ठव को सुरक्षित रखने की ओर उनका पूर्ण ध्यान रहता था। इसी निष्ठा से उन पर सरस्वती प्रसन्न होती थी और परिणामस्वरूप 'भवभूति' जैसे महाकवि लिखते थे—'ऋषीणा पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' पुराने ऋषिमुनियो की वाणी के पीछे अर्थ दौड़ लगाते थे। आजकल अर्थ के पीछे वाक् का अवतरण कथचित् होता है। पूर्वसमय के सिद्धवक्ता ने 'हिंस' के स्थान पर 'सिंह' कह दिया तो अर्थ सिंह के अनुपद चला आया। ऐसे सर्वतंत्रस्वतत्र वाणी के धनी लेखनकला में नवीन प्राण डाल देते थे। जैसे गंगा के प्रवाह अपना मार्ग बनाते चलते है वैसे उनकी लेखनी अस्खलित प्रवाह से अक्षरविन्यास करती चलती थी। धवला और जयधवला तथा महाधवला जैसे विशाल शास्त्रीय लेखन विना तप·सिद्धि के कौन लिख सकते थे ? महाकवि गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' की रचना की और उसे सुनाने के लिए तत्कालीन किसो राजा की सभा में गया। राजा ने 'पैशाची' भाषा में लिखित होने से रचना को सुनने से इन्कार कर दिया, इसका गुणाढ्य को इतना दु.ख हुआ कि वह एकान्त वन में आकर बैठ गया। उसने पत्ते एकत्र कर अग्नि प्रज्वलित की और एक-एक पत्र को पढ़कर उसमें डालने लगा। इस प्रकार उस महत्त्वपूर्ण रचना का तृतीयाश अग्निसमर्पित हो गया। शेष एक भाग किसी प्रकार बचा रहा। 'महापुराण' के कर्ता ने आदर सहित गुणाढ्य का स्मरण किया है। आज विश्व में प्रचलित पचतंत्र तथा अन्य ऐसी कथाओ का आधार 'बृहत्कथा' ही है। लेखनी के ऐसे धनी स्वाभिमानी आज कहा है ? जिनकी अशावशेषरचना को लेकर युगों तक साहित्य लिखा जाता रहे, वे सुकीर्तिकलहस आज के स्वल्पनीर मानस सरोवरो से प्रायः अदृश्य हो गये हैं। उनकी लेखनी सभी रसों में अबाधगतिक होती थी। यदि शृंगार का वर्णन करने लगते तो साक्षात् कामदेव और रति को अपनी लेखनी के शंकु पर उतार कर रख देते थे और वैराग्यधारा में बहते तो लोग वीतराग होकर निर्ग्रन्थमुद्रा धारण करने को तत्पर हो उठते थे। 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'— उनकी वाग्धारा पर पत्थर रो देते थे और वज्र का हृदय पिघल उठता था। उन्हें

अपनी वाङ्मयतपस्या पर पूर्ण विश्वास था। उनके प्रतिभापात्र इतने भरे हुए थे कि साधारण बोलचाल में उनकी भंगिमा का रस छलक-छलक पड़ता था। सूक्तियो और सुभाषितो के रूप में लिखित वह साहित्य आज भी सहृदयो का कण्ठहार है और वाणी का शृंगार है।

लेखनकला की प्रथम विशेषता यह है कि वर्ण्य विषय पाठक के बोधगम्य हो। यदि वर्ण्य विषय को प्रांजल भाषा तथा शैली द्वारा प्रतिपादित नही किया गया तो 'यत् स्वयं लिखति तत् परो न वाचयति' – जो स्वय लिखते है उसे दूसरा वाचन नही कर सकता, यह दोष लग जाएगा। अतः लेखक को विषय-प्रतिपादन सुबोध शैली में करना चाहिए। लेखक को उस विषय का गम्भीर अध्ययन होना आवश्यक है जिस पर वह लेखनी उठाता है। जैसे कुलवधू को फटे चीथड़ो में लपेटने से कुल की लज्जा क्षीण होती है वैसे अपक्व ज्ञान से किसी विषय का अपूर्ण प्रतिपादन करने से वक्ता की विद्वत्ता का उपहास किया जाता है। ज्ञान के क्षेत्र में 'हाँ' या 'ना' – स्वीकार अथवा निषेध में उत्तर देना अभीष्ट है। अल्पज्ञता के लिए यहाँ कोई अवकाश नही। कुछ जानना तथा कुछ न जानना हानिकर है। अल्पज्ञान से अज्ञान अच्छा। किन्तु जिस विषय का ज्ञान रखना आवश्यक हो वह आंशिक नही होना चाहिए। या तो लेखनी उठावे नही, यदि उठावे तो अधिकार रखे कि उस विषय का कोई पक्ष परोक्ष नही रह जाए। सर्वांगपूर्ण रचना का ही विद्वत्समाज में समादर होता है। अधूरी जानकारी को भयावह कहा गया है। 'अल्पयोग्यता भयप्रद है' ऐसी एक विदेशी सूक्ति है। लेखन की कलात्मकता की सुरक्षा इस बात पर अधिक निर्भर है कि उसे शुद्ध व्यवसाय नही बनाया जाए। क्योकि व्यवसाय उपार्जन के निमित्त किया जाता है। और कोई भी व्यक्ति अपने उपार्जन की सीमाओ का विस्तार करना चाहता है। वह विस्तार जब व्यवसाय तुला पर बैठ जाता है तो मात्रात्मक तो हो सकता है परन्तु विधात्मक नही हो पाता। 'सख्या' (क्वांटिटी) तो बढ़ जाती है परन्तु 'स्तर' (क्वालिटी) गिर जाता है। इसके विपरीत 'स्वान्तः सुखाय' जिस साहित्य की रचना होती है वह अपने स्तर की अपने आप रक्षा करता है। जितने शास्त्रीय सिद्धान्त-लक्षण ग्रन्थ है उनकी पक्ति-पक्ति सोद्देश्य है और उनके पद-पद पर टीकाकारों, व्याख्याताओ तथा आलोचको ने विमर्श किया है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' – इस पद में 'सम्यक्' क्यों लिखा, 'चारित्राणि' को बहुवचन क्यों किया ? इत्यादि बाल की खाल निकालनेवाले आलोचकों ने उनके सूत्रो पर भी पद-पद पर

विचार किया है । आज तो एक वाक्य में समाप्य विषय को एक पृष्ठ में उपबृंहण दिया जाता है और इसे रचनाकार का कौशल माना जाता है । यदि विवेचन किया जाए तो वैसी रचनाओं के पृष्ठ पक्तियों में और पक्तिया शब्दो में बदलकर सक्षिप्त की जा सकती है । 'स्टीफेन ज्विग' नामक एक पश्चिमी लेखक ने लिखा है कि 'मै जब अपनी पुस्तक का सशोधन करता हू तो आधे पन्ने रह जाते है ।' उसकी पत्नी ने एक दिन अपने पति (ज्विग) को अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में देखा और पूछा तो उन्होने बताया कि आज मैने अपने ग्रन्थ का एक अध्याय ही कम कर दिया है और उस पर भी मूल कथानक में कोई त्रुटि नही आई है । पूर्व समय में भारतीय भी ऐसे ही लिखकर प्रसन्न होते थे । सूत्रशैली में कहना विद्वानो की विशेषता समझी जाती थी । इसका एक कारण तो यह था कि सूत्र लिखने में समय कम खर्च होता था, तथा दूसरी बात यह थी कि शिष्यपरम्परा में उसे स्मरण कराने की सुविधा रहती थी । सूत्रो को छात्र शीघ्र स्मरण (कण्ठस्थ) कर लेते थे । इस प्रकार गुरु तथा शिष्य दोनो का समय बचता था । आज समय का उस दृष्टि से मूल्याकन कम हो गया है और लोग बड़ी-बड़ी पुस्तको को रेल में यात्रापथ पार करते, रात्रि में शय्या के पास दीप लगाकर पढने के अभ्यासी हो चले है ।

लेखन चिन्तन की छाया है । चिन्तन लेखन का शरीर है । जैसे विना शरीर के छाया नही बनती वैसे चिन्तन विना लेखनी नही उठती । चिन्तन मे विचारो का गुम्फन किया जाता है और लेखन में उसे अभिव्यक्ति मिलती है । जो विचार मस्तिष्क मे घुमडते रहते है वे ही लेखनी से उतर कर पत्र पर आकार ग्रहण करते है । अत लेखन से पूर्व विचारो का सग्रह होना परम अपेक्षित है । विचार सकलन के लिए मस्तिष्क को नवचिन्तन में निमग्न करना चाहिए और नवचिन्तन तप से, स्वाध्याय से सम्भव है । जो व्यक्ति अच्छा स्वाध्यायी नही होता वह अच्छा लेखक नही हो सकता । लेखन में तथा स्वाध्याय मे कार्य-कारण सम्बन्ध है । इस दृष्टि से लेखको की दिनचर्या सामान्यजनो से नितान्त भिन्न हो तो आश्चर्य नही होना चाहिए । गीता में कहा गया है कि –'यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः' – जिस समय (दिन मे) सारे प्राणी जागते है, मुनि (मननशील, चिन्तक) उस समय को रात्रि मानते है । इसका आशय यह है कि जब संसार कोलाहल में डूबा हुआ हो, तब निद्रा लेकर शारीरिक विश्राम की आवश्यकता को पूर्ण कर लेना चाहिए तथा रात्रि में जब सारा ससार सो गया हो, उस निस्तब्ध, प्रशान्त समय मे तत्त्वचिन्तन करना चाहिए ।

इसका दूसरा तात्पर्य यह भी है कि सामान्य संसार जिन आहार-विहार-आमोद-प्रमोद में जागता है, लीन रहता है, मुनि उसमें रात्रि के विराग के, अज्ञान के सद्भाव को देखता है और दुनिया जिस तत्त्वचिन्तन में उपेक्षा रखती है, उसमें वह सूक्ष्म दृष्टि से अन्वेषण करता है। अनादिकाल से विचारकों, चिन्तको, लेखको तथा मनीषियो की दिन-रात्रिचर्या में यह लौकिक सामान्यजनों से भेद रहता आया है और तूलिका थामकर यश सम्पादन करने की इच्छा रखनेवालों के लिए सदैव रहेगा। यह तो उस दैनिकपत्र का सम्पादक भी बताएगा कि प्रतिदिन जितना मुद्रण एक दैनिकपत्र में होता है, श्रेष्ठ लेखन लिखने मे अनेक दिनो की अपेक्षा होगी। क्योंकि 'अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः' – शाश्वत पठनीय साहित्य की क्रमबद्धता को कहते – लिखते जाना कठिन है। जैसे नये पत्ते मधुमास आने पर ही निकलते हैं वैसे श्रेष्ठ साहित्य का मौलिक लेखन दीर्घकाल की साधना की अपेक्षा रखता है। लेखनकला वैदुष्य की कसौटी है। अपने ही विचारो को जब पत्र पर अकित करना चाहते है तो उनकी क्रमबद्धता, वाक्यविधान तथा अनुरूप शब्दचयन कठिन हो जाता है – और प्रायः ऐसा लगता है कि जैसा सोच रहे थे, वैसा लिखने में नही आया। क्योंकि लेखन एक कला है। यह चित्राकन के समान है। इसका व्याकरण, शैली, विन्यास अपनी अलग विशिष्टता रखते है। बहुत लोग जो अपने विचारों को क्षिप्रता से बोलकर कह-सुनाते है लिखते समय उन्हे भूल जाते है। जैसे प्रवक्ता को 'स्टेज-फीवर' (मचज्वर) हो जाता है वैसे अलेखक को 'पेपर फीवर' (पत्रज्वर) हो जाता है। कुशल लेखक बनने के लिए अनेक वर्षों तक निबन्ध लिखकर अभ्यास किया जाता है तथा सन्दर्भ-पुस्तकालयो की सहस्रातिसहस्र पुस्तको का अध्ययन, उनके आवश्यक नोट्स तैयार करने होते है। ऐसी परिष्कृत लेखनी से प्रसूत साहित्य युगो तक पठनीय होता है तथा उसमें से अध्येताओं को विपुल सामग्री उपलब्ध होती रहती है। इस उपलब्धि के अभाव मे जो लेखनचापल्य करते है वे 'हर्ष-चरित' के प्रस्तावना श्लोकों को देखे जिनमें उन्हें बालक कहतेहुए जननी+राग हेतु (जन+नीराग हेतु) – बताया गया है। श्रेष्ठ लेखन तो सर्वदा समादरणीय रहा है और सरस्वती का दुर्लभ प्रसाद माना गया है।

साहित्य, स्वाध्याय और जीवन

शब्दबद्ध हितकारी चिन्तनपरिणाम को साहित्य कहते हैं। साहित्य की इस सहित (हितसहित) शाब्दिक भावात्मकता ने मनुष्य के चिन्तन, अनुशीलन के परिणामों को व्याकरण, काव्य, कोष, छन्द, दर्शन एवं अन्यान्य ज्ञान-विज्ञान आदि विषयो में अभिव्यक्त किया है। इस अभिव्यक्ति में मानव की उदात्त बुद्धिमत्ता नियोजित हुई है। कठोर तपश्चर्या से उपलब्ध सत्य का साक्षात्कार सुलभ हुआ है और काल की अनन्त राशि व्यय हुई है। ये जो पुस्तकालय और संग्रहालय आपूर्यमाण दिखायी दे रहे है, उनमें असख्य साहित्य-शिल्पियों की साधना फलीभूत होकर विराजमान है। मनुष्यजाति ने ज्ञानसमुद्र का मन्थनकर जिन रत्नराशियों को प्राप्त किया, साहित्यरूप मे सहृदयो की कण्ठाभरण होकर वे सहस्र-सहस्र आलोककिरणो में दमक रही है। यह विवेक का अन्तर ही मनुष्य को चतुष्पाद् पशुवर्ग से श्रेष्ठ बताता है। प्रत्येक पशु का जीवन जातिसदृश है और प्रत्येक मनुष्य का जीवन व्यक्तिसदृश है। अर्थात् पशु अपनी सम्पूर्ण जाति से आहार, विहार में समान है और मनुष्य प्रत्येक दूसरे मनुष्य से अपने बौद्धिक, नैतिक, चारित्रिक विकासक्रम मे भिन्न है। मनुष्य प्रगति अथवा अगति (पश्चाद्-गति) करने में समर्थ है किन्तु पशु 'यथा जातस्तथा गत' – जैसा उत्पन्न हुआ वैसा ही निधन को प्राप्त हुआ। उसने समूहरूप में या व्यक्तिगत रूप में कोई विशेषता अथवा प्रगति नही की। किन्तु मनुष्य ने विस्मय से, जिज्ञासा से, चिन्तन-परिणामो से जन्म-मृत्यु के विचित्र भवावर्त से अपने को सोचने पर विवश किया और रहस्यो को भेदकर निष्कर्षो को प्राप्त किया। मै कौन हूँ? जन्म-मरण क्या है? यह ससार क्या है? मेरा इससे क्या सम्बन्ध है? कहा से आया हूँ और कहाँ जाऊगा? इत्यादि प्रश्न उसके मानस में उठते है और वह अपने तात्विक निष्कर्ष से इनका समाधान प्राप्त करता है। चिन्तन की यह सहज धारा सभी मनुष्यो को प्राय. मिली हुई होती है तथापि कोई एक इस अनाहत ध्वनि को सुन पाते है। सुननेवालो में भी कुछ व्यक्ति इस पर विचार करते है और उन विचार-परायणों मे भी बहुत थोडे ऐसे लोग निकलते है जो अपने चिन्तन की परिणति को चारित्र से, आचरण से कृतार्थ करते है। ऐसे पवित्र चारित्रशील महापुरुष

अपनी चिन्तनपरिणति का सत्लाभ लोक को देने के लिए स्वानुभवों को अक्षर-बद्ध करते हैं। वही साहित्य के रूप में हमें मिलता है। बिन्दु-बिन्दु से जैसे कुम्भ भर जाता है, वैसे अनेक दार्शनिकों, चिन्तनशील मनीषियों, एवं आचार्यों के अनुभूत तथ्यो के शब्द-शब्द से वाङ्मय-कलश भरा हुआ है। एक व्यक्ति किसी एक विषय पर जितना लिख नही सकता, सोच भी नही सकता तथा अपना सम्पूर्ण जीवन देकर जितना है, उसका एक पारायण तक नही कर सकता, उतना अपरिमित ज्ञान (साहित्य) पूर्ववर्तियों ने अपनी परम्परा के हित में छोडा है। मानव पीढ़ी यदि उस संगृहीत साहित्यधन का उपयोग करे तो वह उससे जन्मान्तर तक समाप्त नहीं होगा। उनके एक-एक शब्द, भाव, अर्थवैशिष्ट्य ने ग्रन्थरूप मे जन्म लेकर ज्ञान की विभूतियो को स्फीत एव समृद्ध कर हमारे लिए आत्मदर्शन का मार्ग प्रशस्त किया है। उन सारस्वत महर्षियो के अपार ऋणानुबन्ध से उऋण होना दुष्कर है, कठिन है।

निर्माता और उपभोक्ता ससार मे दो वर्ग है। साहित्यकार निर्माता है और उसके पाठक उपभोक्ता है। साहित्यकार को एक कृति-निर्माण मे अनेक दिन, मास और वर्ष लगते है किन्तु उसके वर्षों के चिन्तनश्रम को पाठक घण्टो में प्राप्त कर लेता है। सिद्ध पक्वान्न के भक्षण में तथा निष्पन्न शब्दराशि को पढने मे अधिक समय नही लगता। सत्साहित्य अपनी मौलिकता से सहस्रो वर्ष जीवित रहता है किन्तु असत् अथवा कालिक साहित्य ऋतुविशेष के पुष्पों के समान शीघ्र ही शीर्ण हो जाता है। ससार के प्रबुद्ध मस्तिष्क पाठक साहित्य के परीक्षक होते है। क्योकि अपनी रचना पर पक्षपात बुद्धि होने से लेखक स्वय उसका समालोचक नही हो पाता। प्रसिद्ध है कि 'एक सूते कनकमुपल-स्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः' एक खान से सुवर्ण निकलता है और एक खान से कसौटी का पत्थर निकलता है। दोनो ही पत्थर है। परन्तु सुवर्ण सुवर्ण की परीक्षा नही कर सकता, उसकी परख के लिए तो कसौटी का पत्थर ही आवश्यक है। इस प्रकार मूल रचनाकार के श्रम का मूल्याकन उसके पाठक करते है। पवन ही कस्तूरी के सुगन्ध को उडाकर सुदूर दिगन्तो तक ले जाता है। तथापि 'आ परितोषाद् विदुषा न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्' – कालिदास की यह उक्ति सार्थक ही है कि जबतक सहृदय पाठक (विद्वद्वर्ग) किसी रचना पर अपनी प्रशसा की मुहर न लगावे तबतक उसका प्रयोग सफल नही माना जा सकता। यदि पाठक ने रचनाकार की कृति को तन्मय होकर पढ़ा, उसके द्वारा प्रतिपादित

विषय के औचित्य को स्वीकार किया तो स्वर्गस्थ होकर भी वह लेखक जीवित है। वस्तुतः लेखक का श्रम उसके वाचक सफल करते है। जिस लेखक को वाचक नही मिलते, उसका श्रम चरितार्थ नहीं कहा जा सकता। जबतक शब्द प्रयुक्त होकर साहित्य नही बनते और जबतक साहित्य अध्येताओं को आकर्षित नहीं करता तबतक कर्ता का कृतित्व कुमार ही है। श्रेष्ठ कृतियों के अध्ययन से विचारो में नवीन शक्ति का, चेतना और दिशाबोध का उन्मेष होता हुआ प्रतीत होता है। प्राय. नयी दिशा, नये विचार और असंकीर्ण चिन्तन के राजपथ सत्साहित्य से ही मानव समाज को प्राप्त होते हैं। साहित्य व्यक्ति की चेतना में एक विशिष्ट अन्त'करण का निर्माण करता है। एतावता जीवन मे साहित्य का महत्त्व असन्दिग्ध है। जब कोई व्यक्ति अपने अतीत मे घटित किसी विशिष्टता के विषय मे जिज्ञासा करता है तब उसकी पूर्ति साहित्य से ही होती है। हम तीर्थकरो को, उनके लोकहितकारी कृतित्वो और आत्ममग्नता को साहित्य से ही जान सकते है। किसी के समक्ष अपने इतिहास, सस्कृति और सभ्यता तथा जातीयगौरव को प्रस्तुत करते समय हम प्रतीकरूप मे अपना साहित्य ही भेट कर सकते है। इस प्रकार साहित्य हमारी अमूल्य निधि है। वह हमारा कल्पतरु है जिससे मन'कल्पित दुहा जा सकता है, प्राप्त किया जा सकता है। भूत, भविष्यत्, वर्तमान की कृत, करिष्यमाण तथा प्रक्रान्त क्रियाएँ साहित्य द्वारा परिचालित होती है। हमे अपनी गति और स्थिति के लिए अपना साहित्य देखना होगा। ससार की अनेकरूपता के परिष्कृत तथा विकृत चित्र हमें साहित्य मे ही मिलेगे। साहित्य तथ्यो का सकलन है, तथा सत्यो का निरूपण है। अनन्त कालावधि मे जिनको जो निरभ्रस्फुरण हुआ है, वह साहित्य-सरोवर में कमल के समान मुसकरा रहा है। साहित्य पढकर हम अपने ज्ञानतन्तुओ का विस्तार करते है। अपनी कूपमण्डूकता को सागर तक ले जाते है। अपने आपको जानने लगते है। मानव के उत्कृष्ट जीवन की उच्चतम उपलब्धिया साहित्य के अमर पत्रो पर अकित है। साहित्य के निरन्तर अनुशीलन से बुद्धि की धार तीक्ष्ण होती है, कुण्ठा निरस्त होकर चिन्तन को सन्मार्ग की किरण दिखायी देती है। जैसे कदली के पत्र के नीचे दूसरा पत्र विद्यमान रहता है वैसे साहित्य में विचारो की परम्परा तहाकर रक्खी हुई है। साहित्य से मस्तिष्क को आवश्यक आहार मिलता है। जैसे भटके हुए को मजिल मिले, डूबते को नौका, वैसे अविचार के शून्य मे खोयेहुए को उत्तम वैचारिक मार्ग सत्साहित्य से प्राप्त होता है। सत्साहित्य से जीवन का निर्माण करना प्रत्येक विवेकशील का कर्तव्य है।

किन्तु साहित्य की अलमारियां सजाकर अपने चारों ओर रखने से साहित्य-निधि का अवतरण जीवन में नहीं होता। तुम्बी जल में डूबी रहकर भी ऊपर तैरती रहती है। वैसे जो अपना मुख (अपनी मानसिक वृत्ति) तुम्बी के समान पानी में नहीं डुबाता, उसे साहित्य का लाभ नही मिल सकता। साहित्य से लाभ उठाने के लिए 'स्वाध्याय' की अपेक्षा है। जो पुरुषार्थ करता है, सिद्धि उसी को प्राप्त होती है। 'क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे' – क्रियासिद्धि पुरुषार्थ की अपेक्षा करती है, उसे उपकरणो से नही प्राप्त किया जा सकता। जैसे एक कुलाल है। उसके पास मिट्टी, दण्ड, चक्र, चीवर – सभी उपादान विद्यमान हैं। तथापि यदि वह इतने मात्र से कुम्भनिर्माण के स्वप्न देखने लगे तो यह उसके लिए 'आकाशपुष्प' होगा। कुम्भनिर्माण के लिए तो उसे उन उपकरणो का विधिवत् उपयोग करतेहुए श्रम करना होगा, कुलालचक्र को दण्ड से घुमाना होगा। ऐसे ही श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियो को अपनी 'मेज' पर रखने से काम नही चलेगा, अपितु स्वाध्याय द्वारा उनको आत्मसात् करना आवश्यक होगा। स्वाध्याय का व्रत प्रत्येक मनुष्य को लेना चाहिए। क्योंकि इससे ज्ञान में अभिवृद्धि होती है। स्वाध्याय से पापों के निराकरण का मार्ग ज्ञात होता है। जिस प्रकार ग्रहण से मुक्तहुए सूर्य की किरणे सभी दिशाओ मे निर्बाध सचार करती है उसी प्रकार स्वाध्यायी की प्रतिभा (बुद्धि) सहज ही शब्द की अभिप्रेत अर्थशक्तियों का ग्रहण कर लेती है। स्वाध्याय के विना वैदुष्य का दम्भ करना वन्ध्यापुत्र को लालित करना है। अतः कहना चाहिए कि जो स्वाध्यायनिष्ठ है वही साहित्यवेत्ता है। पठन-पाठन मे अनियुक्त तल्लीनता स्वाध्यायव्रती का विशेष गुण है। स्वाध्याय से बौद्धिक बल की वृद्धि होती है। बुद्धिबल आत्मबल के लिए सहायक होता है। आत्मा बलवान् होने से साध्यो की प्राप्ति होती है। न केवल लौकिक सपदाओ के सूत्र स्वाध्याय-क्षणो मे बँटे हुए है अपितु धर्माचरण की सहिताए भी इसमें अन्तर्निविष्ट है। स्वाध्याय से सस्कारो में परिणामविशुद्धि आती है और परिणामविशुद्धि महाफला है। मेधा की प्राप्ति स्वाध्याय से होती है। ज्ञान-प्राप्ति का माध्यम स्वाध्याय है। स्वाध्यायमग्न के समक्ष अक्षररूप में उन विशिष्ट ग्रन्थकारो का उदात्त जीवन साकार हो उठता है, जिनके वाङ्मय – यशःशरीर को वह पढता है। लेखको की कृतियों का अध्ययन करने से उनके प्रकाण्ड ज्ञान की जानकारी मिलती है और अध्येता उनके भावलोक – सामीप्य का अनुभव करता है। मन को स्थिर करने की दिव्यौषधि स्वाध्याय है।

'श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्' – बानर के समान चंचल मन को शास्त्ररूप स्कन्ध पर विचरने के लिए छोड़ देना चाहिए। जो अपने मन को स्वाध्याय शिलापर अकम्प प्रतिष्ठित कर देता है, वह धन्य है। क्योंकि हेय-उपादेय का ज्ञान शास्त्रस्वाध्याय से ही होता है। मृत्यु जैसे महादुर्ग को लांघनेक का पराक्रम स्वाध्यायी को प्राप्त होता है। यदि स्वाध्याय करतेहुए भी मन चंचल है, ज्ञानावरण अक्षीण है तो कहना होगा कि वास्तव में स्वाध्याय नही किया गया। 'व्यर्थः श्रमः श्रुतौ' – शास्त्राध्ययन का श्रम व्यर्थ हुआ। 'पाणौ कृतेन दीपेन किं कूपे पतता फलम्' – दीपक हाथ मे रखकर चलनेवाले यदि कूए में गिरे, ठोकर खाएं तो दीपक उठाने का श्रम किस लिए ? शास्त्रो के स्वाध्याय को इहलोक मात्र के लिए नही परलोक के लिए भी पथदर्शक मानकर चलना चाहिए। 'आगमचक्खू साहू' – साधु तो शास्त्र को नेत्र समझते है। उनके विधि – निषेध-मार्ग शास्त्रलोचनो से देखे जाते है। सूर्य तो अस्त होता रहता है परन्तु ज्ञान अखण्डदीप है। इसकी ज्योतिर्मयता रात्रि मे तिमिरबाधित नही होती। अधीतविद्य के आत्मा में स्वाध्यायदीप की अनिर्वाप्य लौ जलती रहती है। नित्य स्वाध्याय करनेवाला मानो, नियमितरूप से अपने ज्ञानपात्र को ज्योति के परमाणुओ से माजता है। एक अच्छे अध्ययनशील का कहना है कि 'यदि मै एक दिन नही पढता हूँ तो मुझे अपने आपमें एक विशेष प्रकार की रिक्तता का अनुभव होता है और यदि दो दिन स्वाध्याय नही करता हू तो पास-पडौस के लोग जान लेते हैं और एक सप्ताह न पढने से जो रिक्तता आ जाती है उसे सारा ससार जान लेता है।' वस्तुत अध्ययनशीलों की यह स्वाभाविक मानसस्थिति है। उन्हे ज्ञानपिपासा से तृप्ति नही होती। वे स्वाध्याय-पीयूप को पी-पीकर थकते नही। उन्हे उदराग्निशमन के लिए चाहे अन्न न मिले, किन्तु क्षुधित मस्तिष्क के आहार के लिए ग्रन्थ मिलने ही चाहिए। उनकी चेतना विना स्वाध्याय के रिक्त कुम्भ के समान हो जाती है। यह कितने खेद की बात है कि पेट के लिए तो मानव नित्याशी है, अनेक उपायो से उसे भरना चाहता है, एक भी उपवास करना पड़े तो दु खी – दीन एव शक्तिहीन हो जाता है किन्तु अध्ययनक्षेत्र मे उपवास पर उपवास करके मस्तिष्क की शक्ति को 'सल्लेखना' ही देने का उपक्रम करता रहता है। आहार की स्वादुता, पौष्टिकता तथा नियमितता में ही उसका सारा श्रम नियोजित है और मस्तिष्क-शक्ति को जिस खुराक की अपेक्षा है वहाँ उसने उपेक्षा के ताले लगा दिये है। यह लिखना यक्तिसगत है कि एक स्वाध्यायशील को किसी एकान्त कक्ष में बन्दकर

दो और पुस्तकों से, उसके प्रिय विषय से वंचित कर दो, वह कुछ दिनों में पागल हो जाएगा। स्वाध्यायप्रेम के पीछे अन्य माया-ममताओं को विसरानेवालों का इतिहास दुर्लभ नहीं है। वैदिक न्यायदर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् 'अक्षपाद' के विषय में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि वे प्रतिक्षण स्वाध्याय में मग्न रहते थे। मार्ग चलतेहुए भी पुस्तक के पन्नों पर उनकी दृष्टि जमी रहती थी। एक दिन पढ़ते-पढ़ते चलतेहुए मार्ग में स्थित कूए में गिर पड़े। पडने के बाद भी जैसे ही कुछ स्वस्थता मिली, पुस्तक उठाकर पढ़ने लग गये। वह जलविहीन अन्धकूप था। उनकी स्वाध्यायतन्मनस्कता से देवी सरस्वती ने प्रसन्न होकर उसे दर्शन दिया और कहा – इच्छावर मांगो। अक्षपाद, जिनका उस समय कणाद नाम था, ने कहा कि 'पढतेहुए चलने में कठिनाई होती है अतः कृपया पैरों में दो आँखे लगा दो और कुछ नही चाहिए।' स्वाध्याय के दीवानों का एक आधुनिक उदाहरण जयपुर से सम्बन्धित है। विद्याभूषण पं० हरिनारायणजी पुरोहित को नयी-नयी पुस्तके प्राप्त करने, उन्हे पढने का वहुत चाव था। एक दिन वह बाजार से जा रहे थे और फुटपाथ पर किसी पुस्तक-विक्रेता के पास कोई उत्तम पुस्तक उन्होने देखी। उग समय उनके पास जेब में पुस्तक का मूल्य चुकाने को पैसे नही थे और घर जाकर पुन आने तक पुस्तक के बिक जाने की आशका थी, अत. उन्होने अपना कुर्ता उतार कर विक्रेता को गिरवी रख दिया और उस पुस्तक को ले आये। इसलिए उनकी उपाधि 'विद्याभूषण' वास्तविक थी। भारत में स्वाध्याय को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है किन्तु आश्चर्य है कि यही लोग 'दैनिक समाचार' भी मागकर पढते है। यद्यपि अखबार पढने जितने समय में वे एक दो कीमती सिगरेटें पी जाते है परन्तु 'पत्र' के निमित्त पैसा व्यय करना अपव्यय समझते हैं। विदेशो में अधिकांश व्यक्तियों के पास निजी पुस्तकालय हैं और प्रतिमास वे अपनी आय में से कुछ अश पुस्तक खरीदने में व्यय करते है। हमारे देश के लोग या तो पढते नही, पढ़ते हैं तो किसी अल्पशुल्क पुस्तकालय के सदस्य बन जाते हैं और उपन्यास जैसी कुछ 'समय बिताने में सहायक' महत्त्वहीन पुस्तको को पढते रहते है। इसे स्वाध्यायकोटि में नही लिया जा सकता। 'अज्झयणमेव झाणं' कहतेहुए आचार्य कुन्दकुन्द के समक्ष स्वाध्याय की उच्चसत्ता का आदर्श विद्यमान था। अध्ययन ही ध्यान है, यह असाधारण स्थापना है। ध्यान तन्मयता (आत्म-स्वरूप में स्थिति) का वाचक है। उपन्यास पढ़ने से ध्यान या तन्मयता की प्राप्ति नही होती। उसमें जो तन्मयता का आरोप लोग करते है वह असिद्ध है। क्योकि

वहां केवल उपन्यासादि – पात्रनिष्ठ राग-तन्मयता तो है परन्तु आत्म-तन्मयता नहीं। रागतन्मयता से पतन और आत्मतन्मयता से अभ्युत्थान होता है। सामान्य लौकिक साहित्य पढनेवालों का मन उन-उन उपन्यासादि को अपने अन्तःकरण में स्थित रागसम्बन्ध से चुनकर पढता है और अध्यात्मनिष्ठ स्वाध्यायी अपने मन को अवश्यपठनीय ज्ञानसाधनभूत शास्त्रग्रन्थ पढ़ने को देता है। एक के अध्ययनीय साहित्य का निर्वाचन मन करता है और दूसरा अपने मन को विभाव परिणति से हटाने के लिए अध्यात्म-साहित्य की व्यवस्था करता है। यही मौलिक भेद स्वाध्याय और सामान्य पठन में है। आचार्य कुन्दकुन्द के मत मे उच्च आत्मज्ञान-परक साहित्य के पठन को ही स्वाध्याय कहा है। ससार मे जितने उच्चकोटि के वक्ता, विचारक, लेखक अथवा उपदेष्टा हुए है उनके सिरहाने पुस्तको से बने है। सर्वतोमुखी ज्ञान के गुणमय कपास को उन्होने आँखों की तकलीपर अटेरा है और उसके गुणमय गुच्छो से हृदयमन्दिर को कोषागार का रूप दिया है। लेखन की अस्खलित सामर्थ्य को प्राप्त करनेवाले रात-दिन श्रेष्ठ साहित्य के स्वाध्याय में तन्मय रहते है। बड़े-बड़े अन्वेषक और दार्शनिक भूख-प्यास को भूलकर स्वाध्याय में लगे रहते है। स्वाध्याय से ज्ञान सूर्य के समान भास्वर होता है। उसके उन्मेष की किरणो से दशों-दिशाए उद्भासित हो उठती है। स्वामी रामतीर्थ को जापान में एक सभा मे शून्य पर (० विन्दु पर) व्याख्यान देना पडा। जब वे सभा में पहुँचे तो उन्हे हतप्रभ करने की भावना से सयोजक ने बोर्ड पर शून्य लिख दिया। किन्तु उस भारतीय सन्यासी ने अकिंचन लगनेवाले उस शून्य विषय पर देरतक वह सारगर्भित भाषण दिया कि श्रोता उनके ज्ञान पर धन्य-धन्य कह उठे। ऐसा चमत्कार एक दिन में नही मिलता। इसकी कु जी सतत स्वाध्याय है। बहुज्ञ होना बहुत वर्षों की अर्जित स्वाध्याय सम्पत्ति का सूचक है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि जैसे कामी को स्त्री प्रिय लगती है, लोभी को पैसा प्रिय लगता है, वैसे मुझे भगवान् के चरणो की भक्ति प्रिय लगे। सच्चे स्वाध्याय के लिए यही उक्ति घटित की जा सकती है। जिसे स्वाध्याय विना क्षणभर चैन नही मिले वही उसकी मूल्यवान् सम्पदा का अधिकारी हो सकता है। पुराने समय के लोग गरीबी में भी पढ़ लेते थे। इधर-उधर से सूखे घास को, तिनको को, गोभुक्तशेष डठलो को बीनकर, बटोरकर वे आग जला लेते थे और उसीके प्रकाश में पुस्तको के सूत्र रट लेते थे। आज विद्युत् प्रदीपो के नीचे बैठकर भी वैसी तन्मयता से पढ़नेवाले नही मिलते।

'स्वाध्यायान् मा प्रमद' यह भारतीयों को सिखाया जानेवाला प्रथम पाठ था। धार्मिक स्वाध्याय किये बिना अन्नजल न लेनेवाले आज भी विद्यमान है। स्वाध्याय कोई ऐच्छिक विषय नही था, वह दैनिक कर्मों में आवश्यक कार्य था। कुशाग्रबुद्धि लोग स्वाध्याय के ऋणी हैं। अज्ञानरूप गज पर स्वाध्याय अंकुश है। पवित्रता के पत्तन में प्रवेश पाने के लिए स्वाध्याय राजमार्ग है। स्वाध्याय न करनेवाले अपनी योग्यता की डीग हाँकते हैं किन्तु वास्तविक स्वाध्याय-परायण उसे पवित्र गोपनीय निधि मानकर आत्मोत्थान के निमित्त उसका उपयोग करते हैं। उनकी मौन आकृति पर स्वाध्याय के अक्षय वरदान मुसकाते रहते हैं। जब वे बोलते है तो साक्षात् वाग्देवी उनके मुखमच पर नर्तकी के समान अवतीर्ण होती है। स्वाध्याय के शुभाक्षरों का प्रतिबिम्ब उनकी आँखों पर लिखा रहता है। ज्ञान की निर्मलधारा से स्नात उनकी वाङ्माधुरी में पवित्र होने के लिए सारस्वत-प्रवाह नित्याभिलाषी होते है। महान् तत्त्वद्रष्टा, सफल राजनेता, अथवा उत्तम सन्त किसी स्वाध्याय-विद्यालय के स्नातक ही हो सकते है। स्वाध्याय एकान्त का सखा है, सभास्थानों में सहायक है तथा विद्वत्समुदाय में उच्चस्थान प्रदान करनेवाला है। विदु-विंदु विचार दोहन करते रहनेवाला कालान्तर में पण्डित हो जाता है। शब्दो के अर्थ कोषो में नही, साहित्य की प्रयोगशालाओ में लिखे हैं। अनवरत स्वाध्याय करते रहनेवाला शब्दों के सर्वतोमुख अर्थो का ज्ञान प्राप्त करता है। राष्ट्रीय चरित्र के उत्थान के लिए भी सत्साहित्य के निर्माण तथा स्वाध्यायशीलता की आवश्यकता है। विना उत्तम साहित्य का स्वाध्याय किये नेतृत्वशक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती। जैसे छिछले तालाब में हाथियो को अवगाहन देने की क्षमता नही होती वैसे अध्ययन-चिन्तन-पराङ्मुख व्यक्ति मे विशाल उत्तरदायित्वों के निर्वहण की योग्यता नही होती।

यह मानव-जीवन साहित्य से अपने इतिहास को महिमान्वित करता है और स्वाध्याय से अपने आपको विशिष्ट बनाता है। जो लोग ताड और खजूर के पेड़ों के तुल्य लम्बे-ऊंचे होने में ही अपने को धन्य समझते है वे ऊचे आकाश की ऊचाइयो तक उठकर अकेले तपते है। किन्तु जो छाया और फलयुक्त महावृक्षो के समान अनेक जीवो के आश्रयस्थान होते हैं, उनकी श्रान्ति-क्लान्तिको दूर करने मे अपने शाखा-पल्लवों का उपयोग करते हैं वास्तव में उन्हीं का जीवन सफल है। नीतिकारो ने निरर्थक जीनेवालों पर व्यग्य करतेहुए कहा है—'काकोऽपि जीवति चिराय बलि च भुंक्ते'—कौआ भी दीर्घकालतक जीवित रहता

है और बलिभक्षण करता है। केवल बलिभक्षण के लिए ही चिरजीविता का वरदान पानेवालों का जीवन न स्वकल्याणकारी हो पाता है और न परहित साधक। ऐसे अनुपयोगी जीवन से तो मृत्यु श्रेयस्कर है। लोहार की धौंकनी के समान कोयले फूंकने और राख उड़ाने के लिए श्वास लेते रहना क्या जीवन कहा जा सकता है? जीवन का विनाश अवश्यम्भावी है। जो दीपक जल रहा है वह कभी बुझेगा। किन्तु बुझने से पूर्व वह रात के राहियों को मार्गदर्शन कर सके तो उसके जलने की सार्थकता होगी। यो वह जला भी और किसी के उपयोग में नहीं आ सका, यह स्वय उस विदग्ध के लिए शोचनीय स्थिति है। आकाश में एक-एक बादल जीवन लेकर आता है और सूखी-प्यासी पृथिवी उसकी ओर याचनाभरी दृष्टि से देखती है। वह अपने आपको नि.शेषकर पृथिवी के सूखे अंगण को हरा-भरा (उर्वर) कर जाता है। जीवन की यही सार्थकता है। मृत्यु-रोग-भय तीन चोर जीवन के पीछे लगे है। जो बेसुध होकर सोता है, वह लुट जाता है। किन्तु जो सावधान होकर अपने पल्ले के रत्नो की सम्भाल करता है, वह ठगाता नही। स्वाध्याय करते रहने से जीवन जीने की कला आती है। अन्यथा जीवन अजाने यात्री के समान देह-सराय मे रहकर अवधि बीतने पर चला जाता है। इस यात्री का परिचय प्राप्त करना बहुत आवश्यक है। अपने आध्यात्मिक गुरुओ के दिव्य सन्देश को, नवनीत के समान जो स्वाध्याय की मथनी से मन्थनकर चखता है, वह जीवन के वास्तविक परिचय को प्राप्त करता है। वही जीवन की अमरता के स्वाद को जान पाता है।

समाज, संस्कृति और सभ्यता

मनुष्य की शालीनता के तीन उपस्तम्भ हैं – समाज, संस्कृति और सभ्यता। समाज में वह पलता है, सस्कृति-क्षीर को पीकर पुष्ट होता है और सभ्यता के अश्व पर आरूढ़ होकर समय के राजमार्ग पर द्रुतगति से दौड लगाता है। समाज उसे सहस्रों वर्षों का संचित गौरवपूर्ण ऐतिह्य-उपायन भेट करता है, सस्कृति उसे आत्मधर्म का अगराग लगाती है और सभ्यता की सुरभि से उसके मन.-प्राणों को आप्यायन मिलता है। प्रत्येक उत्तम व्यक्ति अपने समाज के प्रति कृतज्ञ अथ च विनयी होता है, अपनी सस्कृति का जागरूक प्रहरी होता है और सभ्यता का पालन करते हुए अपने सच्चारित्र-दुर्ग को रक्षा-प्राचीर लगाता है। उसकी गति में समाजसत्ता की प्रभुत्वसम्पन्न शक्तियो की पदचाप उठती है, उसकी यति (स्थिरता) मे संस्कृति के अनादिकाल से प्रक्रान्त स्वरूप की अविचल वज्रप्रतिमा दिव्य सौन्दर्य धारण कर मुसकिराती है और सभ्यता के समयसार सीमान्त इन्द्रधनुपी सतरग से उसे रजित करते है। सहस्रों शाखा-प्रशाखाओ से युक्त महान् न्यग्रोध के समान समाज उस व्यक्तिसत्ता के लिए आलवाल है, सस्कृति उसका धमनीप्रवाही क्षीर है और सभ्यता उसके पल्लव है। समाज व्यक्ति का शरीर है, सस्कृति शील और सभ्यता उसकी सामाजिकता के रथ पर फहराता केतुपटान्त है। प्रत्येक व्यक्ति पर ऋण है – समाज, सस्कृति और सभ्यता का। इन तीनो धात्रियो की क्रोड में मानवजीवन पलता है और व्यक्ति इनके निर्दोष दूध का ऋणी है। तन, मन और जीवन देकर इसकी सम्पन्नता को जीर्णत्व से बचाना प्रत्येक मानव का अविस्मरणीय कर्तव्य है। उत्सर्ग करे वह अपने आपको, इन त्रिको के सरक्षण के लिए और ऐसा जीवन जिये कि जीना धन्य बन जाए। संस्कृति और सभ्यता को उसके जीवन से नयी चेतना, नवजीवन मिले और सभ्यता के चूल पर रत्नकिरीट हिमनग की चोटियों-से दमकने लगे। सार्थक जीवन जीनेवालों को यह हितोपदेश स्मरण रखना चाहिए कि यह संसार है और इसमें असख्य जीव चतुर्गति में अपनी-अपनी कर्मधुरी पर घूम रहे है। अनेक जन्मते हैं और अनेक निधन प्राप्त होते है। महासमुद्रो के समान एक ओर सूर्य उनके जल को सहस्रो किरणों से पी रहा है और दूसरी ओर सहस्रों नदिया उसे भर रही है। समुद्र

न तो रिक्त होता दिखायी देता है और न अधिक उच्चलित होता प्रतीत होता है। वैसे ही जनो के जन्म-मरण से ससार का यह विशाल सम्मर्द (भीड़) क्षीण-वृद्ध नही लगता। किसी के निधन से ससार के क्रम में कोई क्रान्ति नही आती। अतः जीवन का अज्ञात, सुषुप्तरूप में जीकर समाप्त हो जाना पुरुषार्थसम्पन्न मानव के लिए शोभास्पद नही। लता की शाखा पर मुसकिरानेवाला नया फूल यदि नया रूप और नयी गन्ध नही फैलाता तो उसके उत्पन्न होने और खिलने से क्या लाभ हुआ ? व्यक्ति उत्पन्न होकर, पढकर, वढकर यदि समाज, सस्कृति और सभ्यता के क्षेत्र में अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को उद्‌भासित नहीं कर सका तो उसको वश में सख्या-पूरण मात्र नही कहेगे तो क्या कहेगे ? राजमार्गों पर अविच्छिन्न क्रम लगा है इन मातृगर्भ से विवश प्रसूत सद्योजातो का। जिनको चलना नही आता, बोलना, बैठना तो क्या चुप रहना भी नही आता। यदि जननी के यौवनहारी निर्विवेक प्राणधनियों को मानवसज्ञा से विभूषित करे, पशुत्व से ऊपर माने तो नीरक्षीर-विवेकी तुलाधार का सत्य मिथ्या की दुस्सगति से श्यामायमान हो उठेगा। आकाश मे टिमटिमानेवाले कितने तारे है ? उन मन्दातप ज्योति के अपत्यों को कौन जानता है ? लोकाकाश के कोटर मे असख्य ऐसे तारे है जिनका आलोक पृथ्वी तक नही आता। ऐसे ही अल्पप्राण जीवन जीनेवाले खद्योतसार मानव अपने समाज का क्या उपकार कर सकते है। शैशव मे माता के लिए भार बने रहे, यौवन में उच्छृंखल वृत्तियो मे जीवित रहकर पृथ्वी के, समाज के भार बने और काल के अतिथि हुए तो अपने हाथो मे लोकजीवी पुरुषार्थों मे से किसी एक के द्वारा लिखित प्रशस्तिपत्र भी नही ले गये। सौ वर्ष जीते रहे, परन्तु जीना नही आया और मरने चले तो मृत्यु को भी गौरव न दे सके। अर्कपुष्प-से आधी के साथ उडे और पानी बरसा कि मिट्टी मे दब गये। कुश-काम के समान उन्हे किसी कुशल किसान ने बोया नही, यो ही मेघसम्पात की प्रथम सिहरन मे निकल पडे, निरुद्‌देश्य शिलीन्ध्र। ऐसे पुरुषार्थ विमुख, अकर्मण्य, वृथाजीवियो को धिक्कार भेजने के लिए भी इतिहास मे शब्द नही मिल पाते। इसीलिए बडी उपेक्षा के साथ नीतिकारो ने कहा – 'मृत को वा न जायते' कौन बडी बात है कि ऐसे प्राणी किशुक के समान वृन्त पर फूले भी और टूट भी गये। उत्पन्न होना तो सार्थक उसका कहना चाहिए जिससे वश उन्नति को प्राप्त हो। चन्द्रमा के उत्पन्न होने से क्षारसमुद्र भी क्षीरसमुद्र कहलाने लगा। सीपी से समुत्पन्न मोती अपने पानी से आभा का उपमान बन गया। पृथिवी से कोयला निकला और सुवर्णादि धातुए भी। धातुओ ने उसे 'रत्नगर्भा' नाम दिया। अपने कुल, जाति और समाज को उत्कर्ष

अथवा अपकर्ष देने में कुलप्रसूतों का बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है। केवल जननीगर्भ-भारभूत बालिशो की देखकर मुंह से अनायास निकल पडता है – 'मा स्म सीमन्तिनी काचिद् जनयेत् पुत्रमीदृशम्' – कोई मा ऐसे पुत्र को उत्पन्न न करे। अतः परम उज्ज्वल वशहंस को कीर्ति के क्षीरसिन्धु में अवगाहन देने की सामर्थ्य रखनेवाला मानव ही समाज का प्रिय, यशस्वी और तिलकायित बनता है।

समाज की रचना एक दिन में नहीं होती। 'रोम एक दिन में नही बना' – यह कहना सत्य है। एक बीज अंकुरित होता है, बढता है और वर्षों में वृक्षरूप होकर फल तथा छायादान करने में समर्थ होता है। समाज और सस्कृति की रचना भो युगों में हो पाती है। कितने विद्वान्, मनीषी, आचार्य और मुनि अपने चिन्तन से सन्मार्ग खोजकर उसे अनुवर्तिनी पीढियों के लिए सुरक्षित करते हैं जिनके सात्विक तप का लाभ लेकर समाज चारित्रशील बनता है और सास्कृतिक प्रगति कर पाता है। यही हेतु है कि समाज की सर्वांगस्थिति का मूल्यांकन करते समय उसकी विराट् भव्यता का स्मरण आवश्यक हो जाता है। लम्बी-चौडी सडके, इमारतें और जनसंख्या का बाहुल्य मात्र समाज-जीवन की सुदृढ आधार-भूमि नही है अपितु उसके लिए आवश्यक है विचारो के विशाल राजपथ, चिन्तन के ऊचे मणिप्रासाद, सस्कारों के समणील चतुष्पथ और आत्मश्रद्धा के देवालय। जिन्हे देखकर उसकी भौतिक समृद्धि से ऊपर आत्मसम्पदा का आभास मिल सके। जिस समाज के पास प्रशस्त राजपथ तो है परन्तु उन पर विचरण करनेवाले अतिप्रशस्त नागरिक नही है, त्यागी, मुनि और ज्ञानचारित्रसम्पन्न उत्तम व्यक्ति नही है वह राजपथ पतझर मे वीरान उपवनवीथि के समान है जिसमे सुरभि फैलाने वाले पुष्प नही हैं। वस्तुत. समाज की धन्यता इस बात में नही है कि वह धनिक है अपितु इस बात में है कि वह धनका उपार्जन तथा व्यय धन्य कहे जाने वाले मार्ग पर लगाता है। इसी प्रकार उसकी वास्तविक विशेषता इस बात में भी नही है कि उसमें प्रतिपक्षियो का उत्तरीय हरण करनेवाले विद्वान् दाडिमफल में बीजो के समान भरे हैं, अपितु, इस बात मे है कि वे उस वैदुष्य का सन्मार्गदर्शन और सच्चारित्र के अनुपालन मे उपयोग करते है। कोई खड्ग कितना चमकनेवाला है, यह उसकी विशेषता नही है, अपितु, वह कितने सत्पुरुषो की रक्षा में सक्षम है, यह उसका उपयोगगुण मानना चाहिए। 'वादाय वेदाध्ययनम्' करनेवालों से वे उत्तम है जो प्राप्त ज्ञान को आत्मचिन्तन में नियोजित करते हैं।

एक समान रीति, नीति, परम्परा और व्यवहार तथा संस्कृतिधारियों को 'समाज' कहा जाता था। 'सम् + अजति' समान रहकर, सुख-दुःख में अविभाजित अनुभव करनेवालों का संगठन समाज कहलाता था। उसकी ऊपरी पहचान रोटी-बेटीव्यवहार से होती थी। किन्तु उसका आभ्यन्तर स्वरूप साधर्मी के प्रति सहज बन्धुता के संरक्षण से जाना जाता था। प्राचीनकाल में लोग अपने समानशील परिवारो के समूह में रहते थे और उनके सुख-दुःख परस्पर बँटे हुए होते थे। आज नगरो की विशाल भीड़ में उस सामाजिकता के दर्शन नही होते। आज धनिक समाज अलग है और श्रमिक समाज अलग। न केवल प्रान्तीय, राष्ट्रीय स्तरों पर यह सगठन चल रहा है अपितु विश्वस्तर पर ये दो समाज बनते जा रहे है। इसमें वे लोग भी है जो जातीय धरातल पर एक कुटुम्ब होने से एक समाज हैं। किन्तु आर्थिक आधार पर हुए इस नवीन सगठन में दो विरुद्ध स्थिति रखनेवाले सहोदर भाई भी दो अलग-अलग समाज हो रहे है। रोटी-बेटी और जाति का आधार आज की समाजरचना में मुख्य से हटकर गुणीभूत (गौण) होता जा रहा है। यह नयी समाजरचना विश्वव्यापक है। पुरानी समाजरचना का जो आधार था. वही इस नयी रचना का है। किन्तु क्योकि पुरानी सामाजिकता मे व्यक्तिवाद, अहवाद और आत्मपोषणवाद मुख्य बनता चला गया इसमे वास्तविक रूप से उसका आन्तरिक अभेद खण्डित हो गया। पहले सम्बन्धो की मधुरता नवीन अर्थ-युग मे कटुता बन गई। समाज का व्यक्ति समाज के हित मे न सोचकर व्यक्तिगत हितो को सोचने लगा। वह सहृदय न रहकर मूलत व्यापारी बन गया। उसके जाचने-तौलने के सभी दृष्टिकोण आर्थिक बनते गये और आज व्यक्ति-व्यक्ति भिन्न परिस्थिति मे जीकर पृथक्-पृथक् हो गया। आर्थिक विषमता, विशाल उद्योग, बडे नगर और विदेशी सत्ताधारियो के वैयक्तिक उन्मुक्त जीवन की चकाचौंध ने भारत के सरल, सयुक्तपरिवारजीवी जीवन को बदल दिया। इसमे भाई-भाई में बन्धुता मिटती गई और व्यापारिकता बढने के साथ वंचकता आती गई। विश्वास के दीर्घक्षेत्र छोटे होकर लुप्त हो गये। आज बड़े नगरो में एक मकान में रहनेवाले परस्पर दो पडौसी कमरो के प्रवासियो को नही जानते। दफ्तरो और कारखानों से उनका जीवन इतना बंध गया है कि वे 'व्यक्ति' से ऊपर 'समष्टि' को सोच भी नही सकते। उनके लाभ में और हानि में समाज को कोई लाभ-हानि नहीं। यो समूहात्मकता तो बढ़ गई है, पर सामाजिकत्व उच्छिन्न हो चला है। पूर्व समय में रोजी-रोटी के लिए मनुष्य इतनी दूर-दूर की नौकरियो में नही बधा था। उसके

लघु उद्योग उसे निर्वाह के लिए स्थानीयरूप से यथोचित देते थे और सामान्य जनों की प्रवृत्ति धन का सर्वग्रास करने की ओर नहीं थी। रोटी, कपडा और मकान की सुविधाएं मिल गईं तो पर्याप्त था। लोग कठोर परिश्रम करते थे। परन्तु नयी शिक्षा ने, बढ़ती हुई महर्घता ने लोगो को गाँवों से उखाड़ दिया। उद्योग-धन्धे बड़े नगरों में स्थापित हो गये। सुदूर देहातों तक रेल-लाइनें बिछ गईं और यातायात निरापद होगया। नगरों से आये हुए मजदूरों ने शेष ग्रामीणों के मन में आकर्षण, प्रलोभन उत्पन्न किया और परिणामस्वरूप गावों के छोटे उद्योग उपेक्षित हो गये तथा लोग शहरो में पहुँचने लगे। इस प्रकार मजदूर और उनके हिसाब-किताब के लिए बाबूवर्ग सीताफल में बीजो के समान नगरों में बस गये। पुरानी सामाजिकता का अन्त करने मे यह श्रीगणेश था। सयुक्त-परिवार-प्रणाली का अन्त इससे अपने आप होगया। नयी शिक्षा और नयी भौतिक सभ्यता ने सरल, ग्राम्यजीवियो पर जादू का असर किया और वे ऊपरी तड़क-भड़क में आवेष्टित होकर अपने धर्म, रुचि, सस्कार, नीति सभी को भूल गये। एक-दो पीढ़ी के पश्चात् वह परायी सस्कृति, परायी वेषभूषा निजी लगने लगी और आज तो उसके लिए प्राणोत्सर्ग करनेवाले भारत में बहुत बडी संख्या में विद्यमान हैं। हिन्दी के राजभाषा प्रश्न पर दक्षिण भारत ने इसे सिद्ध कर दिया है। कहने का आशय यह है कि एक समय जिस समाजरचना द्वारा हम अपने आदर्शों का मार्ग पहचानते थे, धर्ममय जीवन व्यतीत करते थे, समानसुख-दु.खसहयोगी होते थे, वह मूलभूत समाज-रचना आज अदृश्य हो गई है। आज 'बीमा पॉलिसी' लेकर मनुष्य आश्वस्त हो सकता है। अपने कुटुम्ब पर भी भरोसा नही रहा। रोटी-बेटी का व्यवहार, जिसे समाजरचना की आधारशिला मानते थे, आज अन्तर्जातीय हो चला है। इस से प्राचीन सामाजिकता की सम्पूर्ण तेजस्विता नष्ट हो गई है। इस नयी क्रान्ति से लाभ कितने अश में हुआ, इसे तो समय बताएगा, परन्तु हानियों का विवरण कम नही है। जातिविशेष में जो आचार था, चारित्र था, शुद्धि के नियम थे, रक्तशुद्धि को महत्त्व देने की प्रथा थी, उन सबको प्रगति की चक्की मे पीसकर मिश्रचूर्ण (पाउडर) का रूप दे दिया गया है। जीवन अध्यात्म-धरातल से उतर कर इन्द्रियविलास तक सीमित हो चला है। आँधी में उड़ते पत्तों के समान लोग हवा में तैर रहे हैं। उड़कर कहाँ पहुँचेंगे, स्वयं को भी पता नहीं है। इस दिशाबोधहीन, निरुद्देश्य उड़ान में जो भाग ले रहे है उन्हें यह ज्ञात नहीं कि वे किसी गिरिशिखर पर उतरेंगे या खाड़ी में।

आधुनिक समाज का यह चित्र व्यक्तिवाद का निरूपण कहा जाना चाहिए। क्योंकि व्यक्ति पर आज समाजसत्ता का अंकुश प्रायः नहीं रहा है। आज का मानव समाज में रहकर भी समाज से, उसकी रीति-नीतियों से अप्रभावित है और अपनी इच्छा के अनुसार इसमें परिवर्तन भी करने लगा है। बड़े नगरों में आधुनिक वातावरण में रहनेवाले हिन्दू, जैन और अन्य सम्भ्रान्त कुलो में जन्मजयन्तियां मनाने की प्रथा चल पड़ी है। उसमें वे एक 'केक' काटकर जयन्ती का शुभारम्भ करते है। यह प्रथा अंग्रेजो में है और अपने को श्वेतजाति के समकक्ष समझने में अभिमानयुक्त माननेवालो ने सगर्व इसे अपना लिया है। अपने-अपने सम्प्रदाय में ऐसे वर्षप्रवेश दिन पर जो भगवत्पूजा, देवदर्शन, गुरुओं का आशीर्वाद तथा पवित्रता से रसोईघर में मिष्टान्नादि बनाकर भोजन करने की जो रीति थी, उसे निर्दोष तथा श्रेष्ठ होते हुए भी भुला दिया गया। इतना ही नही, उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे। इसी प्रकार समाज के नियमाधीन 'विवाह' प्रक्रिया को 'कोर्टशिप' में बदल दिया गया। जीवन में जो-जो भारतीय सस्कृति अथवा श्रमणपरम्परा के अनुसार 'आचारसहिता' परम्परा से चली आ रही थी, उसे— उसके महत्त्व को — विना जाने-माने अर्धचन्द्र देकर उसके स्थान पर नितान्त तुच्छ वृत्तियो को स्वीकारने मे, समाजसत्ता पर पाव रखनेवालो ने सम्मान समझा है। इस परिवर्तन मे बाहरी परिस्थितियो का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसकी पृष्ठभूमि पर यहाँ थोडा अवसरोचित विचार कर लेना आवश्यक होगा।

किसी समाज की रचना उसके आन्तरिक आचारसगठन पर निर्भर करती हे। सस्कृति को उस समाज की 'आचार-सहिता' कह सकते है। क्योकि विना सस्कृति के समाजरचना की कल्पना नही की जा सकती। वह समाज को मार्गदर्शन करती है और अयुक्त स्वेच्छागामिता से रोकती है। साथ ही वह अपनी विशिष्ट-सम्पत्तियों से उसे विभूषित करती है। कहना चाहिए कि सस्कृति समाज तथा व्यक्ति को सुधारती है, संवारती है और उज्ज्वलता प्रदान करती है। आत्मधर्म का जागरण सस्कृति के पावन-प्रभात में होता है। युग-युग में जिन आदर्श, आचारवान् महापुरुषो ने गहन-गम्भीर ज्ञानसागर के मन्थन से जिन शाश्वत मूल्यवान् मणिरत्नो का आविर्भाव किया, उन्ही से सस्कृति-कोष को समृद्धि मिली। वे सास्कृतिक मणिरत्न समाज के आचार में, व्यवहार में इतने तद्रूप हो गये है कि उन्हे अलग से ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रह गई। कोकिल पक्षी वसन्तऋतु में बोले या ग्रीष्म में, उसके स्वरमाधुर्य में कोई अन्तर नही

ग्राता । ऐसे ही श्रमणसंस्कृति से सम्पन्न यह समाज विशेष प्रयत्न के विना भी जो कार्य करता है, उसमें सस्कृति के मान सुरक्षित रहते है । जैसे किसी प्रामाणिक वक्ता का वचन विना शका के स्वीकार करने योग्य होता है, वैसे संस्कृति द्वारा परिचालित व्यक्ति ग्रथवा समाज की नैतिकता ग्रशकनीय होती है । सस्कृतिनिष्ठ समाज ग्रपनी ग्रभ्यर्थनीय मर्यादाग्रो से हटकर सोचना भी पसन्द नही करता । सस्कृति उनका नैसर्गिक जीवन है, श्वासप्रश्वास है ग्रौर सर्वस्व है । किसी एक वैदेशिक विद्वान् ने भारतीयों की नित्यव्यवहरणीय ग्राचार-सहिता की व्याख्या करते हुए लिखा है कि–'मै उदार भारतीयो के जीवनदर्शन की उन छोटी-छोटी बातों से भी बहुत प्रभावित हूँ जिन्हे वे विना किसी विशेष परिज्ञान के प्रयोग में लाते है । उनका शील, सौजन्य, शिष्टाचार, ग्रतिथि के प्रति ग्रादर-सम्मान के उच्चकोटि के व्यवहार कुछ इस प्रकार से उनके रक्तविन्दुग्रो में घुलमिलकर एकीभूत हो गये है कि उन्हे उनके व्यक्तित्व से ग्रलग करके नही देखा जा सकता । यद्यपि किसी विशेष जागरूकता से वे ऐसा नही करते किन्तु फिर भी उनके सामान्य स्वभाव मे, ग्रगुलि मे नाखूनो के तुल्य ग्रभिन्न होकर वे रच-पच गये है ।' सम्पर्क मे ग्रानेवाला उन स्वाभाविक विशेष गुणो से प्रभावित हुए विना नही रहता । हमारी प्राचीन सस्कृति के उदात्त-स्तोत्रो को विदेशी पर्यटको ने मुक्तकण्ठ से गाया है । स्तुति ग्रथवा प्रशसा सद्गुणो की की जाती है । जो ग्रपने से विशिष्ट होता है, उसके लिए श्लोक ग्रपने ग्राप वनते है । भारतीयो का ग्राचारसहिता से परिचालित सस्कृतिमय जीवन किसी काल मे ऐसा ही रहा कि इतिहास के पत्रो पर उसे स्वर्णमषी से लिखकर ग्रमर कर दिया गया है । सस्कृति की विशेषता क्या है ? इस पर विचार करने से भारतीय तथा वैदेशिक विचारधारा का पार्थक्य स्वयम् स्पष्ट हो जाएगा । पश्चिम की सस्कृति भौतिकप्रधान है ग्रौर भारतीय ग्रात्म- (ग्रध्यात्म) प्रधान । तन, मन ग्रौर जीवन को उनके लौकिक विलास की चरम सुविधाए देना पश्चिमीय दृष्टिकोण है । तन से बलिष्ठ, मन से प्रफुल्ल एव जीवन में स्वस्थ रहने के लिए पाश्चात्य जगत् जी-तोड़ श्रम कर रहा है । 'खाग्रो, पीग्रो ग्रौर मौज करो' उनके जीवन के तीन सूत्र है । उनके दिन का ग्रारम्भ 'बेड टी' से होता है ग्रौर ग्रवसान ग्रर्धरात्रि तक क्लबो में मद्य, द्यूत, विलास, नृत्य करते हुए होता है । 'पुन प्रभात पुनरेव शर्वरी'–फिर रात ग्रौर फिर दिन का ग्रागमन, ऐसे ही फिर 'बेड टी' ग्रौर फिर 'मद्य–क्लब' ग्रौर उसकी थकान से टूटकर विस्तरो पर गिरता हुग्रा तन । उनका जीवन ग्रतिस्वीकारात्मक है । ग्रपनी परिभाषा में इस

स्वीकारात्मकता को वह प्रत्येक श्वास में भरपूर जियेगा। तथा स्वस्थ-सबल रहने के लिए आमिष और निरामिष पदार्थों को आग्रह से स्वीकार करेगा। संक्षेप में उनकी दिनचर्या अथवा जीवनप्रणाली भोगप्रधान है। श्रमणसंस्कृति लौकिक जीवन में अति को मर्यादित करती है। तन, मन और जीवन को स्वस्थ-सुन्दर रखने मे इस भारतीय संस्कृति का विरोध नही है तथापि दृष्टिकोण में अन्तर है। तन को नीरोग, पुष्ट रखो, किन्तु अभक्ष्यभक्षण से नही, क्योंकि तन ही सर्वोपरि पोषणीय नही है। तन-मन और जीवन से ऊपर एक नित्य, अविनश्वर आत्मा है, उस आत्मोपयोग में तन, मन और जीवन को लगाना श्रेयस्कर है। 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः' – मनुष्य वित्त से कभी सन्तुष्ट नही हो सकता। उसे यदि पृथ्वीभर का साम्राज्य दे दिया जाए तब भी वह तृप्त नही हो सकता। तन, मन, और जीवन भी वित्त है, सम्पदा है। इस सम्पदा से–परपदार्थ से किसी की तृप्ति नहीं हुई अतः इनका अधिक विस्तार हानिकर है। ससार मे युद्ध, वैर, कलह, तन-मन और जीवन को अतिभोग सुलभ करने के लिए ही है। जिनके पास जितना है, उतने में वे सन्तुष्ट नही है। परिणामस्वरूप छीन-झपट और मायाचार चलता है। इसमें ही जीवन को पर्यवसित कर देना काक उडाते मणि फेक देना है। यह भारतीय सस्कृति का सार है। अत. भारतीय व्यक्ति भोग भोगतेहुए भी 'कदा शम्भो! भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षम.' का अन्तश्चिन्तन करता रहता है। यहाँ भोगो की आन्तरिक निरूपणा में रोगो का दर्शन त्यागियो ने किया है। 'भोगे रोगभय'–यह उनका निष्कर्ष है। जिन क्रियाओ से परिग्रह बढे, कर्म-मल आत्मा को विकृत करे, उनका निर्मूलन इस सस्कृति का उद्देश्य है। इससे परलोक प्राप्ति तथा मोक्ष तो मिलता ही है, यहा लोक मे भी विषमता नही आती। आज लोग 'साम्यवाद' का उद्‌घोष करने लगे है। पूजीपतियो की श्वासे फूल रही है। छिपा धन धनिकों और सरकार के लिए 'सिरदर्द' बन गया है। परन्तु श्रमणो की परम्परा में तो यह पहले से ही विद्यमान है। 'अपरिग्रह' उनका व्रत है। दिगम्बर मुनि तो साम्यवाद से भी ऊपर उठे हुए है। वे समाज के धर्मगुरु है, आदर्श है और आदर्श यह कि सारी सम्पदाओ को छोड़कर मुनिवेष धारण करो। यह वैभवविलास स्वप्न है, गन्धर्वनगर है, बिजली की मुसकान है। इसे शाश्वत न समझो। परपदार्थ से रति न कर आत्मध्यान में लीन रहो इत्यादि। जिस समाज के आदर्शो की यह स्थापना हो, उस संस्कृति में हिसा, वैर, कलह और अनाक्रमण-सन्धियो की चर्चा भी नही हो सकती। वहां सारी मनुष्य जाति एक है और सब

जीव जीएं तथा जीने दें। परस्पर क्षमाभाव से ससार में रहें। कषायों को मन्द करते जाएं और वात्सल्यभाव से विश्वमैत्री के लिए आगे बढ़ें। टैंक, तोप, वायुयानों की विनाशक उड़ान ऐसी अहिंसक संस्कृति में जन्म नहीं सकती। यह भावना भारतीय संस्कृति की देन है। इसमें कर्मों को रिपु कहा गया है और इनके विनाश के लिए प्रबल पुरुषार्थ को आवश्यक माना है। स्पष्ट है कि 'खाओ, पीओ और मौज करो' से यह विचारधारा सर्वथा भिन्न है। इसमें तो उपवास, व्रत, संयम तथा त्याग को महत्त्वपूर्ण बताया गया है। अविनाशी आत्मा के समीप होने को श्रेष्ठ कहा है। यहाँ का ध्येय और भौतिकसंस्कृति का ध्येय सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं। यहाँ जीवन्मुक्तो का निर्माण होता है और भौतिकवादी विचारधारा में 'बन्धन' का। उनका जीवन तृष्णाओ से परिचालित होता है और आत्मजगत् में जीनेवाले भूतजगत् को अपनी स्थितप्रज्ञता के तीक्ष्ण अकुश के नीचे रखते हैं। यदि भौतिकवादी स्वस्थ रहने के लिए भक्ष्याभक्ष्य, खाद्य-अखाद्य को ग्रहण करते समय दैहिक पुष्टि को दृष्टिपथ में रखता है तो आत्मसस्कृतिजीवी उसमें हिंसा, दोष, पातक, अतिचार आदि को बचाकर ग्रहणबुद्धि रखता है। यदि मद्य, मधु, मास खाने से उसे शत वर्ष जीने का विश्वास हो तो भी वह इन्हे ग्रहण नही करेगा। शरीर के लिए आत्मपरिणाम को कदर्थित करना श्रमणसस्कृति के पालक के लिए कदापि स्वीकरणीय नही। उसकी अविचल मान्यता है कि मनुष्य यदि मद्य-मास से पुष्ट होकर इस जीवन में अपने को नीरोग, सबल मानने का अभिमान करेगा तो उसे भवान्तर में नानाक्लेशदारुण अधम योनियो में पचना पड़ेगा। पापानुबन्ध से होनेवाली उन परिणतियो का स्मरण भी भयावह है। इसलिए 'राग' को जीतना श्रमणपरम्परा का प्रथम लक्ष्य है। विश्व में घटित होनेवाले समस्त दुष्कर्म, राजनीतिक प्रपचघटनाए, एक दूसरे को नष्ट करने की शतरजी चाल एव युद्धोन्माद आदि के मूल में राग की अतिशयता ही हेतु है। आज इन दुर्घट दुर्योगों की उपस्थिति अधिक है और ऐसा प्रतीत होता है कि सरल सात्त्विक आर्यसस्कृति पर असुरसस्कृति का आक्रमण हो रहा है। आश्चर्य तो इस बात का है कि सीमा पर होनेवाले आक्रमणों का समाचार तुरन्त मिल जाता है और छोटी से छोटी आक्रमणात्मक कार्यवाही का विज्ञापन करने में समाचारपत्र उन्निद्र रहते हैं किन्तु सीमाओ में रहनेवाले भारतीयो के मन-प्राण पर अपदार्थ भौतिक संस्कृति ने कितना दुष्प्रभाव डाला है इस ओर किसी का अवधान नहीं है। बाजारों में बिकनेवाले प्लास्टिक अथवा रबर के 'बबुआ' के समान आज के सस्कृति से हटते

हुए मानव की दशा है। कोई उन्हे उठाकर दबाता है तो वे धन्य होकर आवाज करने लगते हैं। वास्तव में जो अन्त.सार से शून्य होते है उनकी यही दुरवस्था होती है। मानवजीवन का श्रेष्ठ वरदान तो उसकी उदात्त सस्कृति ही है। संस्कृति के विना वह अपना परिचय, नाम-गोत्र भी नही बता सकता। किसी का नाम 'महावीर प्रसाद जैन' है तो यह नाम ही उसकी सस्कृति की कीर्तिमाला को अम्लान पारिजातफूलों की माला बता रहा है। 'महावीर' उसकी सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रकृति का द्योतक है तो 'प्रसाद' उस कुल की भगवान् के प्रति भक्ति का निर्देशक। आज की बाहरी चकाचौध मे फँसकर यदि 'महावीर प्रसाद' ने भक्ष्याभक्ष्य का विचार भुलादिया है तो उसका निदान यही है कि उस पर परायी सस्कृति की छाप तो पडी है परन्तु अपनी सस्कृति का ज्ञान नही मिला। उसकी दशा उस व्यक्ति के समान है जिसके पूर्वजो के पास बहुमूल्य हीरों के खजाने थे किन्तु उसको केवल पडौसियो के द्वार पर जडेहुए काच के टुकड़ो को देखकर उन्हे अपनाने का लोभ हुआ। अपनी उच्च श्रमणसस्कृति के अनुयायियो को तो इस बात का सात्विक गर्व होना चाहिए कि उस निधि में जो रत्न है वैसे विश्व मे अन्यत्र ढू ढने पर भी नही मिलेगे। केवल पच महाव्रतो (अथवा अणुव्रतो) एव दश धर्मलक्षणो की पूरी व्याख्या की जाए तो विश्वभर मे मानव को सर्वोच्च मानवता की उपलब्धिया उनमे मिल जाएगी। ऐसी इस सस्कृति की पूरी अवगाहना के लिए शब्द मिलने कठिन है। देवपूजन, गुरुउपासना, अतिथिसत्कार, व्यसनो का त्याग, सत्यपालन, ऋजुवृत्ति, अहिसक आचरण, वैर-कलह का त्याग, क्षमापर्व तथा नितान्त भौतिक वातावरण को अपने ऊपर आच्छादित न होने देना—इत्यादि कितने ऐसे सद्गुणसमूह है जो केवल श्रावको के धारणीय मात्र नही है अपितु मानवजाति के परममित्र है। ऐसी सर्वगुणसम्पन्न सस्कृति का उपासक किसी हीनगुण इतर सस्कृति का अनुगामी नही हो सकता।

संस्कृति ने न केवल मानव के लौकिक तथा आत्मजीवन को प्रभावित किया है अपितु शिल्प, कला, स्थापत्य एव जातियो के शील उसकी असीमित रेखाओ मे समाये हुए है। श्रवणबेलगोला की भगवान् बाहुबली की मूर्ति को देखकर, अजन्ता-एलोरा गुफाओ मे उत्कीर्ण सगतराशो की शैली एवं अद्भुत शिल्पकौशल, असीम धैर्य को हृदयस्थ कर, मोहनजोदरो और हड़प्पा मे उत्खनन से उपलब्ध वस्तुओ का पुरातात्विक अध्ययन कर उनकी सस्कृति को पहचानने मे हम भूल नही कर सकते। मन्दिरो के कलश तथा मस्जिदो की मीनारे सस्कृतिभिन्नता

को दूर से ही सूचित कर देती हैं। कहीं-कहीं संस्कृतियों के संगम के भी मधुर चित्र देखने को मिलते हैं। पुरातत्त्व के विद्वान् अनुसन्धाताओं ने उत्खनन में प्राप्त अवशेषों से उनकी निर्माणतिथियों को ज्ञात किया है। पर्वतों, गुफाओं और स्तम्भों पर प्राप्त शिलालेखों, उत्कीर्ण लेखाजलियों से सस्कृति के इतिहास को जाना जा सकता है। यह भूगर्भस्थ अवशेष-सामग्री पुकार-पुकार कर हमारा ध्यान उस ओर आकर्षित करती है जिसके कण-कण में सुप्तगौरव छिपा हुआ है। सस्कृति संस्कारों के पुंज का नामान्तर है। यह स्वस्तिक का चतुर्मुख थापा है जो चतुर्मुख गति का संकेत करता है। सस्कृति आरण्यक मुनियों की शान्त जीवनचर्या है। यह जैनेन्द्र-मुद्राकित साधुमहाराजो की पुनीत गाथा है। अधिक लिखने से क्या ? 'सस्कृति' इस एक शब्द मे धर्म, इतिहास, तथा ज्ञान-विज्ञान के लक्षाधिक पृष्ठो का लेखन परिसमाप्त हो जाता है। यह शब्द समाज के नैतिक आदर्शो की परिभाषा मे लिखे गये सभी शब्दार्थों का आलम्बन कल्पतरु है। जो व्यक्ति सुसस्कृत है, सस्कृतिसम्पन्न है, वह अपनी विश्वसनीयता के लिए स्वयं प्रमाण-पत्र है। सस्कृति का मायाचाररहित सेवक ही उदार, शिष्ट, धार्मिक और चारित्र-सम्पन्न हो सकता है। सस्कृति से पतित व्यक्ति उत्तम क्षमा, दम, शौच, इन्द्रिय-निग्रह इत्यादि उदार वृत्तियो का पालन नही कर सकता। जिस प्रकार करीर-वृक्ष को पत्ते नही निकलते वैसे सस्कृतिविरहित मिथ्यादृष्टि को सम्यक्त्वबोध नही होता। भुनेहुए बीज जैसे खेती के योग्य नही होते वैसे भ्रष्टाचारी व्यक्ति समाज के लिए अनुकरणीय नही हो सकते। सस्कृतिपरिचालित चारित्र ही समाज का मानबिन्दु है, दिग्-दर्शन है। सस्कृति समाज की निर्माणशाला है। चारित्र महाविद्यालय है। सस्कृति अपने स्तन्य से समाजशिशु को उज्ज्वल स्तन्य पिलाती है। सस्कृतिविहीन को कटेहुए पतग के तुल्य समझना होगा जो कहा गिरेगा, स्वय को भी पता नही।

सस्कृति आचारशास्त्र है, सस्कृति व्यवहारमार्ग है, सस्कृति पापविमोचन सूक्त है, सस्कृति भगवान् महावीर की प्रतिमा है, सस्कृति पवित्रता का नामान्तर है। आत्मजीवन साधने की प्रक्रिया सस्कृति से प्राप्त होती है। यह ससार का सर्वोत्तम द्रव्यकोष है, अभयता का प्रशसापत्र है। सच्चा सस्कृतिभक्त अपने विरोधियो को भी परास्त करने मे किस सीमा तक समर्थ हो सकता है इसके लिए सिकन्दर और एक भारतीय दिगम्बर मुनि की ऐतिहासिक घटना का उल्लेख युक्तिसगत होगा। विश्वविजय का सकल्प रखनेवाले सिकन्दर ने जब भारत के

पंजाब प्रान्त पर विजय प्राप्त की तो उस समय उसने एक वीतराग दिगम्बर मुनि की प्रशंसा सुनी। उसने अपने शाही स्वभाव के अनुसार एक उच्च पदाधिकारी को मुनि महाराज को बुलाने के लिए भेजा। वीतराग तपस्वी ने सिकन्दर के सेवक को यों ही लौटा दिया। अन्ततोगत्वा स्वयं सिकन्दर मुनिराज के चरणो में उपस्थित हुआ और उसने उन साधुशिरोमणि के चरणसान्निध्य में क्षणकाल बैठकर उस भव्यता के दर्शन किये जो उसकी हत्या, लूट-पाट और देशविजय से कही ऊंची तथा पवित्र थी। सत्य है, सस्कृति के वरदपुत्रों की पदविभूति से ऊचा कोई पीठ नहीं।

सस्कृति आत्मिक सौन्दर्य की जननी है। इसीके अनुशासन मे सुसस्कार-सम्पन्न मानवजाति का निर्माण होता है। सभ्यता और संस्कृति में बहिरंग और अन्तरंग धर्म का अन्तर है। समाज की परस्पर शिष्टतानुबन्धिनी चर्या सभ्यता है और धर्मशासन से अणुमात्र विचलित न होकर युग-युग मे एकरूप आचार सहिता संस्कृति है। मनुष्य धोतीकुर्ता पहनकर, कोटपैण्ट धारणकर संस्कृतिमान् रह सकता है किन्तु अभक्ष्यभक्षण कर मन्दिर मे भगवान् की प्रतिमा के सामने स्तुतिस्तोत्र पढकर भी सस्कृतिपरायण नही गिना जा सकता। क्योंकि अभक्ष्य-भक्षण आचार-मार्ग का उल्लघन है और आचारपालन ही सस्कृति है। इसीलिए आचार्य सोमदेव सूरि ने कहा कि—जैनो को लौकिकविधियो के स्वीकार करने मे वहातक कोई अड़चन नही होनी चाहिए जहातक उनके सम्यक्त्व की हानि न हो और व्रतो मे दूषण उत्पन्न न हो। मूल उद्देश्य व्रतो की रक्षा है। प्राणत्याग का अवसर आने पर भी व्रतो का भजन नही करना चाहिए। सुदूर रेगिस्तानों की यात्रा करतेहुए अरब लोग पानी के लिए अपने ऊटो का पेट चीरकर पानी पीते सुने है। क्योकि उनके जीवन मे प्राणरक्षा मुख्य है किन्तु एक व्रती ऐसी परिस्थिति मे प्राणत्याग कर सकता है अपेय नही पीता। एक को प्राण और दूसरे को व्रत प्रिय है।

आज आहार, पान, विहार सभी मे दोष आ गये है। होटलों में विना किसी सोचविचार के सभी वर्ग के लोग खाने-पीने लगे हैं। स्पृश्यास्पृश्य और खाद्याखाद्य का विवेक भुला दिया गया है। एक व्रती का तो नियम होना चाहिए वह ऐसी परिस्थिति मे, जबकि उसे पवित्र चौके के भोजन की व्यवस्था न हो, फल, मेवा और दूध (यदि शुद्धता से मिल सके) खाकर रहे। परन्तु आज ऐसी पक्तियां लिखनेवाले को दो शताब्दी पिछड़ाहुआ बताएगे। तथापि सत्यवक्ता को निर्भीक

होकर उन विकृतियों का डाक्टर के समान ऑपरेशन कर देना चाहिए जिनसे भय है। यह उनका उत्तरदायित्व है। कठोर पर्वतो से ही नदी की धाराएं निकलती हैं जिनसे जगत् को जीवन मिलता है। गुरु और औषधि कडुवे होने से अधिक लाभप्रद होते हैं।

'सम्य' शब्द की व्याकरणसंगत परिभाषा के अनुसार सम्य वे हैं जो सभा में मान्य समझे जाते हैं। यह अर्थगौरव सम्य को शिष्ट भी मानता है। हमारे यहाँ सम्य, शिष्ट, साधु, भद्रजन सामान्यतः समानार्थी है। अत. संस्कृतिसेवक ही यहाँ सम्य कहा जाएगा। वेषभूषा से ही काम नही चलेगा। सच्चा सम्य व्यक्ति सभी का अविरोधी होने में अपना वैशिष्ट्य समझेगा। सम्य होने के लिए सुसस्कृत होना अत्यन्त आवश्यक है। मार्ग चलते थूकना, केले इत्यादि फलों के छिलकों को लापरवाही से मार्ग में फेंक देना, कुशलता के नाम पर मिथ्याभाषण करना, अपने से दूसरों को तुच्छ समझना, सामूहिक स्थान पर धूम्रपान करना, मादक पदार्थ का सेवनकर दुर्भाषण करना—ये ऐसी बाते हैं जो आधुनिक पढे-लिखों में भी मिलेंगी। धर्मशाला आदि धार्मिक अथवा सार्वजनिक स्थानो की सफाई का ध्यान न रखकर उनके फर्श को, दीवार को, सीढियो को प्राय· लोग गन्दा कर देते हैं। ऐसा करते समय आत्मीयता का अभाव ही उन्हे प्रेरित करता होगा। क्योंकि अधिकतर उन्हे अपने घरो मे इस तरह मलिनता फैलाने की छूट नही होती। इसलिए सम्यवेष धारण करने और सम्यता निभाने में अन्तर है। वास्तविक सम्य तो चन्दनद्रुम है जिसका सौरभ समीप के वृक्षो को भी स्वसदृश बना लेता है। किसी ने ठीक कहा है कि पवित्र व्यक्ति एक फुलवारी के समान होता है जिसकी सुगन्धि पासवालो के पास उडकर पहुँचती है। चन्द्रमा और सज्जन को देखकर आह्लाद होता है। प्राणो में आनन्द के प्रवाह उतरते चले जाते हैं। ऐसी सस्कृति से सम्यता का निर्माण होता है। यदि सस्कृति दोषयुक्त है तो उसमें उत्तम व्यक्तित्व उत्पन्न नही हो सकते। जिस कोटि के तन्तु होंगे, उसी कोटि का वस्त्र बुना जाएगा। वज्रलेप से चिक्कण किये हुए पत्थर पर सुन्दर चित्राकन हो सकता है। किसी खुरदरी दीवार पर उत्तम चित्र लिखे जाने की कल्पना हास्यास्पद है। कपास की शाखाओं पर गुलाब के फूल कब खिले हैं?

उत्तम सस्कृति से सम्पन्न यह भारतवर्ष विश्व का मार्गदर्शयिता था। सम्यक् चारित्र के पाठ यहाँ से सीखे जाते थे। विदेशों मे यहाँ की आध्यात्मिक विभूति की चर्चा थी। यह देश महात्माओ, गुरुओ, मुमुक्षुओं, विशिष्ट महात्माओं

का आस्थान गिना जाता था। किन्तु आज इस देश के लोग नकल उतारने में प्रवीण हो गये हैं। भारतीय अध्यात्मदर्शन की बाते वे यूरोपीय तर्ज में कर सकते है और किसी भारतीय सन्त को तबतक महत्त्व नही देंगे, जबतक उसकी प्रशंसा विदेशो से प्रमाणित न हो जाए। राजेन्द्र प्रसाद अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के समान थे, गाधी ईसा जैसे थे – इत्यादि कहकर वे अपने देश की विभूतियो की आदर्श ऊंचाई को विदेशियो से जबतक सन्तुलित नही कर लेगे, मानेगे नही। विश्व के जन जिन का अनुकरण करते थे, वे आज विश्वजनों का अ ुकरण करने मे अपना अहोभाग्य समझते है। अग्रगामी को अनुगामी होना प्रिय लगने लगा है। जिनके आचरणो से आदर्शव्याख्याओं का निर्माण होता था, वे दूसरो के आचरणो से निजी आदर्शों के ध्वजो का उत्तोलन करने लगे हैं। आत्मविस्मृत जनो की प्राय॰ यही दुरवस्था होती है। भीतर से थोथे नगारे को कोई चोट मारे तो वह पुलकित होकर बजने लगता है। शख को कोई भी उठाकर फूक मारदेता है। आज भारतीय भी अनुकरणवाद के आखेट हो गये है। यह परच्छन्दानुर्वतिता प्रशसा के योग्य नही अपितु शोचनीय है। अपने सास्कृतिक स्वाभिमान की हत्या है। जो रत्न की श्रेष्ठता एव मूल्यवत्ता को न जानकर काच के लिए आग्रह करे, कस्तूरिका को छोडकर पक के लिए पाणि पसारे – उसकी शकनीय बुद्धि पर किसे खेद नही होगा।

भारतीय श्रमणसस्कृति के उदात्त तत्त्वो के प्रति असीम आस्था ही वर्तमान विश्व को सकट से परित्राण दिला सकती है। मानवजगत् में 'मत्स्यन्याय' की प्रवृत्ति इसी से निवारित हो सकती है। यह देन उन विश्ववन्द्य वीतराग तीर्थकरो की है, जिन्होने मनुष्यमात्र के कल्याण का मार्गदर्शन किया। जो क्षेत्रीय, जातीय, प्रान्तीय अथ च राष्ट्रीय रागो से ऊपर होकर मनुष्य के लिए सोचते थे। जिनकी चरणच्छाया मे बैठनेवाले आचार्यो ने 'क्षेम सर्वप्रजाना' लिखा, न कि किसी एक जातिविशेष को लक्ष्य करके हितोपदेश दिया। 'जैन' शब्द जातिपरक नही है अपितु धर्मपरक है। जो भगवान् वीतराग 'जिन' का भक्त है वही 'जैन' है। मानवजाति अहिसा से सदा से प्रेम करती आई है। युद्ध और हिसा – उसे कभी अच्छे नही लगे। मैं तो कहता हूँ कि सीमा पर जो सैनिक सशस्त्र पंक्तिबाँधे खडे हैं वे भी हिसा के लिए नही, हिसा के निरोध के लिए उपस्थित है। जो लोग आक्रमणकर राष्ट्र के धर्म, सस्कृति, सतीत्व, मन्दिर, कृषि, बाल-स्त्री-वृद्धजनो को विपन्न करना चाहते है, उनको रोकने के लिए जो खडे है, वे तो बलिदान देने

के लिए और उक्त समूहो की सुरक्षा के लिए कटिबद्ध हैं। इस प्रकार सैनिक पर भी अहिंसक दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है, वहां यह कहना युक्तिसंगत होगा कि मानवमात्र का उत्तम धर्म अहिसा है। अहिंसा से ही वह परस्पर मे विचारों तथा व्यवहारो का आदान-प्रदान करता हुआ जीवित है। इस प्रकार अहिसा विश्वधर्म है, विश्व की श्रेष्ठतम संस्कृति है। जहाँ कीट-पतग पर भी क्षमाभाव है, उस संस्कृति से उत्तम क्या हो सकता है?

अत' विश्व में उच्चगुणयुक्त प्रामाणिकता को बनाये रखने के लिए उत्तम सस्कृति को उज्जीवित रखना, मानवमात्र के लिए हितकर है। एक शीतल जलाशय सहस्रों जनो को ठण्डा पानी देगा, एक घनच्छायावान् वृक्ष शीतल छाया देकर धूप से रक्षा करेगा और एक सद्धर्म प्राणिमात्र को निराकुल, धर्ममय, आत्ममार्ग बताकर उसके दोनो लोकों की यात्रा को पुण्यफलो से आपूर्ण कर देगा।

एक सस्कृतिमान् व्यक्ति अपने नित्य स्वाध्याय से ससार की वास्तविकता को जानकर उसके प्रति विशेष दृष्टि रखता है और सुखो मे फूलता नही, दु खो मे विचलित नही होता – समभाव मे आँधी-वर्षा को सहन करता है। वह अपने कर्मपरिणाम मे हुए सुखो-दु खो को जानकर कषायो को मन्द करता जाता है तथा स्थितप्रज्ञ होता है। अज्ञानी बालक जैसे मिट्टी के खिलौना के टूट जाने पर रोने लगता है तथा पानी मे चन्द्रबिम्ब देखकर प्रसन्न हो किलकारी मारने लगता है वैसे ज्ञानवान् 'न मुह्यति न हृष्यति' – न दु खाकुल होता है और न अत्यन्त सुखी होकर नाचने लगता है। ज्ञान और वैराग्य के दो कूलो मे घेरकर जीवन-नदी को मोक्षसमुद्र तक पहुँचाने मे प्रयत्नशील रहता है। उसके निर्मल जल में सस्कृति के कमल खिलते है। उससे स्पर्शकर जो पवन गुजरता है, वह शीतलता से भर जाता है। उसके तटो पर जो बीज गिरते है उनके छायादार वृक्ष बनते है और उसके पास प्यास लिये जो अजलि बढाता है, उसे अमृत पीने को मिलता है।

वर्षायोग

'योग' शब्द भारतीय दर्शनशास्त्र में बहुचर्चित तथा अतिप्रशंसित है। गणितशास्त्र में योग का अर्थ है जोड। एक और एक का योगफल दो होता है – यह उसका व्यवहारार्थ है। योगशास्त्र में आत्मा का आत्मा से मिलन योग कहा जाता है। 'युजिर् योगे' इस धातु से यह शब्द निष्पन्न है। कर्मपरिणाम से कषायो में मग्न आत्मा परद्रव्यों में आसक्ति करता है और आत्मस्वरूप का भान भुला बैठता है। द्रव्यमन इस परपदार्थरति का माध्यम बनता है। इस पर-रति का परिणाम चातुर्गतिक बन्ध है। जिन्हे कर्मक्षपण की इच्छा होती है वे आत्मस्वरूप मे मग्न होने के लिए योगसाधन करते है। सासारिक द्रव्यमात्र से जो योग है, वह सयोग तथा उसकी अप्राप्ति वियोग कही जाती है। सयोग और वियोग दोनो में क्षणिक हर्ष तथा शोक की स्थिति बनी रहती है। किसी नीतिकार का कहना है कि 'सयोगा विप्रयोगान्ता पतनान्ता समुच्छ्रया.' ससार के सभी सयोगों का अन्त वियोग है और सभी वैभवो का पर्यवसान पतन है। जो मनुष्य जितने स्नेह-प्रेम-बन्धन मे फँसता है उतना उसे सन्तप्त होना पडता है[1]। अत सयोग-वियोग से परे शाश्वत सुख की प्राप्तिहेतु ज्ञानी मुनि-महात्मा योगसाधन कर आत्मकल्याण के पथ को गाहते है। योग का एक अर्थ चित्तवृत्तियो का निरोध है। चित्त सदा चचल रहता है। उसे क्षेत्र चाहिए वह चाहे भौतिक हो या आत्मिक। भौतिकक्षेत्रो में तो मन लगाया हुआ है ही – सारा ससार इसी द्रव्यमन के भौतिकपरिग्रह से जकडा हुआ है। हाँ! आवश्यकता है इसे आत्मोन्मुख करने की। यह आत्मोन्मुख करने की प्रक्रिया ही योग है। जो योगसाधन करते हैं उन्हे आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है। 'सामायिक' योग का नामान्तर है। योगस्थिति के बिना आत्मसाक्षात्कार असम्भव है। योग के समय इन्द्रियवृत्तिया बहिर्व्यापार से रहित हो जाती है और जैसे कोई अपने अनेक कपाटोवाले भवन को अन्दर से बन्दकर अत्यन्त भीतरी कक्ष में प्रवेश करता है, वैसे भावात्मक मन गहन आत्म-प्रदेशों में लौट पडता है। वहाँ पहुँचकर वह स्थिर हो जाता है। जैसे वायुरहित

---

१. 'यावत. कुरुते जन्तु सम्बन्धान् मनस· प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोक-शंकव. ।।'

प्रदेश में दीपक की लौ अकम्प हो जाती है वैसे वह आत्मस्थिति होती है जिसे योगयुक्त कहते हैं। इस योग से आत्मरूप में स्थिति और परपदार्थ विरति की प्राप्ति होती हैं। अनन्तानुबन्धी कायक्लेश नष्ट हो जाते हैं। शाश्वत आरोग्य-प्राप्ति के द्वार खुल जाते हैं। योग से आत्मा की अनन्तशक्ति प्रकट होती है। गणित में भी योग का अर्थ वृद्धि है तथा ऋण न्यूनता को कहा गया है। जो संसार के संयोग-वियोग में लगा हुआ है, वह ऋणभोक्ता है और ऋणी के समान दुःखाकुल है किन्तु जिसने विशुद्ध योग-मार्ग को जान लिया है वह अनन्तानुबन्धी कर्मों का क्षय करता है। प्रस्तुत विषय 'वर्षायोग' भी मुनिचर्या का एक योगपूर्ण अग है। वर्षाऋतु में इसे धारण करने से यह वर्षायोग कहा जाता है। व्यवहार में, इस समय मुनि चातुर्मास करते हैं और किसी श्रावकबस्ती में चार माह व्यतीत करते है। शास्त्र के अनुसार यह समय आषाढ शुक्ल चतुर्दशी की पूर्व-रात्रि से आरम्भ होकर कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की पश्चिम रात्रि तक माना गया है।

ग्रीष्म, वर्षा और शीत – ये तीन वर्ष की मुख्य ऋतुएँ है। वसन्त, शरद् तथा हेमन्त ऋतुएँ इतनी उग्र (तीक्ष्ण) नही होती कि उनकी असोढव्यता की प्रतीति हो। मुनियों के तप की चर्चा करते हुए कवि भूधरदास ने कहा है कि त्यागी दश-लक्षण धर्म को धारण करते है और बारह अनुप्रेक्षाओं को भाते हैं। वे बाईस परीषहों को सहन करते है तथा चारित्ररत्न के भण्डार होते हैं। इसी वर्णन के आगे उन्होने लिखा है –

'जेठ तपे रवि आकरो, सूखे सरवर नीर।
शैलशिखर मुनि तप तपे, दाहे नगन शरीर॥'
'पावस रैन डरावनी, वरसे जलधर-धार।
तरुतल निसवे तब यती, बाजे झंझावार॥'
'शीत पडे, कपि मद गले, दाझे सब वनराय।
ताल तरगिनी के तटे, ठाडे ध्यान लगाय॥'
'इह विधि दुर्धर तप तपें, तीनो काल मंझार।
लागे सहज सरूप में, तनसो ममत निवार॥'

इस प्रकार ग्रीष्म, वर्षा और शीत ऋतुओं के कठिन परीषहों को सहन करते हुए मुनि तन से ममता का परित्याग कर देते है। वर्षाऋतु में मूसलधार बरसते वारिदो का परीषह मात्र सहन करना नहीं होता अपितु उसमें विहार को

स्थगित करना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि नदियों में बाढ आ जाती है, मार्ग रुद्ध हो जाते हैं, असंख्य सूक्ष्म-स्थूल कृमिकीट उत्पन्न होने लगते हैं। पृथ्वी हरी घास से ढंक जाती है और चींटियाँ अडों को मुंह में दबाये बिलों से बाहर निकल आती हैं। यह समय एक सम्यग्दृष्टि एवं सम्यक् चारित्रधारी मुनि के लिए विहार की सुविधा नहीं देता। प्रकृति की इन बाधाओं के अतिरिक्त चातुर्मास में अनेक दिन और पूरा भाद्रपद मास पवित्र व्रतों, पर्वों और सांस्कृतिक आयोजनों के होते हैं जिनमें स्थानविशेष पर मुनियों, आचार्यों और अन्य त्यागीवर्ग की नियमित समुपस्थिति से धार्मिक-उत्सवों का वातावरण अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। स्थान-स्थान पर शास्त्रप्रवचनों का आयोजन होता है और एकत्र हुए श्रावकवर्ग को धर्मप्रभावना का विशेष लाभ मिलता है। यह स्मरणीय है कि भारतवर्ष के अतीत युग में वर्षा के चार महीनों में प्राय· (विशेष आवश्यक प्रयोजन के विना) देशान्तर-गमन स्थगित रहता था। राजाओ के युद्ध-प्रयाण, व्यापारिकों के व्यवसायनिमित्त से होनेवाले दिशावर-गमन वर्षा के अन्त में ही होते थे। तपस्वी भी ऐसे समय में किसी एक स्थान पर ठहर जाते थे। जैन परम्परा में 'चतु·संघ' की जो व्यवस्था है, उसे इन दिनो मे परस्पर समीप आने का अधिक अवसर मिलता था। श्रावकों को निराकुल धर्मध्यान का तथा मुनि-परमेष्ठियो से अधिकाधिक धर्मदेषणा लेने का सुयोग मिलता था। आज यद्यपि यातायात के साधन अतिसुविधापूर्ण हो गये है तथापि श्रावक लोग चातुर्मास में यथाशक्ति अवसर निकालकर अपने वैयावृत्य का पालन करते देखे जाते हैं। पदाति विहारी मुनियों के लिए तो आज भी नदियां है, कृमि-कीट हैं और गतिमार्ग में वे ही पुरानी बाधाएँ है। हाँ ! श्रावक उडकर या तैरकर अथवा फिर वाष्पयान की सुविधा से चलकर पूर्वापेक्षया सरलता मे आ-जा सकता है। अब शास्त्रोक्त विधिपूर्वक वर्षायोग ग्रहण तथा उसके विसर्जन की प्रक्रिया का निरूपण किया जाता है, जो निम्न प्रकार से हैं –

'वर्षायोग प्रतिष्ठापन' के दिन मध्याह्नवेला में त्यागी निराकुल, पवित्र स्थानविशेष में शुद्धिपूर्वक स्थित होकर बृहद्भक्ति, सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पच-गुरुभक्ति और शान्तिभक्ति का पठन करे तदनन्तर मध्याह्नवन्दना करे। इसे शास्त्रीय परिभाषा में 'मगलगोचरमध्याह्नवन्दना' कहते है। 'नन्दीश्वरभक्ति' श्लोक ६४वें में योगग्रहण तथा योगमोक्षण – दोनो समय इस 'मंगलगोचर-वन्दना' को करने का निर्देश किया गया है – 'मंगलगोचरमध्याह्नवन्दना योग-

योजनोज्झनयोः' । इसके पश्चात् बृहत् सिद्धयोगिभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान ग्रहण करे। तदनन्तर बृहत् आचार्यभक्ति व शान्तिभक्ति का पठन करे। यह क्रिया त्रयोदशी के दिन होती है। इस प्रक्रिया के दूसरे दिन (आषाढ शुक्ल चतुर्दशी की पूर्वरात्रि में) सिद्धभक्ति, योगिभक्ति पढ़कर चारों दिशाओं की प्रदक्षिणा करे तथा प्रत्येक दिशा की ओर मुख करते हुए लघुचैत्यभक्ति का पठन करे – इस प्रकार चर्तुदिक् चैत्यालयों की वन्दना करनी चाहिए। उस समय जो वृद्धजन वहाँ उपस्थित हों, उन्हें योगतन्दुलप्रक्षेपण करना चाहिए, ऐसा परम्पराप्राप्त व्यवहार है। पुनः पंचगुरुभक्ति तथा शान्तिभक्ति पठन कर 'वर्षायोग' ग्रहण करना शास्त्रविधि है।[1]

'वर्षायोग' स्थापना करते समय उच्चारण करे –'वर्षायोगप्रतिष्ठापन-क्रियायां सिद्धभक्तिकायोत्सर्ग करोम्यहम्' । 'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्व साहूणं' इत्यादि दण्डक पाठ व कायोत्सर्ग के अनन्तर 'थोस्सामि' स्तवपाठ करे। पुनः 'सिद्धानुद्धूतकर्मप्रकृति-समुदयान् साधितात्मस्वभावान्' – सिद्धभक्ति पढे ।

सिद्धभक्ति पढने के अनन्तर योगभक्ति पढे। उससे पूर्व 'वर्षायोगप्रतिष्ठापन-क्रियाया योगभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् ।' तथा पूर्ववत् 'णमो अरहंताण' इत्यादि दण्डकपाठ करे । योगभक्ति के लिए 'जातिजरोरुरोगमरणातुरशोकसहस्रदी-पिता ' – इत्यादि का उच्चारण करे।

एतत् पश्चात् यथाक्रम पूर्वादि दिशाओ की ओर मुख करते हुए अथवा दिशाओ की भावना करते हुए सभी दिशाओ मे विद्यमान चैत्यालयों की वन्दना करे। प्रत्येक दिशास्थित चैत्यालय को नमस्कार करने के लिए प्रथम श्लोकपाठ इस प्रकार करे –

'यावन्ति जिनचैत्यानि विद्यन्ते भुवनत्रये ।
तावन्ति सततं भक्त्या त्रि:परीत्य नमाम्यहम् ।।'

---

१. 'लात्वा बृहत्सिद्धयोगिस्तुत्या मगलगोचरे ।
प्रत्याख्यान बृहत्सूरिशान्तिभक्तीः प्रयु जताम् ।।
ततश्चतुर्दशीपूर्वरात्रौ सिद्धमुनिस्तुती ।
चतुर्दिक्षु परीत्याल्पाश्चैत्यभक्ति गुरुस्तुतिम् ।।
शान्तिभक्ति च कुर्वाणैर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम् ।
ऊर्जकृष्णचतुर्दश्या पश्चाद् रात्रौ च मुच्यताम् ।।' –

पश्चात् पूर्वाभिमुख होकर पठन आरम्भ करे –

'स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तमः क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ।।
प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ।।
विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम् ।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ।।
स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात् क्रियाम् ।
जगाद तत्त्व जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ।।
स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः ।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः ।। १–५

इति श्रीवृषभजिनस्तवनं पठित्वा श्रीअजितजिनस्तवनं पूर्वाभिमुख एव पठेत् –

यस्य प्रभावात् त्रिदिवच्युतस्य क्रीडास्वपि क्षीबमुखारविन्द ।
अजेयशक्तिर्भुवि वन्धुवर्गश्चकार नामाऽजित इत्यवन्ध्यम् ।।
अद्यापि यस्याजितशासनस्य सता प्रणेतु. प्रतिमङ्गलार्थम् ।
प्रगृह्यते नाम परं पवित्र स्वसिद्धिकामेन जनेन लोके ।।
य प्रादुरासीत् प्रभुशक्तिभूम्ना भव्याशयालीनकलकशान्त्यै ।
महामुनिर्मुक्तघनोपदेहो यथारविन्दाभ्युदयाय भास्वान् ।।
येन प्रणीत पृथु धर्मतीर्थ ज्येष्ठ जना प्राप्य जयन्ति दु खम् ।
गागं ह्रद चन्दनपङ्कशीत गजप्रवेका इव घर्मतप्ता ।।
स ब्रह्मनिष्ठ सममित्रशत्रुर्विद्याविनिर्वान्तिकषायदोषः ।
लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा जिनश्रिय मे भगवान् विधत्ताम् ।। १–५

अथ वर्षायोगप्रतिष्ठापनक्रियायां चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् । पश्चात् 'णमो अरहताणमित्यादि' दण्डकपाठ करने के अनन्तर निम्नाकित पाठ पढना चाहिए—

वर्षेषु वर्षान्तरपर्वतेषु नन्दीश्वरे यानि च मन्दिरेषु ।
यावन्ति चैत्यायतनानि लोके सर्वाणि वन्दे जिन पु गवानाम् ।।१।।

अवनितलगताना कृत्रिमाकृत्रिमाणा
वनभवनगतानां दिव्यवैमानिकानाम् ।

इह मनुजकृतानां देवराजार्चितानां
जिनवरनिलयानां भावतोऽहं स्मरामि ॥२॥

जम्बूधातकिपुष्करार्धवसुधाक्षेत्रत्रये ये भवा—
श्चन्द्राम्भोजशिखण्डिकण्ठकनकप्रावृड्घनाभा जिनाः ।
सम्यग्ज्ञानचरित्रलक्षणधरा दग्धाष्टकर्मेन्धना
भूतानागतवर्तमानसमये तेभ्यो जिनेभ्यो नमः ॥३॥

श्रीमन्मेरौ कुलाद्रौ रजतगिरिवरे शाल्मलौ जम्बुवृक्षे
वक्षारे चैत्यवृक्षे रतिकररुचके कुण्डले मानुषाङ्के ।
इष्वाकारेऽञ्जनाद्रौ दधिमुखशिखरे व्यतरे स्वर्गलोके
ज्योतिर्लोकेऽभिवन्दे भुवनमहितले यानि चैत्यालयानि ॥४॥

द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलौ द्वाविन्द्रनीलप्रभौ
द्वौ बन्धूकसमप्रभौ जिनवृषौ द्वौ च प्रियंगुप्रभौ ।
शेषाः षोडशजन्ममृत्युरहिता. सन्तप्तहेमप्रभा—
स्ते सज्ज्ञानदिवाकराः सुरनुताः सिद्धि प्रयच्छन्तु न. ॥५॥

अञ्चलिका—इच्छामि भन्ते ! चेइयभत्ति काओसग्गो कओ तस्सा लोचेउ अहलोय-तिरिलोय-उड्ढलोयम्मि किट्टिमाकिट्टिमाणि जाणि जिणचेइयाणि ताणि सव्वाणि तीसुवि लोएसु भवणवासिय वाण वितर-जोइसिय-कप्पवासियत्ति चउविहा देवा सपरिवारा दिव्वेण गधेण दिव्वेण पुप्फेण दिव्वेण धूवेण दिव्वेण चुण्णेण दिव्वेण वासेण दिव्वेण ण्हाणेण णिच्च काल अचति पुज्जति वदति णमस्सति अहमवि इह सतो तत्थ संताइ णिच्चकाल अचेमि पूजेमि वदामि णमस्सामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ वोहिलाहो सुगइ-गमणं समाहिमरणं जिण-गुणसंपत्ति होउ मज्झं । इतिपूर्वदिग्वन्दना ।

ततो दक्षिणमुखस्तद्दिश्यचैत्यालयवन्दनमधस्तनप्रार्थनाश्लोकैः समाचरेत्—

यावन्ति जिनचैत्यानि विद्यन्ते भुवनत्रये ।
तावन्ति सतत भक्त्या त्रिःपरीत्य नमाम्यहम् ॥१॥

त्वं शम्भवः सम्भवतर्ष-रोगैः सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीदिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथा नाथ ! रुजां प्रशान्त्यै ॥१॥

अनित्यमत्राणमहं क्रियाभिः प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम् ।
इदं जगज्जन्मजरान्तकार्तं निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वम् ॥२॥

शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णाऽमयाप्यायनमात्रहेतुः।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥३॥
बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतुर्बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।
स्याद्वादिनो नाथ! तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥४॥
शक्रोऽप्यसक्तस्तव पुण्यकीर्तेः स्तुत्या प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः।
तथापि भक्त्या स्तुतपादपद्मो ममार्य! देयाः शिवतातिरुच्चैः ॥५॥

इति सम्भवजिनस्तोत्रं पठित्वाऽभिनन्दनजिनस्तोत्रं दक्षिणमुख एव पठितमुपक्रमेत्। यथा हि—

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान् दयावधूं क्षान्तिसखीमशिश्रियत्।
समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत् ॥१॥
अचेतने तत्कृतबन्धनेऽपि च ममेदमित्याभिनिवेशिकग्रहात्।
प्रभंगुरे स्थावरनिश्चयेन च क्षतं जगत्तत्त्वमजिग्रहद् भवान् ॥२॥
क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः।
ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनोरितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत् ॥३॥
जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते।
इहाप्यमुत्राप्यनुबन्धदोषवित् कथं सुखे संसजतीति चाब्रवीत् ॥४॥
स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत् तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः।
इति प्रभो! लोकहितं यतो मतं ततो भवानेव गतिः सतां मतः ॥५॥

एतदनन्तरं 'वर्षायोगप्रतिष्ठापनक्रियायां चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहमित्यादि पूर्ववत् दण्डकादि सम्पाद्य कायोत्सर्गं कुर्यात् 'थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवलि अणंतजिणे' स्तवपाठं च विदधीत। ततः पश्चाद् 'वर्षेषु वर्षान्तरपर्वतेषु' प्रभृति पूर्ववत् आवर्तयेत्। तदनु पश्चिमदिगभिमुखो मनसि वा पश्चिमाशां कल्पमानोऽधस्तनवन्दनादिपाठं पठेत्—

यावन्ति जिनचैत्यानि विद्यन्ते भुवनत्रये।
तावन्ति सततं भक्त्या त्रिःपरीत्य नमाम्यहम् ॥१॥

अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं स्वयं मतं येन सुयुक्तिनीतम्।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति सर्वक्रियाकारकतत्त्वसिद्धिः ॥१॥
अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्।
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ॥२॥

सतः कथञ्चित्तदसत्वशक्तिः खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम् ।
सर्वस्वभावच्युतमप्रमाणं स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ॥३॥

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम् ।
नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ॥४॥

विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था ।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ ! ॥५॥

इत्थं 'सुमतिजिनस्तोत्र'मधीत्य श्रीपद्मप्रभजिनस्तोत्रमस्ताशाभिमुख एवोच्चरेत् । यथा हि –

पद्मप्रभ. पद्मपलाशलेश्यः पद्मालयालिङ्गितचारुमूर्तिः ।
बभौ भवान् भव्यपयोरुहाणां पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः ॥१॥

बभार पद्मां च सरस्वती च भवान् पुरस्तात् प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः ।
सरस्वतीमेव समग्रशोभा सर्वज्ञलक्ष्मीज्वलितां विमुक्तः ॥२॥

शरीररश्मिप्रसरः प्रभोस्ते बालार्करश्मिच्छविरालिलेप ।
नराऽमराऽऽकीर्णसभा प्रभा वा शैलस्य पद्माभमणेः स्वसानुम् ॥३॥

नभस्तलं पल्लवयन्निव त्व सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः ।
पादाम्बुजैः पातितमारदर्पो भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै ॥४।

गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्य नाखण्डलः स्तोतुमल तवर्षेः ।
प्रागेवमादृक्किमुतातिभक्तिर्मां बालमालापयतीदमित्थम् ॥५॥

अत पश्चात् पूर्ववत् 'वर्षायोगप्रतिष्ठापनक्रियाया' मित्याद्यारभ्य समग्रमुच्चारयेत् । उत्तरदिक्चैत्यवन्दना च कुर्वीत । यथा हि –

यावन्ति जिनचैत्यानि विद्यन्ते भवनत्रये ।
तावन्ति सतत भक्त्या त्रि परीत्य नमाम्यहम् ॥१॥

स्वास्थ्य यदात्यन्तिकमेष पुंसा स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा ।
तृषोऽनुषगान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद् भगवान् सुपार्श्वः ॥१॥

अजगम जगमनेय-यन्त्र यथा तथा जीवधृत शरीरम् ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथाऽत्रेति हित त्वमाख्यः ॥२॥

अलघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा ।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहृत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥३॥

बिभेमि मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः ।
तथापि बालो भयकामवश्यो वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ।।४।।

सर्वस्य तत्त्वस्य भवान् प्रमाता मातेव बालस्य हितानुशास्ता ।
गुणावलोकस्य जनस्य नेता मयाऽपि भक्त्या परिणूयतेऽद्य ।।५।।

इति सुपार्श्वजिनस्तुति विधाय श्रीचन्द्रप्रभजिनं स्तुवीत –

चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं चन्द्रं द्वितीय जगतीव कान्तम् ।
वन्देऽभिवन्द्य महतामृषीन्द्र जिनं जितस्वान्तकषायबन्धम् ।।१।।

यस्यागलक्ष्मीपरिवेषभिन्न तमस्तमोऽरेरिव रश्मिभिन्नम् ।
ननाश बाह्य बहु मानसं च ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नम् ।।२।।

स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ता वाक्सिहनादैर्विमदा बभूवुः ।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा गजा यथा केसरिणो निनादैः ।।३।।

यः सर्वलोके परमेष्ठितायाः पद बभूवाद्भुतकर्मतेजा. ।
अनन्तधामाऽक्षर-विश्वचक्षुः समन्तदुःखक्षय-शासनश्च ।।४।।
स चन्द्रमा भव्यकुमुद्वतीनां विपन्नदोषाऽभ्रकलंकलेप. ।
व्याकोशवाङ्न्यायमयूखमालः पूयात् पवित्रो भगवान् मनो मे ।।५।।

इति श्रीचन्द्रप्रभजिनस्तवन पठित्वा 'अथ वर्षायोगप्रतिष्ठापनक्रियायां चैत्यभक्तिकायोत्सर्ग करोम्यहम्' इत्याद्युच्चार्य पूर्ववद् दण्डकादि विधाय 'वर्षेषु वर्षान्तरे'त्यादि भक्ति अधीयीत । इति चतुर्दिग्वन्दनम ।

अथ वर्षायोगप्रतिष्ठापनक्रियाया पचगुरुभक्तिकायोत्सर्ग करोम्यहम् । पूर्ववद् दण्डकादिविधि समाप्य 'श्रीमदमरेन्द्रमुकुटप्रघटितमणिकिरणवारि-धाराभि' – इत्यादि पचगुरुभक्ति पठेत् । पुन 'वर्षायोगप्रतिष्ठापने'त्यादि पठित्वा शान्तिभक्तिकायोत्सर्गविधि निवर्तयेत् । पश्चात् पुनरपि दण्डक कृत्वा 'न स्नेहाच्छरण प्रयान्ति' इत्यादि शान्तिभक्ति सर्वदोषविशुद्धयर्थ समाधिभक्ति च पठेत् । एष वर्षायोगप्रतिष्ठापनविधिः ।

'वर्षायोग' समाप्ति करते समय भी इसी विधि का पालन करना होता है । समाप्ति करते हुए 'अथ वर्षायोगनिष्ठापनक्रियाया' पढ़ना चाहिए ।

विशेष ज्ञातव्य – मुनि वर्षायोग के अतिरिक्त अन्य नगरादि स्थानों पर दीर्घ समय तक नही ठहर सकते । यदि धर्मप्रभावनार्थ स्थिति आवश्यक हो तो मास-

पर्यन्त रुक सकते हैं। तीर्थक्षेत्रों में अधिक कालपर्यन्त धर्मध्यान के लिए ठहर सकते हैं। जहाँ 'वर्षायोग' स्थापित करना अभीष्ट हो वहाँ आषाढ मास में ही पहुँच जाना विहित है। यदि किसी कारणवश आषाढ मास में न पहुँचा जा सके तो श्रावण कृष्ण चतुर्दशी तक अवश्य पहुँच जाना चाहिए। यद्यपि कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को 'वर्षायोग' समाप्त हो जाता है तथापि कार्तिक शुक्ल पंचमी से पूर्व उस स्थान को नहीं त्यागना चाहिए। यदि दुर्निवार उपसर्ग आदि कारणों से स्थान छोड़ना ही पड़े तो प्रायश्चित्त लेना चाहिए। 'वर्षायोग' स्थान से १२ योजन (४८ कोस) के अन्तर्गत यदि किसी साधु की समाधि का प्रसग हो तो उतने दूर जा सकते हैं।

धर्म और पन्थ

'धर्म' शब्द की चर्चा अनादिकाल से चली आ रही है। अनेक सम्प्रदायों, वर्गों, व्यक्तियों तथा महानुभावो ने अनेक रूप में धर्म के दर्शन किये हैं और इसकी परिभाषाए स्थिर की हैं। उनमें कितने एक धर्म को जीवन का अभिन्न अंग मानते है तो कितने जीवन के साथ इसका कोई सामजस्य अनुभव नही करते। बहुत से धर्म को अवाञ्छनीय बन्धन मानते है तो अनेक इसे मुक्तिमार्ग का मणिसोपान मानकर आदर करते हैं। कितने लोग इसे सामाजिक सगठन का प्रबल कारण स्वीकार करते है तो कितने (इससे विरुद्ध मत रखनेवाले) धर्म को हिंसा, वैर, कलह, आक्रमण, युद्धोन्माद और विभीषिका की ऐतिहासिक अखाड़ेबाजी का माध्यम बताते है। कुछ लोग इसे बुद्धिवाद के तुलादण्ड पर तौलते है तो कुछेक श्रद्धा के मणिमुकुट में इसका दर्शन करते है। कुछ इसे परमार्थ साधन का अमोघ उपाय मानते है। इस प्रकार एक धर्म को अनेक लोग अनेक दृष्टिभेदो से परखते हैं, कटाक्ष करते है, अनुगत होते हैं और अपने को धन्य समझते है। सक्षेप में यदि यह कहे कि विश्व मे आजतक अधिकतम जनो के मानस को अनेक भाषा-विभाषाओ से जिसने आन्दोलित किया है, वह 'धर्म' है तो अतिशयोक्ति नही होगी। जैसे प्रत्येक व्यजनाक्षर को द्वादशाक्षरी लगी हुई है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को धर्मबन्धन लगा हुआ है। अनादिकाल से मानव-समाज धर्म को किसी न किसी रूप मे जानता-मानता आया है।

प्रश्न होता है कि वह 'धर्म' क्या है, जिसे लेकर विविध विचारो का यह अनादि क्रम विश्व मे प्रचलित है। इतना तो निर्विवाद सत्य है कि धर्म बहुचर्चित है और आज नही, चिरकाल से धर्म पर सिद्धान्त-ग्रन्थो की रचना की जाती रही है। इसे किसी ने तलवार कहा है तो किसी ने आत्मसाधन का अमृतविदु बताया है। परन्तु इसकी चर्चा अवश्य होती रही है। एतावता इसकी व्यापकता, विशिष्टता, बहुचर्चितता, मान्यता एव विलक्षणता को स्वीकार करने से इन्कार नही किया जा सकता। साथ ही इसकी व्याख्या इतनी सरल नही कि तुरन्त ही इन-इन उक्त जटिलताओ के जाल में से निकालकर देखी-पढ़ी जा सके। तो क्या धर्म अनिर्वाच्य है ? नही।

साधारणतः धर्म का विश्लेषणात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिए धर्मशास्त्रों की निरूपणा तथा मान्यताएं अधिक सहायक हो सकेगी। हमारे इहलोक तथा परलोक-जीवन को धर्म और अधर्म की विभाजक रेखाओं ने ही द्विधाविभक्त कर रक्खा है। यहाँ अधर्म से अधर्मद्रव्य की ओर संकेत नहीं है अपितु धर्मविरुद्ध अथवा धर्मरहित जीवन से अभिप्राय है। धर्म को चार पुरुषार्थों में गिनते हुए उसे प्रथम स्थान दिया गया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ हैं। पुरुषार्थ का आशय है कि ये मनुष्य द्वारा सम्पादनीय श्रेष्ठ उद्यम है। सभी उद्यमों का मूल धर्म है। विना धर्म के शेष तीनो पुरुषार्थों की सिद्धि नही की जा सकती। धर्मपूर्वक ही अर्थ, काम और मोक्ष की उपलब्धि की जा सकती है। धर्म का तिरस्कार करके न अर्थ और न काम साधे जा सकते हैं। धर्मरहित अर्थ उपार्जन-साधनों की पवित्रता से रहित होगा और धर्मरहित 'काम' व्यभिचारश्रेणी में गिना जाएगा। मोक्ष तो सर्वोच्च पुरुषार्थ है और अहिसा धर्म उसकी प्राप्ति में परम सहायक है। अहिंसा से प्राणिमात्र में वैरविशुद्धि और वैरविशुद्धि से समभाव, समभाव से रागपरिणति का नाश, रागनाश से मन की चचलता का निरोध तथा मन की स्थिरता से आत्मध्यान होकर मोक्षप्राप्ति होती है। इस प्रकार चारो पुरुषार्थो का अन्तिम 'मोक्ष' साध्य है तथा 'धर्म' साधन है। विना साधन के साध्य की प्राप्ति नही होती। अत. धर्म पवित्रता से आरम्भ की जानेवाली साधनाओं का पिता है, जनक है। धर्म का आलम्बन सम्पूर्ण कार्यक्षेत्रो मे निर्दोष तथा उत्तम-विधि के परिपालन का परिचायक है। कालिदास ने इक्ष्वाकुवशियो के धर्ममूल चारित्र का वर्णन करते हुए लिखा है—'प्रजायै गृहमेधिनाम्' — उत्तम वश की पवित्र सन्तान परम्परा की रक्षार्थ ऐक्ष्वाकुओ ने गृहस्थधर्म का पालन किया। कामभोगो की परितृप्ति उनका लक्ष्य नही था। अपने विवाहित जीवन को सयमपूर्वक पति-पत्नी बिताते थे। असयम को बुरा समझा जाता था। केवल वासनाशान्ति के लिए अपनी स्त्री से भी सहवास को व्यभिचार बताया गया है। इस सयम का आग्रह धर्म से ही सम्भव है। क्योकि 'धर्मेण हीना. पशुभिः समानाः' धर्म से रहित तो पशुओं के समान है। पशुजीवन से ऊपर उठना हो तो धर्मदण्ड का आश्रय लेना होगा। विना धर्म के पारिवारिक स्नेह-सम्बन्धो का निर्वाह तक कठिन होगा। आज के युग मे कालिदास के 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' को 'कामाय गृहमेधिनाम्' बदलकर पढनेवालो की सख्या अधिक होती जा रही है। जैसे उत्तम पात्र में रखी हुई वस्तुए विकार को प्राप्त नही होती, वैसे धर्मपात्र में रखकर अर्थ और काम को विकृति से बचाया जा सकता है।

व्यवहार और निश्चय-रूप में धर्म को जानकर मनुष्य सम्पूर्ण पापों से परित्राण पाता है। व्यवहार का मार्ग लोक-संरक्षण के निमित्त है और निश्चय-मार्ग आत्मसिद्धि निमित्त। आत्मा को निर्ग्रन्थ, शुद्ध, बुद्ध, सर्वोपाधिरहित, ज्ञान-स्वरूप जानना निश्चयधर्म है और उसके लिए वस्त्र त्यागकर जिनेन्द्रमुद्रा को धारण करना व्यवहारधर्म है। निश्चय वस्तु के ध्रौव्य स्वरूप की प्रतीति कराता है और व्यवहार उसके कटक, कुण्डल आदि रूप पर निर्भर करता है। माता, पिता, बन्धु आदि लोकव्यवहार हैं। निश्चयरूप से तो ये कर्मानुबन्धी अनन्त पुद्‌गल-पर्याय मात्र हैं। लोकहितकारी रूप को ध्यान में रखकर धर्म की जो परिभाषाएं स्थिर की गई है, उनसे आत्मा को मोक्षमार्ग पर ले चलने के लिए संबल मिलता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्म, अपरिग्रह इत्यादि का पालन जबतक नही किया जाएगा, इस सम्यक्‌चारित्रमार्ग पर जब तक चलना नहीं आएगा, तबतक मोक्ष क्या मिल सकेगा ? एतावता धर्म मोक्ष का मार्ग दिखानेवाला परम सहायक है। धर्म के इस व्यावहारिक रूप को जानकर, इसका पालनकर आत्मा परमात्मभाव की प्राप्ति में समर्थ होता है। इस रूप में धर्म अनन्य सखा है, निर्माता है और जीवन को सर्वोच्च पुरुषार्थ की विभूति प्रदान करता है। जो धर्म को अपना पथदर्शक मानकर चलता है, वह अपथगामी नही होता। धर्म की प्रभा अधर्म के मार्ग पर नही पडती। इसीलिए धर्म की रोशनी में चलने का व्रत रखनेवाला अन्धकार में नही भटकता। धर्म जीवन की सभी कलाओ को एक विशिष्ट सौन्दर्य प्रदान करता है। जो अन्तरात्मा से धर्मपालन करते है उनकी मुखाकृति पर एक अपूर्व सात्विक तेज प्रादुर्भूत होता है और द्रष्टाओ के मन.प्राण को अयाचित आकृष्ट कर लेता है। अधर्म अथवा विकारो से ग्रस्त मनवाले व्यक्ति की आकृति भी वैसे विचारो की सूचना देती रहती है। धर्मशीलो को नमस्कार करने के लिए लोगो के प्राण उत्क्रमण करने लगते है। उनके प्रति एक अहैतुकी श्रद्धा का भाव स्वयं उदित होता है। जैसे अग्नि के सम्पर्क से दुग्ध मे उफान उठता है वैसे धर्मवृद्धो की उपस्थिति से चित्त उन्हे प्रणाम करने को उठ खडा होता है और उन्हे प्रणति करने पर आशीर्वादरूप अमृत पाकर पुन: बैठ जाता है। किसी ने कहा है कि यदि मनुष्य बहत्तर कलाओ में कुशल है किन्तु धर्मकला मे अकुशल है तो वह पण्डित हो, अपण्डित हो, उसकी सभी कलाएं निष्फल हैं[1]।

---

१. बावत्तरी कला कुसला पडियपुरुषा अपडिया चेव।
सव्व कलाण विपरं जे धम्मकल न जाणति ॥

क्योंकि कला तो उज्ज्वलता, अमृतमयता और रोचिष्णुता का नाम है जिनकी समृद्धि में चन्द्रमा अमृतमय हो जाता है। 'आत्मानुशासन' की सूक्ति है कि कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणि से तो मनःसंकल्पित आशाओं की पूर्ति होती है किन्तु धर्म का पालन तो बिना संकल्प के ही अचिन्त्य फल का दाता है[1]। 'याचे कल्पतरु देय सुख चिन्तत चिन्तारैन। बिन याचे बिन चितवे धर्म सकल सुख देन॥' इस दोहे में आत्मानुशासन के उक्त श्लोक का आशय ही अनूदित हुआ है।

धर्म विश्वशान्ति, विश्वप्रेम और परस्पर सहिष्णुता का उद्भावक है। अशान्ति, वैर और असहिष्णुता तब फैलती है जब व्यक्ति, समाज और राष्ट्र अधर्मपूर्ण व्यवहारों में लग जाते हैं। 'धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः'—धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है। जैसे अगरबत्ती धीरे-धीरे जलकर सारे कक्ष में सौरभ फैलादेती है, जैसे खिलेहुए पुष्प का सौरभ अज्ञातरूप से उड़कर नासापुट को सुरभि से सन्तर्पण देता है उसी तरह सत् अथवा असद् व्यवहारों की प्रक्रिया से सर्वत्र व्याप्त परमाणुओं में सूक्ष्म कम्पन उत्पन्न होता है और वह अपने जैसे वातावरण को उत्पन्न कर लेता है। जल पर उठतीहुई तरगों को हम देखते हैं परन्तु उन तरंगों को उठाने वाले पवन को नही देख पाते, इसी प्रकार संसार में फैलतीहुई अशान्ति को तो हम देखते है परन्तु इसके मूल में जो उत्पादक कारण हैं, उन्हे लक्ष्य नही कर पाते। किंतु आकाशवाणी स्टेशन से प्रसारित समाचार जैसे 'रेडियो' पर सुदूर होतेहुए भी सुनायी पड़ते है उसी प्रकार अव्यक्तरूप से मानसिक विचारो का प्रभाव भी श्वासोच्छ्वास के साथ वायुमण्डल में विसारी होकर अपनी परिणति से प्रभावित करता है। सामूहिक रूप से यदि संसार किसी विचारपक्ष पर सोचता है तो उसके मूल में वह वातावरण ही कारण है जो रातदिन नेताओं, पत्रों, चर्चाओ इत्यादि से बनाया जाता है। अज्ञात रूप से वह प्रजाओ और राष्ट्रों के अवचेतन मानस में क्रिया-प्रतिक्रिया करता रहता है और परिणामस्वरूप उसी दिशा में, उन्ही विचारो को पोषण मिलता रहता है। यह अशान्ति, तनाव तथा विरोध की भावना व्यक्तियो और राष्ट्रों को समान रूप से प्रभावित करती रहती है। अतः यह कहना युक्तिसगत है कि चिन्तन का परिणाम ही निकट तथा दूर के वातावरण के निर्माण में कारण है। और इस रूप में धर्मचिन्तन का प्रभविष्णु परिणाम स्पष्ट है। धर्म जबतक वास्तविक रूप में जनमानस में विद्यमान रहता

---

१. सकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामरोरपि।
असकल्प्यमसचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते॥—आत्मानुशासन

है तबतक नित्य नये सन्मंगलपूर्ण शुभकार्य होते रहते हैं और उदात्त गुणों का प्रसार होता रहता है। जैसे शारीरिक मलिनता से व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार अधर्मयुक्त मानस-मालिन्य से छल, कपट, द्वेष, हिंसा, पाप-समूहों की उत्पत्ति होकर जीवन विषाक्त बन जाता है। धर्महीन को पापकर्म करते हिचक नहीं होती और पुण्यशील धर्म से विरुद्ध जा नहीं सकता। क्योंकि धर्म सात्विकता की ओर ले जाता है, विश्व के साथ सख्यसम्बन्ध स्थापित करने का आग्रह करता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' यह धार्मिकों की मनोभावना को व्यक्त करनेवाला सूत्र है। 'यह मेरा है, यह पराया है' ऐसी क्लेशदायिनी संकीर्ण विचारधारा पर धर्म विराट् की विजय-वैजयन्ती है। धर्म निराकुलता की जननी है, आनन्द का पिता है, सुखों का सहोदर और शान्ति की पवित्र भूमि है। धर्मात्मा मनुष्य सकुचित परिधियों से निकलकर विशालता के शिखरो पर विचरण करता है। वह दुःख, दैन्य, ग्लानि, तुच्छता इत्यादि मूढताओं को छोडकर आनन्द, सम्पन्नता, प्रसन्नता और उदारहृदयता के विशाल संसार में विचरण करता है। दिशाओ के सभी द्वार उसके लिए उन्मुक्त है। समुद्रों का कल्लोलसकुल जल उसकी स्तुति गाता है और हिमालय उसके लिए मार्ग छोड देता है। यह धर्म की महिमा है।

धर्म आत्मा में निर्दोषभाव को जागृत कर वस्तुस्वभाव का ज्ञान कराता है। जो वस्तुस्वभाव को जान लेता है वह धर्म को पहचान जाता है। 'वस्तु-स्वभावो धर्मः' – वस्तु का स्वभाव धर्म है। उष्णता अग्नि का स्वभाव है। वह उसका धर्म है। यदि आप शीतल अग्नि ढूंढने निकलेंगे तो विश्व भर मे ढूंढकर भी नही पा सकंगे। क्योकि अग्नि शीतल नही होती। मनुष्य का धर्म उसका सच्चा विवेक है। विवेक का अर्थ है विवेचन से प्राप्त सत्य। तत्त्वार्थ का परिणाम ही विवेक है। स्व-पर का भेदज्ञान ही विवेक है। रत्नत्रय की उपलब्धि विना विवेक नही होता। सम्यक्त्व की प्राप्ति विवेक से होती है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र विवेक से ही उत्पन्न होते हैं। अप्रमत्तगुण की स्थापना मे विवेक परम सहायक है। 'तुष-माष' का भेदज्ञान विवेकस्फुरण का निदर्शन है। विवेक सम्यक्त्व मे प्रतिष्ठित करनेवाला है। हीरे और काच का ज्ञान विवेक से ही होता है। श्रेष्ठ मार्ग का चयन विना विवेक नही होता। अनन्तानुबन्धी कर्म का क्षय विवेक से ही किया जाता है। मनुष्य विवेक से जानता है कि मेरा आत्मा परम वीर्यसम्पन्न है, विराट् है। तुच्छता शरीरधर्म है, विभुता आत्मधर्म।

शरीर नाशवान् है, आत्मा अविनश्वर। अतः अनश्वर के लिए विवेक का उपयोग करना हितकर हैं। क्योंकि जो व्यक्ति अनित्य वस्तुओं के मोह में नित्य वस्तुओं का परित्याग करता है, वह पश्चात्ताप के अतिरिक्त कुछ नहीं पाता। क्योंकि जो नश्वर हैं, वे तो नष्ट हो जाएंगे और जो अनश्वर हैं, उनसे उसका परिचय तक नहीं होगा। ऐसा जानकर धीमान् शाश्वत सुखों से अपेक्षा रखते हैं।

'धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजा'—'धर्म' का अर्थ है वह शक्ति जो धारण करती है, प्रजाओं को धर्म ही धारण करता है। अग्नि को उसका उष्णत्व ही धारण करता है। अपनी दाहक शक्ति के बल पर ही वह्नि अनुल्लंघनीय है। जब अंगार भस्ममात्र रह जाता है तब उस पर कोई भी पांव रख देता है, परन्तु अग्नि पर पैर रखने की शक्ति किसी की नही। जो धर्मनिष्ठ रहता है, उसे सभी समादर से देखते हैं परन्तु धर्महीनों का आदर कोई नहीं करता। धर्मपरायण व्यक्ति नितान्त स्वतंत्र नही है। वह धर्ममर्यादा में बँधा-हुआ होता है। धर्म उसे पथ-अपथ का निर्देश करता है। धर्म के बन्धन मुक्तिप्रद होते है और रागबन्धन भवबन्धन। ये बन्धन चारित्र के सहयोगी हैं, स्वैराचरण के सखा नही। ये गति को गौरव देनेवाले हैं, दिग्भ्रमकारी नहीं। इन बन्धनो में तुला का सन्तुलन है, दिवस का आलोक है, उषा की अरुण पताका है। ये संयम के प्रतीक हैं, लौह-शृंखलाओं के बन्धन नही। जिस प्रकार इक्षुदण्ड पर्व-पर्व पर सधा हुआ है उसी प्रकार धर्मयुक्त मानव का जीवन तप, त्याग, शील, संयम, चारित्र—इत्यादि पर्वों पर ऊर्ध्वगामी बनता है। धर्म प्राणिमात्र के तद्गुण को उपोद्बलित कर उसे नर से नारायण बनाने में मार्गोपदेष्टा बनता है।

निषेधमूलक परिभाषा के द्वारा धर्म की निरुक्ति करे तो कहा जा सकता है कि सप्तव्यसनों का परित्याग धर्म है। मायाचार नही करना धर्म है। धर्म क्या है? भगवान् के चरणकमलों में एकाग्र भक्ति रखना धर्म है। देव, गुरु, अतिथि का यथाशक्ति सभक्ति सत्कार करना धर्म है। सभी के प्रति समदृष्टि रखना धर्म है। उसमे धर्म की स्थिति जानो, जो सदाचारी है, विनम्र है, सत्यभाषी है। क्रोध, लोभ, मान, मायादि से वर्जित है, इन्द्रियसमूहों को वश में रखता है, अभि-मान नहीं करता, मृदुता को अपनाता है, शील का सागर है, सद्गुणों का आगर है। दूसरे के तिलप्रमाण गुण को गिरिप्रमाण बताकर प्रसन्न होता है। जिसके हृदय में किसी उत्तमगुण व्यक्ति को देखकर ईर्ष्या-असूया नही होती और जो भगवान् जिनेन्द्रदेव के चरणारविन्दों का मधुप है। इसके विपरीत कुटिल, क्रोधी,

अनृतभाषी, प्रतारणापरायण, देव-गुरु में अविनयी, केवल संसार को ही अपना माननेवाला और 'तन उपजत अपनो उपज जान, तन नशत आपनो नाश मान'—वृत्ति का अनुवर्तन करनेवाला आत्मधर्म से निश्चय वंचित है। ऐसा दिग्भ्रान्त व्यक्ति आत्मपरिज्ञान से रहित है। वह ठगा गया है विश्व के इस मीना बाजार में, लूटा है उसे काम, क्रोधमूलक दस्युओं ने, अकिंचन किया है ज्ञानावरणी कर्मों ने। दु:खक्लेश की भित्तियो पर श्वास-श्वास के दारुण नश्वर चित्र बनाते, मिटाते नष्ट किया है उसने अपने मनुष्यपर्याय के दुर्लभ क्षणों को। वह अधार्मिक है। धर्म से वचितों को अमृत से वचित कहें तो कोई अत्युक्ति नही। धर्म आत्मज्ञान का संवल है। परलोक-यात्रा का उत्तम पाथेय है और धर्मराज के बहीखाते में लिखाने योग्य श्रेष्ठ वित्त (पूंजी) धर्म ही है।

यह धर्म त्रिकालाबाधित है। सत्यरूप है, अहिंसामय है। यह ज्ञातव्य, दर्शनीय तथा आचरणीय है। धर्मनौका पर आरूढ होकर भवार्णव को लांघने-वाला डूबता नही। संसार के सभी संश्लेषणजन्य सुखप्रतीतिमान् भोगों का परिणाम दु:खमय है। उनकी प्राप्ति से जितना हर्ष होता है उतना उनके वियोग से शोक भी होता है। धर्म आत्मदृष्टि देता है और उससे मनुष्य को प्राप्ति और नाश का हर्ष-विषाद नही होता। क्योकि दोनो ही वास्तव में मिथ्या है। धर्मदृष्टि न मिलने से सुख-दु:ख की अनुभूति होती है। इस प्रकार धर्म शान्तिकवच है। जो मनुष्य धर्माचरण करतेहुए अन्त:प्रच्छन्न मायाचार का अनुवर्तन करता है वह धर्म को ठगता है। किन्तु जिन्होंने धर्म को अन्दर-बाहर समानरूप से ग्रहण किया है वे ही उसके सच्चे उपासक हैं। संसार के सन्तुलन को बिगाडने मे अधार्मिको का प्रमुख हाथ है। धर्म के उत्तमत्व से अनभिज्ञ इसे पाखड, ढकोसला बताते हैं और परमात्मा की भक्ति करनेवालो को 'देवताओ के गुलाम' कहते हैं। किन्तु विचार कर देखा जाए तो अधार्मिकों का जीवनदर्शन ही विश्व के लिए भयावह है। पाप-पुण्य के प्रति असमीचीन दृष्टिकोण होने से ऐसे लोग विश्व को महानाश के गर्त में ले जाते है।

'न धर्मो धार्मिकैर्विना'—धार्मिको के विना धर्म की क्रियाशक्ति पंगु हो जाती है। अग्नि काष्ठ के द्वारा ही व्यक्त होती है धर्म को धार्मिक जन ही लोकव्यवहार का रूप देते है। धर्म मनुष्य की आवश्यक विशेषताओं में प्रमुख है। वह जीवन की आत्मशक्ति है, उसके विना शिव 'शव' है। अग्नि भस्म का ढेर है। राष्ट्रों के जनपथ शून्य के विस्तार हैं। धर्मसंरक्षण से प्राणियों में औदार्य, सौन्दर्य और

चारु चरित्र की प्रतिष्ठा होती है। 'मनुष्यजातिरेकैव'—उदार धर्म की सेवा करनेवालों की भावना सम्पूर्ण मनुष्यजाति को एकता के बन्धन में बाँधती है। मानव स्वधर्म के साथ ही उत्पन्न होता है। अहिंसा, क्षमा इत्यादि उसके अकृत्रिम धर्म हैं। बालक उत्पन्न होते ही मां से वात्सल्य मांगता है। वह प्रत्येक उत्पन्न हुए जीव का स्वाधिकार है। मां उसे स्तन्य पिलाकर अपने-आपको शैशव की प्रथम श्वास के साथ मिलेहुए स्तन्य का प्रतिदान करती है। इस प्रकार वात्सल्य की परम्परा की रक्षा की जाती है। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' का यही अर्थ है। विश्व का मानव वात्सल्य का प्रादान-प्रदान करके ही जीवित है। 'मत्स्यन्याय' से मानवजाति नष्ट हो जाएगी। वात्सल्य में पोषण की भावना है। यही अहिंसा है। जन्मते ही शिशु अपनी जननी से 'अहिंसा' पाता है। दूध की धार में मा उसे अहिंसा पिलाती है। मानवमात्र अपने चारों ओर अहिंसा से जीता है। अहिंसा को पीकर पुष्ट होता है। इसी दृष्टि से अहिसा के व्यापक स्वरूप पर विचार करतेहुए आचार्यों ने कहा–'अहिसा भूताना जगति विदितं ब्रह्म परमम्'—यही परम ब्रह्म है। मानवमात्र के सुख की आधारभूमि 'अहिसा' है। 'आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्'—अपने को जो प्रतिकूल लगे उसे दूसरों के प्रति भी न करे, यह अहिंसापालन का मार्गदर्शक सूत्र है। अहिंसक को सब स्नेह करते है। हिसकों से दुनिया चौकन्नी तथा सावधान रहती है। उनको विश्वसनीयता के साथ नही देखा जा सकता।

धर्माचरण में प्रमाद नहीं करना चाहिए। यदि खाने-पीने, सोने-उठने तथा अपने दैनिक मनोरंजनो के लिए समय निकालते हो तो धर्म के लिए भी समय रखो। अपने कार्यो को धर्मतुला पर परखो। जैसे माला के सभी मणि सूत्र में पिरोये होते है वैसे अपने सभी कार्यों को धर्मसूत्र में पिरोकर रखो। जो मणि अथवा पुष्प सूत्र में पिरोये नही होते, वे देवता के उपहार नही होते। इसी प्रकार जो कार्य-कलाप धर्मानुविद्ध नही है, उनको अपने आत्मा के लिए स्वीकार नही करना चाहिए। प्रत्येक वस्तु को खरीदते समय जैसे उसे तुला पर तौलकर ही लेते है वैसे अपने जीवन के कार्य-कलाप को धर्म की तुला पर रखकर ग्रहण करना होगा। विना धर्म कियेहुए कार्य पवित्रता को सन्देह में डाल देगे। कसौटी पर जैसे कांचन को परखा जाता है वैसे अपने समस्त कार्यों को 'धर्मनिकषग्रावा' पर कसकर देखना चाहिए। जो मनुष्य अपनी प्रत्येक कार्यप्रणाली को अपने धार्मिक व्यक्तित्व के अनुरूप ही ग्रहण करता है उसे दुःख नही होता। प्रातःकाल

उठकर दिवस में करणीय कार्यों के विषय में धर्मबुद्धिपूर्वक सोचना और रात्रि में सोने से पूर्व उन दिनभर के कार्यों पर आलोचनामयी आत्मदृष्टि डालना सन्मार्ग पर बने रहने के लिए उपादेय है। व्यक्ति-व्यक्ति को सोचना चाहिए कि मेरा आज का दिन शुभ कार्यों में गया कि व्यर्थ चला गया। धार्मिक को अपने समय, दिन और क्षणों की भी व्यर्थ कार्यों में, या अकार्य में (निष्क्रिय होकर) हिंसा नहीं करना चाहिए। समय का दुरुपयोग बहुत बड़ी हिंसा है। यह मनुष्यपर्याय को मिले दैवी दुर्लभ क्षणों की अवहेलना है। जो किसी मूल्य पर पुनः जीवित नहीं किये जा सकते।

यदि दिनचर्या में भूल हुई हो तो प्रायश्चित्त लेकर उसकी विशुद्धि करना चाहिए। मन में सकल्प करना चाहिए कि ऐसी भूल फिर नही होगी। क्योंकि छोटी-छोटी आदतों से स्वभाव बनता है। स्वभाव को धर्ममय बनाने के लिए बहुत बड़े-बड़े व्रत लेना ही आवश्यक नही है, अपि तु जीवन मे लघु और नगण्य लगनेवाली बातों का पालन भी उसी महत्त्वपूर्ण कार्य को दी जानेवाली निष्ठा से करने का अभ्यास तथा स्वभाव होना चाहिए। रास्ते मे पड़ेहुए पत्थर को भी ठोकर से ठुकराना उचित नही। उससे बचकर निकलना अथवा उठाकर एक ओर रख देना चाहिए। जो ठोकर मारकर उसे अलग हटाता है उसके मनमें कही प्रमाद का लेश है, यह पता चलता है। धर्म और धर्मी जबतक एकरूप न हो, समरसता उत्पन्न नही होती। आम के फल की मिठास तथा वह फल एकजीव होकर अपना माधुर्य व्यक्त करते है उसमें से मिठास को अलग नहीं किया जा सकता। अग्नि जबतक अधूरे काष्ठ को लगी होती है, उसमे से धुआ निकलता रहता है किन्तु काष्ठ के जलने के पश्चात् उसमें लाल-लाल अगारे शेष रह जाते है जो अग्नि के पूर्ण स्वरूप को बताते है। उस समय वहाँ सम्पूर्ण अग्नि का अस्तित्व ही दृश्यमान होता है, काष्ठ का नही, धुआ का भी नही। धर्मप्राण व्यक्ति का जीवन भी इस प्रकार चारित्र से सर्वागपूर्ण होना चाहिये कि उसकी एक कोर भी अचारित्र न रहे। धर्म के श्वेत वस्त्र पर पडा हुआ अधर्म की पीक का लाञ्छन दूर से ही दिखायी दे जाता है। लोकोक्ति है कि 'स्याद् वपु' सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्'— शरीर के किसी एक भाग पर भी कुष्ठ का चिह्न उभर आता है तो सर्वांग में असुन्दरता आ जाती है। यही धर्मजीवी के लिए है कि उसकी चर्या में अणुमात्र भी विकृति आ जाती है तो वह उसके समस्त धार्मिकत्व पर चन्द्रमा में मृगचिह्न के समान दिखायी देने लगती है। उस दाग से अपने आपकी रक्षा करना अप्रमत्त

योग है। कहते हैं – 'त्रपु सहस्त्रक्षालितमपि रंगं न जहाति' – रांग नाम का धातु हजार बार धोने पर भी अपनी निसर्ग-मलिनता का परित्याग नही करता। अपने विचारों को 'रंग' न बनाओ। स्मरण रखो कि कुशल किसान जैसे परिपक्व क्षेत्र-सस्य को दरांती से निर्दयतापूर्वक काट देता है वैसे काल आयुकर्म शेष होने पर क्षणकाल की छूट न देकर प्राणिमात्र का संहार कर देता है अतः परिपाक का समय आने से पूर्व ही अपने लिए कल्याण के साधन जुटा लो। धर्मपालन के लिए किसी समयविशेष की प्रतीक्षा नहीं करना चाहिए। क्योंकि प्रतीक्षा करनेवाले के पास अवसर प्रायः नहीं आता। जो साहससम्पन्न होते हैं वे अवसर को स्वय खीचकर ले आते है। जहाँ प्रयाण करना है, उस स्थान के लिए आवश्यक धर्म-पाथेय सदा तैयार रखो। धर्म का यान ऊर्ध्वमुख है और अधर्मरथ के चक्र नरकों के पंक में फँसेहुए है। धर्म तीर्थंकरों की दिव्य स्फटिककान्ति से दीप्तिमान है और अधर्म अन्धकार में स्वय आवृत है तथा धर्मविमुखों को उसी अन्धगर्त में गिराने के लिए प्रस्तुत है। धर्माचरण से शुभबन्ध होता है। 'समीचीनं धम्मं देसयामि' कहतेहुए आचार्यों, शास्त्रकारो ने धर्म को समीचीन कहा है। यह समीचीनता मानो, दिव्य वरदान है। इस घनी छायावाले, महाफल धर्मपादप के नीचे बैठकर साधना करनेवाला धर्मात्मा अनन्ताकाश से ऊपर प्रतिष्ठित आनन्दात्मक लोक के पथ प्रशस्त करता है। धर्म पालने से आत्मबल में वद्धि होती है। आत्मबल बढ़ने से अतिरिक्त कौन वस्तु है जिसे महान् कह सके ?

धार्मिक आचरण राष्ट्रीय चरित्र को उन्नति देनेवाला है। व्यक्ति-व्यक्ति से राष्ट्र बनते हैं और उनके आचरणों मे राष्ट्र के स्तर का निर्माण होता है। जैसे तन्तु होते है, वैसा ही पट बनता है। यदि राष्ट्र के लोग धर्मप्रिय होगे तो राष्ट्र धर्ममय होगा। आखिर राष्ट्र तो व्यक्तियो से ही है। व्यक्तिसत्ताविहीन भूखण्ड राष्ट्र नही कहा जा सकता। इसके लिए अधिक उदाहरण देकर समझाने की आवश्यकता नही। एक पार्टी में, जिसमें सामूहिक आहार-पानी की व्यवस्था की गई है, लोग खाने से अधिक उच्छिष्ट छोड़ते हैं। उच्छिष्ट छोडते समय उनके हृदयों में थोड़ा भी विचार नही होता कि यह अन्न का नाश कितनी बड़ी हिसा है ? यदि यो ही फेकने योग्य इसे न किया होता तो कितने लोगो की क्षुधाशान्ति इससे हो पाती। यह जूठन छोड़ना अनेक लोगों में तो आवश्यक आत्मसम्मान की रक्षा समझी जाती है। किन्तु राष्ट्रीय विचार से सोचने पर हमें प्रतीत होगा कि यह मँहगाई का कारण है, हमारी अस्वस्थ मनोदशा का परिचायक है। जब

अन्न दुर्लभ हो, तब तो यह अपराध कोटि में आ जाता है। क्योंकि रुपये-पैसे से अन्न के दाने नहीं बनते। वह तो किसान की कठोर मेहनत का फल है जो प्रकृति अनुकूल होने पर एक निश्चित कालावधि में पककर तैयार होता है। उसे नोटों के समान उत्पन्न करना दिवास्वप्न है। अतः जो वस्तु सिक्कों से तैयार नहीं की जा सकती उसे सिक्कों पर उछालना मानवजाति को संकट में डालना है। ये विचार सभी व्यावहारिक क्षेत्रों में लागू किये जा सकते हैं। धर्मबुद्धि रखने से इस प्रकार की विचारधारा आती है और धार्मिक ही उसका पालन करने में अग्रसर होते है। इस विचार से धर्म राष्ट्र के नैतिक उत्थान का सबल आधार है। धर्महीन होने से अविचारों की परिधि में घिराहुआ मानव स्वयं को तथा राष्ट्रीय जीवन को भी पतित कर देता है।

धर्म का यह क्षेत्र विशाल है। इसमें सम्पूर्ण अच्छाइयो का समावेश है। किन्तु कभी-कभी इसे व्यक्तिवाद घेरकर सीमित बना देता है। सीमा में रहकर इसकी गुणावली में न्यूनता के साथ अनेक विकृतियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। क्योंकि असीम को सीमा में बाँधनेवाले का वैयक्तिक आग्रह उसमें मिला होता है। वह वैयक्तिक आग्रह सदैव सामूहिक दृष्टि के प्राजल भाग को ग्रहण नही कर पाता। वह धर्म से अलग होकर 'पन्थ'वाद को पोषण देता है। आज ससार मे अनेक पन्थ हैं। उन पन्थो में एक वर्गविशेष ने अपनी प्रविष्टि ले रखी है। पन्थ का कार्यक्षेत्र उन्ही तक सीमित है। सीमित क्षेत्र में रहकर वे दूसरी सीमाओ को अपने से लघु वताते है और वताते-बताने उनमें एक सकीर्ण पक्षपात का जन्म हो जाता है। पक्षपात से कलह बढता रहता है और उस-उस पक्ष के लोग रातदिन धर्म के मगलस्वरूप से परे हटकर आर्तरौद्र मे फँस जाते है। भगवान् महावीर ने 'समीचीन धम्म देसयामि' कहकर मानवमात्र के लिए हितकारी धर्म का स्वरूप-निरूपण किया किन्तु उन्ही के माननेवालो ने उसमें अनेक सख्याओं को नाम देकर उसके अश-ग्रहण में अपनी तत्परता प्रदर्शित की। हिन्दुओ में भी कबीरपन्थ, दादूपन्थ, द्वैतमत, अद्वैतमत, शैवमत, शाक्तमत, वैष्णवमत आदि अनेक पन्थो का प्रचलन है। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म के विशाल गम्भीर समुद्र में से अपनी क्षमता के अनुसार पन्थजनकों ने अपने-अपने बुद्धिपात्र भरे और उनका पृथक्-पृथक् नामकरण कर दिया। उनके भक्तो और अनुयायियो ने अपने नेता के नाम पर आगे भी उसी पन्थ को बनाये रखा। 'सिक्ख' शब्द का प्रयोग आज एक जातिविशेष के लिए होता है किन्तु एक समय सिक्ख हिन्दू थे।

मुगलों और भारतीयों के संघर्षकाल में जिन्होंने केश, कंघी, कच्छ, कड़ा और कृपाण धारणकर गुरुओं का शिष्यत्व स्वीकार किया तथा युद्ध में सम्मिलित हुए, वे गुरु के शिष्य हुए और कालान्तर में शिष्य (सिक्ख) एक अलग जाति बन गई। सिक्खों के 'ग्रन्थसाहब' में हिन्दुओंके भगवान् राम का वर्णन है और नानक के भजन रामभक्तिपूर्ण हैं। परन्तु वह पन्थ अलग होकर आज एक पृथक् जाति बन गया है। धर्म और पन्थ में मौलिक अन्तर यह है कि पन्थ की रचना धर्म के लिए व्यक्तिवादी विचारधारा उत्पन्न करती है। धर्म वस्तु-स्वभाव को प्रमुख बताता है तो पन्थ व्यक्तिनिरूपित किसी सत्याश अथवा सत्याभास को मानने का आग्रही होता है। धर्म त्रिकालाबाधित होने से एकरूप है किन्तु पन्थ के स्वरूप अनेक है। कोई तिलक की तिर्यक् रेखाओं मे, कोई उत्तरीय की विशेष छटा में, कोई रुद्राक्ष और विद्रुम, तुलसी आदि की माला धारण करने मे और ऐसे ही बाह्य आकल्पो में धर्म मानतेहुए अपने पन्थ की पद्धति की पट्टावली लिये दिखायी देते है। ये विन्दुजीवी होकर सिन्धुजीविता का अभिमान करते है। धर्म की वास्त-विकता पन्थो द्वारा व्याहृत हो जाती है। पन्थ से अवसरवादियो को लाभ मिलता है। मत-मतान्तरो का जन्म तथा उनमे आपसी सघर्ष पन्थवाद के हिमायती उत्पन्न करने है। समय आने पर वे हिसा पर उतर आते है, क्रोध, मान और मायाचार करते उन्हे संकोच नही होता। अधिक लोग इस विवाद में फँसे रहकर शास्त्रार्थ करते रहते है कि पूजा करते समय भगवान् को पुष्प चढाए या सूखे मेवे। इसमें विजयी होकर वे अपने आपको श्रेष्ठ मानते है। वे भगवान् की स्तुतिपदावली मे "न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ ! विवान्तवैरे।' — ऐसे वीतरागपदों का उच्चारण करतेहुए भी यदि कषायों को मन्द नही कर पाते तो कहना होगा कि उनकी पूजाविधि भी 'पन्थ' से परिचालित है। धर्म तो कहता है, भगवान् को पारिजात के पुष्पो से पूजो या फिर सूखे बादाम से, चावल से। इसमें विवाद करने की क्या बात है ? वीतराग जिनेन्द्र को तो न पारिजात चाहिए न चावल। ये तुम अपनी श्रद्धा अर्पित कर रहे हो या विवाद को जन्म दे रहे हो ? पूजक का सच्चा उपहार तो आत्मनिवेदन है। 'वन्दे तद्‌गुणलब्धये' की भावना से अपने को ऊंचा उठाने के लिए पूजार्चा करो। व्यवहार का पालन करतेहुए निश्चय को न भूलो। पन्थों के दिग्भ्रम साधनामार्ग में भटकानेवाली पगडडियां है। सच्चे मुमुक्षु को इन बालरेखाओं से बचकर उस विराट् महापथ को खोज निकालना चाहिए जिस पर तीर्थंकरों के पदचिह्न अंकित है।

अहिंसा परमधर्म का सम्यक्त्वमूलक चारित्रमार्ग ही वह महान् जनायन है जिसके दोनों ओर अनेकान्त के गन्धवन लहलहा रहे हैं। उन पर बैठेहुए द्वादशांग–वैतालिक विरुदावलि पढ़ रहे है। गणधरों के स्वलिखित पत्रों पर उस दिव्यध्वनि के अध्याय लिखेहुए है।

भगवान् को पन्थों, व्यक्तिप्रसूत व्यामोहक्रीडाओ से परे ही रखना श्रेयस्कर है। जो उपास्य है, उन्हें विनम्र भाव से श्रद्धाभक्ति निवेदन करना उपासको का धर्म है। शुद्ध धार्मिक होकर उन वीतराग चरणों की सेवा से अपने को कृतार्थ करनेवाला महान् भाग्यधनी है। निर्दोषचर्या का पालन करनेवाले साधु पन्थवाद से दूर रहते है। उनका जीवन धर्मस्वरूप होता है। वे सम्पूर्ण लोक के लिए अथवा आत्मध्यान मे स्थित होने से आत्मा के लिए हितचिन्तक होते है। 'साम्य मे सर्वभूतेषु', 'वैरं मज्झं न केनवी'—उनकी वीतरागचर्या का मार्गदर्शन करते है। निर्झरनीर के समान उनके वचनामृत को सभी पीते है और शान्ति, तृप्ति तथा शीतलता का अनुभव करते है। नदी के तटों के समान उनका हृदय विशाल होता है। कुलाचलो की ऊचाइया उनकी भावभूमियो मे समाहित होती है। ससार उनके चरणो की समीपता से क्षुद्रताओ का विसर्जन करता है और उदारता को अपनाकर विभूतिमान् होने का सत्प्रयास करता है। वे 'गुरु' होने से स्वभावत. 'लघुता' से दूर होते है। 'मुनि' होने से तत्त्वज्ञान उनकी आकृति पर उद्भासित होता है। उन सम्यक्चारित्रोपदेष्टाओ का दर्शन साक्षात धर्म के समान है।

दीक्षा-ग्रहण-विधि

दिगम्बर मुनिदीक्षा में केशो का लु चन, मुनि-अवस्था का नामकरण, नग्नत्वप्रदान तथा पिच्छिकाग्रहण – मुख्यविधि है। दीक्षित को अष्टाविंशति मूलगुणो को निष्ठापूर्वक पालन करने का व्रत लेना होता है। चतु संघ के समक्ष शुभ दिन और मुहूर्त में, स्थिर लग्न मे दिगम्बरत्व की यह दीक्षाविधि सम्पादित की जाती है। मुनिचर्या-सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य प्रकरण 'निर्ग्रन्थ मुनि' शीर्षक निबन्ध में दे दिये गये है। यहाँ दीक्षाविधि दी जारही है –

सिद्धयोगिबृहद्भक्तिपूर्वक लिगमर्प्यताम् ।
लु चाख्यानाग्न्यपिच्छात्म क्षम्यता सिद्धभक्तित.[1] ।।

अथ दीक्षाग्रहणक्रियाया सिद्धभक्तिकायोत्सर्ग करोमि 'सिद्धानुद्धूत' – इत्यादि।

अथ दीक्षाग्रहणक्रियाया योगिभक्तिकायोत्सर्ग करोमि। 'थोस्सामि गुण-धराणा'मित्यादि। 'जातिजरोरुरोग' इत्यादि वा। अनन्तर लोचकरण, नामकरण, नाग्न्यप्रदान, पिच्छप्रदान च। अथ दीक्षानिष्ठापनक्रियाया सिद्धभक्ति-कायोत्सर्ग करोमि।

दीक्षादानोत्तरकर्तव्यनिरूपणम् –

पच य महव्वयायि समिदीवो पच जिणवरुद्दिट्ठा।
पचे विदियरोहा छब्बी आवासया लोचो।।

---

१. लिग – अर्थात् मुनिमुद्रा प्रदान करने की विधि मे सिद्धभक्ति, योगभक्ति और बृहद्भक्ति का पठन करना चाहिए। सर्वप्रथम सिद्धभक्ति पढ़तेहुए विधि का शुभारम्भ किया जाता है और इसमे केशलोच, नामकरण एव आचरणीय व्रतो, गुणों का आख्यान, नग्नत्व और पिच्छिग्राहणविधिया मन्त्रपूर्वक सम्पादित की जाती है। नीतिसार में इस आशय का श्लोक है –

'अचेलत्वं शिर.कूर्चलोचोऽध: केशधारणम्।
निराभरणताऽच्छिन्नदेहता पिच्छधारणम् ।। ७५

अच्चेलकमण्हाणं खिदिसयनमदंतघंसणं चैव ।
ठितिभोयणेय भत्तं मूलगुणा अट्ठवी साधुः[1] ।। (मूलाचार, ४-५)

मुनेरष्टाविंशतिमूलगुणाः –

१. पच महाव्रतानि – अहिंसा, सत्यं, अचौर्यम्, ब्रह्मचर्यम्, अपरिग्रहश्च ।
२. पच समितयः – ईर्या-भाषैषणोत्सर्गादाननिक्षेपणाख्याः ।
३. पचेन्द्रियनिरोधः – स्पर्शरसघ्राणचक्षु श्रोत्राणि पंचेन्द्रियाणि ।
४ षडावश्यकक्रियाः – सामायिकस्तुतिवन्दनप्रतिक्रमणप्रत्याख्यान-
कायोत्सर्गा. ।

५ सप्त प्रकीर्णकानि – केशोत्पाटनम्, अचैलक्यम्, अस्नानम्, क्षितिशयनम्,
अदन्तधावनम्, स्थितिभोजनम्, एकभुक्तिश्चेति,

इत्यष्टाविंशतिमूलगुणान् निक्षिप्य दीक्षिते ।
सक्षेपेण सशीलादीन् गणी कुर्यात् प्रतिक्रमम् ।।

लोचक्रिया – लोचो द्वित्रिचतुर्मासैर्वरो मध्योऽधम. क्रमात् ।
लघुप्राग्भक्तिभि' कार्य. सोपवासप्रतिक्रम.[2] ।।

अथ लोचप्रतिष्ठापनक्रियाया सिद्धभक्तिकायोत्सर्ग करोमि । 'तवसिद्धे' इत्यादि ।

अथ लोचप्रतिष्ठापनक्रियाया योगिभक्तिकायोत्सर्ग करोमि । (अनन्तर स्वहस्तेन परहस्तेन वापि लोच कार्य ।)

अथ लोचनिष्ठापनक्रियाया सिद्धभक्तिकायोत्सर्ग करोमि । 'तव-
सिद्धे' इत्यादि । अतोऽनन्तर प्रतिक्रमण कर्तव्यम् ।

---

१ मुनि के अट्ठाईस मूलगुण मूलाचार मे इस प्रकार बताये गये हैं । पाच (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) महाव्रत, पाँच (ईर्या, भाषा, एषणा, उत्सर्ग, आदान और निक्षेपण) समितिया, पाच (त्वचा, जिह्वा, नासा, नेत्र और श्रोत्र) इन्द्रियो का निरोध, छह (सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग) आवश्यकक्रिया, केशलोच, अस्नान, भूशयन, अदन्तघर्षण, स्थितिभोजन, एकभुक्ति और अचैलक्य (ये मुनि के मूलगुण है ।) –

२ केशो की लोचक्रिया दो महीनो मे करना श्रेष्ठ है, तीन महीनो मे मध्यम है और चार महीनो से अधम है । केशलोचक्रिया लघुभक्तियों के पठनपूर्वक करनी चाहिए तथा उपवास सहित प्रतिक्रमण लेना चाहिए ।

बृहद् मुनिदीक्षाविधिः

दीक्षकः पूर्वदिने भोजनसमये भाजनादितिरस्कारविधिं विधाय आहारं गृहीत्वा चैत्यालये आगच्छेत्। ततो बृहत्प्रत्याख्यान-प्रतिष्ठापने सिद्धयोगभक्ती पठित्वा गुरुपार्श्वे सोपवासं प्रत्याख्यानं गृहीत्वा, आचार्यशान्तिसमाधिभक्तीः पठित्वा गुरुं प्रणमेत्[1]।

अथ दीक्षादिने—दीक्षादातृजनः शान्तिकगणधरवलयपूजादिकं यथाशक्ति कारयेत्। अथ दाता दीक्षाभिलाषुकं स्नानादि कारयित्वा यथायोग्यालंकार-युक्तं महामहोत्सवेन चैत्यालये समानयेत्। स च देवशास्त्रगुरूणां पूजां विधाय वैराग्यभावनापर सर्वैः सह क्षमां कृत्वा गुरो. समक्ष तिष्ठेत्। ततो गुरोरग्रे संघस्याग्रे च दीक्षायै याच्ञां कृत्वा तदाज्ञया सौभाग्यवतीस्त्रीविहितस्वस्तिकोपरि सितसिचयं प्रच्छाद्य तत्र पूर्वदिशाभिमुख. पर्यंकासन कृत्वा आसीत। गुरुश्चोत्तरा-भिमुखो भूत्वा संघ परिपृच्छ्य लोच कुर्यात्।[2] सिद्धभक्ति योगभक्ति च पठेत्। यदि पर्याप्तसमयो नाधिगम्यः स्यात् तदा निम्नांकितममुं पाठ ब्रूयात्—

'बृहद्दीक्षाया लोचस्वीकारक्रियाया पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं श्रीमद्योगभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्।' इति पठित्वा 'णमोकार' मन्त्रस्य नव वारान् जप कुर्वीत। केशलोचसमये सिद्धभक्ति च वदेत।

---

१. दीक्षार्थी दीक्षा के पूर्व दिन भोजन के समय भोज्यपात्रो का परित्याग करके पाणिसम्पुट मे ही आहार लेकर चैत्यालय मे प्रवेश करे। इसके पश्चात् बृहत्प्रत्याख्यानप्रतिष्ठापन मे सिद्धभक्ति एव योगभक्ति पढकर गुरु के समीप उपवाससहित प्रत्याख्यान ग्रहणकर पश्चात् आचार्यशान्ति-समाधिभक्ति पढकर गुरु को प्रणाम करे।

२. दीक्षाविधि के दिन दीक्षाविधि को यथाविधि सम्पन्न करानेवाले श्रावक यथाशक्ति शान्तिक एव गणधरवलय इत्यादि का पूजन करावें। इसके पश्चात् दीक्षादाता दीक्षार्थी को स्नान आदि करवाकर यथायोग्य वस्त्रालकार पहनाकर महामहोत्सव (समारोह) के साथ चैत्यालय मे ले आवे। वहाँ दीक्षार्थी देव, शास्त्र और गुरु की पूजा करके वैराग्यभाव से आपूर्यमाण होकर सर्व गृहस्थो एव स्वकुटुम्बजनो से क्षमायाचना करे एवं स्वय सबको क्षमा प्रदान करे। पश्चात् गुरु के सम्मुख आकर बैठ जाए। अनन्तर गुरु और सघ के समक्ष दीक्षा के लिए याचना करे। (अनुमति मिलने पर) गुरु की आज्ञा से सौभाग्यवती महिला द्वारा बनाये गये चावल के स्वस्तिक पर श्वेतवस्त्र डालकर (बिछाकर) पूर्वाभिमुख होकर पर्यंकासन से बैठ जाए। उस समय गुरु सघ से पूछकर (अनुमति लेकर) उत्तर की ओर अभिमुख होकर दीक्षार्थी का केशलोंच करे।

शान्तिमन्त्रः

'ॐ नमोऽर्हते भगवते प्रक्षीणाशेषकल्मषाय दिव्यतेजोमूर्तये श्रीशान्तिनाथाय सर्वविघ्नप्रणाशनाय सर्वरोगापमृत्युविनाशनाय सर्वपरकृतक्षुद्रोपद्रवविनाशनाय सर्वक्षामडामरविनाशाय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असिआउसा अमुकस्य (दीक्षाग्रहीतुः) सर्वशान्ति कुरु २ स्वाहा ।'

इत्यनेन मंत्रेण गन्धोदकादिकं वारत्रयं मन्त्रयित्वा शिरसि निक्षिपेत् । शान्तिमन्त्रेण गन्धोदक त्रि परिषिच्य मस्तकं वामपाणिना स्पर्शेत[१] ।

वर्द्धमानमन्त्रः

ॐ णमो भयवदो वड्ढमाणस्स रिसहस्सचक्क जलत गच्छई आयास लोयाण जये वा विवादे वा थभणे वा रणगणे वा रायगणे वा मोहेण वा सव्वजीव सत्ताण अपराजिदो भवदु रक्ख-रक्ख स्वाहा ।' इति वर्द्धमानमन्त्रः

ततो दध्यक्षतगोमयभस्मदूर्वाकुरान् वर्द्धमानमन्त्रेण मस्तके निक्षिपेत्[२] ।

मंत्र. – 'ॐ णमो अरहताणं रत्नत्रयपवित्रीकृतोत्तमागाय ज्योतिर्मयाय मतिश्रुतावधिमन.पर्ययकेवलज्ञानाय असिआउसा स्वाहा ।' इम मन्त्रमुच्चार्य भस्मपात्र गृहीत्वा कर्पूरमिश्रित भस्म शिरसि निक्षिप्य निम्नाकितम् मन्त्रमुदीर्य प्रथमं केशोत्पाटन कुर्यात्[३] ।

मन्त्रः — 'ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं असिआउसा स्वाहा ।' पुनः
'ॐ ह्रां अर्हद्भ्यो नमः ।
ॐ ह्रीं सिद्धेभ्यो नमः ।
ॐ ह्रूं पाठकेभ्यो नम. ।'
ॐ ह्रः सर्वसाधुभ्यो नम. ।

---

१. इस शान्तिमन्त्र का पाठ करते हुए आचार्य गन्धोदक को तीन वार अभिमन्त्रित करके दीक्षक के मस्तक पर डाले और शान्तिमन्त्र से गन्धोदक को तीन वार मस्तक पर सिंचित करने के पश्चात् दीक्षक के मस्तक का अपने बायें हाथ से स्पर्श करे ।

२ इस वर्धमान मन्त्र को पढकर आचार्य दीक्षक के मस्तक पर दधि, अक्षत, गोमयभस्म और दूर्वांकुरो को डाले ।

३. उल्लिखित मन्त्र पढकर भस्मपात्र को हाथ मे लेकर कर्पूरमिश्रित भस्म को मस्तक पर डालकर निम्नलिखित मन्त्रोच्चारण करते हुए केशलोच करे ।

इति समुच्चारयन् गुरुः स्वहस्तेन पंचवारान् केशानुत्पाटयेत् । पश्चात् निम्नांकितं पाठं पठेत्[1] ।

'बृहद्दीक्षायां लोचनिष्ठापनक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं श्रीमत्सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम् ।' इति नव वारान् महामन्त्रं जपेत्[2] ।

लघुसिद्धभक्तिः – इच्छामि भन्ते ! सिद्धभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्स लोचेउं सम्मणाण सम्मदसण सम्मचारित्तजुत्ताणं अट्ठविहकम्मविप्पमुक्काण अट्ठगुणसंपण्णाण उड्ढलोयमच्छयमि पयट्टियाण तवसिद्धाण सजमसिद्धाणं णय सिद्धाणं अतीताणागदवट्टमाणकालत्तयसिद्धाणं सव्वसिद्धाण सया णिच्च कालं अचेमि पूजेमि वंदामि णमस्सामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइ गमणं समाहिमरण जिणगुणसपत्ति होउ मज्झ । इति ।

ततः शीर्ष प्रक्षाल्य गुरुभक्ति दत्त्वा वस्त्राभरणयज्ञोपवीतादिकं परित्यज्य तत्रैवावस्थाय दीक्षां याचेत । गुरुश्च शिरसि श्रीकार लिखित्वा 'ॐ ह्रीं अर्हं असिआउसा ह्रीं स्वाहा'—इति मन्त्रस्याष्टोत्तरशत (१०८) जाप्यमादिशेत् । जपानन्तरं च गुरुः शिष्यस्याञ्जलौ केसरकर्पूरश्रीखण्डसाधितद्रव्येण श्रीकार कुर्यात् । श्रीकारस्य चतुर्दिक्षु

'रयणत्तय च वदे चउवीसजिण तहा वदे ।
पञ्च गुरूण वदे चारण जुगल तहा वदे ।'

इति पठन् पूर्वस्या ३ दक्षिणदिशि २४ पश्चिमाया ५ उत्तरस्या २ अकान् लिखित्वा 'सम्यग्दर्शनाय नम., सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः' इति पठन् तन्दुलैरजलि पूरयेत् । तदुपरि नालिकेरं पूगीफल च धृत्वा सिद्धचारित्रयोगभक्तीः पठित्वा व्रतादिकं दद्यात्[3] ।

---

१ इस प्रकार उच्चारण करते हुए गुरु अपने हाथ से दीक्षक के केशो को पाच वार उत्पाटित करे । निम्न पाठ पढे –

२ इस प्रकार नौ वार महामत्र का जाप्य करे ।

३. इसके पश्चात् दीक्षाग्रहण करने वाला अपने शिर का प्रक्षालन कर गुरुभक्ति पढ़कर वस्त्राभूषण, यज्ञोपवीत आदि का परित्यागकर वही स्थित होकर गुरु महाराज से दीक्षा के लिए प्रार्थना करे । तब आचार्य (गुरु) दीक्षक के मस्तक पर 'श्री' शब्द लिखकर 'ॐ ह्रीं अर्हं असिआउसा ह्रीं स्वाहा' मत्र का १०८ जाप्य देवें । जाप्य के पश्चात् दीक्षक की अजलि मे केसर, कपूर और श्रीखण्ड से 'श्री' लिखे और 'श्री' के चारो ओर 'रत्नत्रयं वन्दे' यह श्लोक पढ़ते हुए पूर्व मे ३ दक्षिण मे २४ पश्चिम मे ५ और उत्तर में २ अंको को लिखे । पुन 'सम्यग्दर्शनाय नमः' इत्यादि पढते हुए गुरु तन्दुलो से दीक्षा-ग्रहीता की अजलि भरदें और ऊपर नारियल, सुपारी रखकर सिद्धचारित्रयोगभक्ति पढकर व्रत आदि प्रदान करे ।

अथ सिद्धभक्तिचारित्रभक्तियोगभक्तिपाठः—

'वद समिदियं रोधो लोचो आवासयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतघवणंठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥'

'पचमहाव्रतपंचसमितिपचेन्द्रियनिरोधलोचषडावश्यकक्रियादयोऽष्टाविशति-मूलगुणा, उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि दशलाक्षणिको धर्म, अष्टादश शीलसहस्राणि, चतुरशीतिलक्षगुणास्त्रयोदशविधं चारित्र, द्वादशविध तपश्चेति सकलसम्पूर्णमर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुसाक्षिकं सम्यक्त्वपूर्वक दृढव्रत समारूढ ते मे भवतु ।' इत्यमु पाठं वारत्रयमुच्चार्य व्रतव्याख्यां शिष्याय सम्यग् विज्ञाप्य व्रतादि दद्यात् शान्तिभक्ति च पठेत् । ततश्चाधोलिखितमाशी श्लोक पठित्वा अजलिस्थतण्डुलादिक दात्रे प्रदेयम्[१] । आशी:श्लोकः —

'धर्म. सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुख धर्माय तस्मै नम. ।
धर्मान्नास्त्यपर सुहृद् भवभृता धर्मस्य मूल दया
धर्मे चित्तमह दधे प्रतिदिनं हे धर्म ! मा पालय ॥'

अथ षोडशसंस्कारारोपणम्

१. अय सम्यग्दर्शनसस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
२. अय सम्यग्ज्ञानसस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
३. अय सम्यक्चारित्रसस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
४. अय बाह्याभ्यन्तरतप सस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
५ अयं चतुरगवीर्यसस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
६ अय अष्टमातृमण्डलसस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
७. अयं शुद्धयष्टकोष्टसस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
८. अय अशेषपरीषहजयसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।

---

१ ऊपर दिये हुए 'सिद्धभक्तिचारित्रभक्तियोगभक्ति' पाठ को तीन वार पढ़कर शिष्य को व्रतो की समुचित व्याख्या समझाकर व्रत दे और शान्तिभक्ति का पाठ करें । पश्चात् आशीर्वाद श्लोक का उद्घोषकर दीक्षाग्रहीता की अजलि मे स्थित तण्डुलादि दाताश्रावक को देना चाहिए ।

९. अयं त्रियोगासंयमनिवृत्तिशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१०. अयं त्रिकरणासंयमनिवृत्तिशीलतासस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
११. अयं दशासंयमनिवृत्तिशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१२. अयं चतुःसंज्ञानिग्रहशीलतासस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१३. अयं पंचेन्द्रियजयशीलतासस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१४. अयं दशधर्मधारणशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१५. अयं अष्टादशसहस्रशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१६ अयं चतुरशीतिलक्षगुणसस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।

(इति प्रत्येकमुच्चार्य शिरसि लवगपुष्पाणि निक्षिपेत् ।) ततो वक्ष्यमाण मन्त्रेण शिरसि पुनः पुष्पाणि विकिरेत् । मन्त्रः –

'ॐ णमो अरहताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाण णमो लोए सव्वसाहूणं । ॐ परमहंसाय परमेष्ठिने हंम ह स हं ह्लां ह्ल ह्लौ ह्लं ह्लः जिनाय नम । जिन स्थापयामि स वौषट् ।'

अथ गुर्वावलिः

स्वस्ति श्रीमहावीरनिर्वाणाब्दे २४६१तमे मासानामुत्तमे मासि—पक्षे—तिथौ—वासरे मलसघे सरस्वतीगच्छे सेनगणे श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यपरम्पराया गुरुश्री—तच्छिष्यश्री—शिष्यस्य शिष्य. '   ' नामधेयस्त्वमसि ।

अथ पिच्छोपकरणप्रदानम्

ॐ णमो अरहताण । भो अन्तेवासिन् । षड्जीवनिकायरक्षणाय मार्दवसौकुमार्यरजःस्वेदाग्रहलघुत्वपंचगुणोपेतमिदं पिच्छोपकरण गृहाण २ । इति पिच्छिकादानम् ।

अथ शास्त्रदानम

ॐ णमो अरहंताणं । मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाय द्वादशांगश्रुताय नमः । भो अन्तेवासिन् ! इद ज्ञानोपकरणं गृहाण गृहाण । इति शास्त्रदानम् ।

अथ शौचोपकरणदानम्

ॐ णमो अरहंताणं । रत्नत्रयपवित्रीकरणांगाय बाह्याभ्यन्तरमलशुद्धाय नमः । भो अन्तेवासिन् ! इद शौचोपकरण गृहाण २ । इति गुरुः वामहस्तेन कमण्डलुं दद्यात् ।

लघुसमाधिभक्तिः

इच्छामि भन्ते । समाहिभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सा लोचेउं रयण-त्तयरूवपरमप्पज्झाणलक्खणं समाहिभत्तीये णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि बंदामि णमस्सामि । दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमण समाहिमरणं जिणगुणसपत्ति होउ मज्झं ।

ततो नवदीक्षितो मुनिर्गुरुभक्त्या गुरुं प्रणम्य अन्यान् मुनीन् प्रणम्योप-विशति । यावद् व्रतारोपण न भवति तावदन्ये मुनय. प्रतिवन्दनां न ददति[1] ।

ततो दातृप्रमुखा जना उत्तमफलानि अग्रे निधाय तस्मै 'नमोस्तु' इति प्रणाम कुर्वन्ति[2] ।

ततस्तस्मिन् पक्षे द्वितीयपक्षे वा सुमुहूर्ते व्रतारोपणं कुर्यात् । तदानी रत्नत्रयपूजा निर्वर्त्य पाक्षिकप्रतिक्रमणपाठ· पठनीय· । तत· पाक्षिकनियमग्रहणात् पूर्व यदा 'व्रतमिदी'त्यादि· पठ्यते तदा पूर्ववत् व्रतादि दद्यात् । नियमग्रहण-समये यथायोग्यमेक तपो दद्यात् । (पल्यविधानादिक) दातृप्रभृतिश्रावकेभ्योऽपि एकमेक तपो दद्यात् । ततोऽन्ये मुनय· प्रतिवन्दना ददति[3] ।

मुखशुद्धिमुक्तकरणविधिः

त्रयोदशसु पंचसु तिसृसु वा कच्चोलिकासु लवगैलापूगीफलादिक निक्षिप्य ताः कच्चोलिका गुरोरग्रे स्थापयेत् । 'मुखशुद्धिमुक्तकरणपाठक्रियाया'-मित्याद्युच्चार्य सिद्धयोगाचार्यशान्तिसमाधिभक्तीर्विधाय ततःपश्चात् मुखशुद्धि गृह्णीयात्[4] ।

१–२. समाधिभक्ति पढने के अनन्तर नवदीक्षाप्राप्त मुनि 'गुरुभक्ति' द्वारा गुरु को प्रणाम कर एव अन्य समुपस्थित मुनियो को प्रणाम कर बैठ जाए । जबतक व्रतों का आरोपण नही हो, तबतक अन्य मुनि उस नवदीक्षित मुनि को प्रतिवन्दन नही करें । इसके पश्चात् दाताओ मे प्रधान श्रावक उत्तमोत्तम फलो को नवदीक्षित मुनि के सम्मुख रखकर 'नमोऽस्तु' कहकर प्रणाम करे ।

३ इसके पश्चात् उसी पक्ष में अथवा द्वितीय पक्ष मे शुभ मुहूर्त मे व्रतो का आरोपण करे । उस समय 'रत्नत्रय' पूजा के अनन्तर पाक्षिक प्रतिक्रमण पाठ पढना चाहिए । पाक्षिक नियमो के ग्रहणसमय से पूर्व जब 'व्रतसमिति' इत्यादि पाठ पढा जाए, तब पूर्ववत् व्रत इत्यादि देने चाहिए । नियमग्रहण के समय यथायोग्य एक तप देना चाहिए । दाता – श्रावकों के लिए भी एक-एक तप देना चाहिए । इसके पश्चात् मुनि प्रतिवन्दन करते है ।

४. तेरह, पाच अथवा तीन कटोरियो मे लवंग, एला, सुपारी आदि रखकर उन्हें गुरु के सम्मुख रखे । नवदीक्षित मुनि महाराज 'मुखशुद्धिमुक्तकरणपाठक्रियायाम्' इत्यादि पाठ का उच्चारण करतेहुए सिद्ध-योग-आचार्य-शान्ति-समाधिभक्ति पढकर पश्चात मुखशुद्धि ग्रहण करें ।

अथ क्षुल्लकदीक्षाविधिः

अथ लघुदीक्षायां सिद्धयोगशान्तिसमाधिभक्तीः पठेत्। तत्र 'ॐ ह्रीं श्री क्ली ऐं अर्हं नमः' इत्यनेन मन्त्रेण एकविंशतिवारान् अष्टोत्तरशतवारान् वा जाप्य दीयते।

अन्यच्च विस्तरेण लघुदीक्षाविधिः

अथ लघुदीक्षाग्रहीता (ग्रहीत्री वा) दातार संस्थापयति। ततो दाता यथायोग्यमलंकृतं कृत्वा चैत्यालये समानयेत्। देव वन्दित्वा सर्वे सह क्षमाविधि समाप्य गुरोः समक्ष दीक्षा याचित्वा तदाज्ञया सौभाग्यवतीस्त्रीविरचितस्वस्तिकोपरि श्वेतवस्त्रं प्रच्छाद्य तत्र पूर्वाभिमुखः पर्यंकासनो गुरुश्चोत्तराभिमुख सघं परिपृच्छ्य लोचं कुर्यात्। 'ॐ नमोऽर्हते भगवते प्रक्षीणाशेषकल्मषाय दिव्यतेजोमूर्तये शान्तिकराय सर्वविघ्नप्रणाशनाय सर्वरोगापमृत्युविनाशनाय सर्वपरकृतक्षुद्रोपद्रवविनाशनाय सर्वक्षामडामरविनाशनाय ॐ ह्रा ह्री ह्रू ह्रौं ह्र असिआउसा अमुकस्य सर्वशान्ति कुरु २ स्वाहा' अनेन मन्त्रेण गन्धोदकादिक त्रिवारं शिरसि निषिचेत्। शान्तिमत्रेण गन्धोदकं त्रि. परिषिच्य वामहस्तेन मस्तक स्पृशेत्। ततो दध्यक्षतगोमयभस्मदूर्वांकुरान् मस्तके वर्द्धमानमत्रेण निक्षिपेत्। 'ॐ णमो भयवदो वड्ढमाणस्से'त्यादि वर्द्धमानमन्त्रः पूर्व लिखित। लोचादिविधि महाव्रत च निर्वर्त्य, प्रदाय सिद्धभक्ति योगभक्ति च पठित्वा व्रत दद्यात्।

तत. – दसणवयमामाइयपोसहमच्चित्तरायभत्तेय।
बभारभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे॥
– (गोम्मटसार, ४७७)

इत्यादि वारत्रय पठित्वा व्याख्याय गुर्वर्वालि पठेत्। ततः सयमाद्युपकरणानि दद्यात्।

ॐ णमो अरहताणं। भो क्षुल्लक! (क्षुल्लिके! वा) षड्जीवनिकायरक्षणाय मार्दवादिगुणोपेतमिद पिच्छोपकरण गृहाण २ इत्यादि पूर्ववत् ज्ञानोपकरण शौचोपकरण च मत्रपूर्वकं दद्यात्।

इति लघुदीक्षाविधान समाप्तम्

दीक्षानक्षत्राणि

प्रणम्य शिरसा वीरं जिनेन्द्रममलव्रतम् ।
दीक्षा-ऋक्षाणि वक्ष्यन्ते सतां शुभफलाप्तये ॥१॥

भरण्युत्तरफाल्गुन्यौ मघाचित्राविशाखिकाः ।
पूर्वाभाद्रपदाभानि रेवती मुनिदीक्षणे ॥२॥

रोहिणी चोत्तराषाढा उत्तराभाद्रपत्तथा ।
स्वाति. कृत्तिकया सार्धं वर्ज्यते मुनिदीक्षणे ॥३॥

अश्विनीपूर्वफाल्गुन्यौ हस्तस्वात्यनुराधिकाः ।
मूल तथोत्तराषाढा श्रवण· शतभिषा तथा ॥४॥

उत्तराभाद्रपच्चापि दशेति विशदाशया· ।
आर्यिकाणा व्रते योग्यान्युशन्ति शुभहेतवे ॥५॥

भरण्या कृत्तिकायां च पुष्ये श्लेषार्द्रयोस्तथा ।
पुनर्वसौ च नो दद्युरार्यिकाव्रतमुत्तमाः ॥६॥

पूर्वाभाद्रपदा मूल धनिष्ठा च विशाखिका ।
श्रवणश्चैषु दीक्ष्यन्ते क्षुल्लका. शल्यवर्जिता· ॥७॥

इतिदीक्षानक्षत्रपटलम

दीक्षा क्यों ?

ससार में सामान्य और विशेष दो श्रेणीविभाग सदा से है। सामान्य जातिपरक और विशेष व्यक्तिबोधक है। जो छात्र विश्वविद्यालयो से उत्तीर्णता का प्रमाणपत्र पा लेते हैं वे शिक्षाक्षेत्र में प्रमाणपत्र न पानेवालों से विशेष हो जाते है। यह प्रक्रिया उत्तम और अवर की विभाजक रेखा है। मन्दिरो मे देवप्रतिमा के समक्ष जो भक्ति, विनय, श्रद्धा, स्तुति–आराधन किया जाता है वह सामान्य तद्रूप आपणिक मूर्तियों का नही किया जाता। क्योंकि मन्दिर की प्रतिमा का शास्त्रविधि से सस्कार किया गया है और मंत्रों की अनन्त शक्ति से उसकी प्रतिष्ठा हुई है। दीक्षा भी सामान्य व्यक्तिस्तर से ऊपर को उठाने मे शास्त्रद्वारा विहित है। जब दीक्षा ग्रहण करने केलिए किसी के हृदय में प्रेरणा उठती है वह भव्यात्मा दीक्षायोग्य बनने का सतत यत्न करता है। अपने आप को आत्मनिरीक्षण से

वैराग्यमय जानकर वह योग्य गुरुमहाराज के समक्ष दीक्षाप्रार्थी होता है। जब परीक्षण में उत्तीर्ण होकर वह दीक्षाविधिसे त्यागी बनता है, तब उसे तीन प्रामाणिक अनुमोदन मिलते है। शास्त्रानुमोदन, परम्परानुमोदन और लोकानुमोदन। शास्त्र उस स्थिति के विरागी व्यक्ति को त्यागी होने के लिए स्वीकृति देते है और दीक्षाविधि द्वारा परम्परानुसार उसे सघ के समक्ष दिगम्बरत्व दिया जाता है। इन विधियो के पश्चात् लोक उसे अपना गुरु स्वीकारता है और सामान्य जनो से विशिष्ट उसकी मान्यता, मर्यादा और अभिनन्दनीयता लोकप्रचलित होती है। इसीलिए स्वभावतः पवित्र आचरणशील व्यक्ति ही दीक्षा लेते हैं। यद्यपि दीक्षा लेने से पूर्व भी वे साधुचरित होते है, तभी तो उन्हे उस मार्ग की स्वीकृति मिलती है, तथापि लोक में शास्त्र ने जिस व्यावहारिक पद्धति का पालन बताया है, उसके पालने से सस्कृति की सहस्रो वर्षो से चली आई परम्परा के साथ उनका तादात्म्य स्थापित हो जाता है। 'मुद्रा मर्वत्र मान्या स्यात् निर्मुद्रो नैव मन्यते' यह लोकप्रसिद्ध है। यह 'मुद्रा' परम्परानुसारी शास्त्रपद्धति से ही प्राप्त हो सकती है। यदि यह बन्धन न रखा जाए तो कोई भी स्वच्छन्दता से दिगम्बर वेष धारण कर इसकी मूल मर्यादाओ के साथ स्वैर व्यवहार कर सकता है। अतः विधि द्वारा ग्रहण किया हुआ दिगम्बरत्व इस बात का प्रमाण है कि वह जिनेन्द्र भगवान् के मूल धर्म का अनुगामी है, उन शास्त्रबन्धनो से नियन्त्रित है।

सल्लेखना

इस ससार मे जन्मजयन्तिया मनाने की प्रथा है। कासे बजाकर नवजात शिशु का स्वागत किया जाता है और प्रतिवर्ष उस जन्मदिन का समारोह आयोजित किया जाता है। क्योकि सभी जीवन को प्यार करते है। प्रत्येक प्राणी अधिक से अधिक जीवित रहना चाहता है। 'शत जीव' कहकर वृद्धजन आशीर्वाद देते है। साधारण रोग होने पर तुरन्त उपचार—व्यवस्था की जाती है। अधिक विस्तार से क्या ? ससार के सारे व्यापार जीने के लिए है। औषधियो, रस-रसायनो का सेवन जीवन के लिए है। आमोद-प्रमोद के साधन जीवन को सुखमय बनाने के लिए है। नगर, गली, बाजार और घर जीवन के विचरण-स्थान है। मनोरजन के, प्रसाधन के तथा भोगोपभोगो के अनेक उपादान जीवन के लिए है। जीवित व्यक्ति अपने विलास के लिए नाना सुखसुविधापूर्ण आविष्कारो का निर्माण करता है और उनमे रमण करता है। मृत्यु को जीवन का आवश्यक परिणाम जानकर भी वह इससे सदा दूर रहने की चेष्टा करता है और अपनी कोशिशो से मन को मिथ्या—आश्वासन देता रहता है कि 'मै कभी नही मरूगा'। परन्तु खिलाहुआ पुष्प और पकाहुआ फल डालपर लगे नही रह सकते। सूर्य भी अस्तगमन से विमुख नही हो पाता और चन्द्रमा को भी अमावस्या के कालमुख मे विलीन होना पडता है। जन्म और मृत्युरूप कालचक्र से बचना असम्भव है। 'जातस्य हि ध्रुवा मृत्यु'—उत्पन्न होने वाले की मृत्यु निश्चित है। कोई धनिक इतनी भारी रिश्वत नही दे सका, जिससे मृत्यु से बच निकला हो। दण्डधर यमराज का न्याय अटल है। जिसके विषय मे कबीर ने कहा है—

'माली आवत देख करि कलिया करी पुकार।
फूले-फूले चुन लिये काल्हि हमारी बार॥'—

आयु कर्म शेष होने पर एक क्षण के लिए भी जीवित रहना अशक्य है। आधा श्वास भी अधिक नही मिल सकता। कोई औषधि, कोई मूल्य (शुल्क) इसके प्रतिदान में नही लिया जा सकता। प्रकृति के इसी नियम ने धनिको, शूर-वीरो, सम्राटो तथा सामान्य-विशेष सभी का दर्पदलन किया है। 'आसपास जोधा

खड़े बहुरि बजावें गाल। मंभ महल से ले चला ऐसा काल कराल।' किसी बड़े शासक की मृत्यु हो रही थी। बड़े २ युद्धवीर, चिकित्सक डींग मार रहे थे। कालसे लड़नेवाले योद्धा स्वामिभक्ति प्रदर्शित करते हुए कह रहे थे—हमारे रहते काल नही ले जा सकता। चिकित्सक कहते थे – महाराज ! यह संजीवनी है। किन्तु राजा को देखते २ काल हरण कर ले गया। काल से कोई नही लड़ सकता और अकेला काल सम्पूर्ण जीवधारियो से अनादिकाल से लड़ रहा है। कालको परास्त करने के लिए किये गये सभी उपाय निरर्थक हुए हैं। भर्तृहरिने काल की इसी दुर्वार सत्ता को श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक प्रकरण से बांधतेहुए लिखा है – जिस की पूर्ण सम्भावना थी वह दूर हो रहा है और जिसको सोचा नही था वह पास आ गया है। अहो ! प्रात काल तो मैं नृपचक्रवर्ती होने वाला था किन्तु जटा बांध-कर वनगमन कर रहा हूं[1]। काल का यह कटाक्ष कितना विलक्षण और क्रूर है। सच है, 'काल अघटित को घटित करता है और अच्छी प्रकार जिसके होने की निश्चयता है उसे जर्जर कर देता है। विधि (काल) उन घटनाओ को चरितार्थ कर दिखाता है जिनकी मनुष्य ने कल्पना भी नही की हो।' अहो ! 'बड़ा विकट यमघाट' यम का घाट बड़ा विकट है। यहाँ सभी को आना पड़ता है। काल (आयु) समाप्ति पर काल (मृत्यु) अवश्य आ पहुँचता है। 'रज्जुच्छेदे के घट धारयन्ति'—बीच कुएँ मे जब रस्सी टूट गई तो उस घडे को कौन थाम सकता है ? मरने वाले के श्वाससूत्रो को यमराज झटककर तोड़ देता है। जो लोग जन्मवेला पर कासे बजाना ही जानते है उन्हे इस मरणवेला पर बजाने के लिए कोई वाद्य नही मिलता। मृत्यु की कल्पनामात्र से भयभीत होने वाले उसे प्रत्यक्ष उपस्थित जानकर विकल हो जाते है। मरने से पूर्व ही मर जाते हैं और छाती कूट २ कर रोने लगते है। इस ससार के सुखों की स्मृति उन्हें बेचैन कर देती है। काश, 'मैं कुछ और जी लेता' यह भावना उनका साथ नही छोड़ती। मृत्युशय्या को घेरकर खडेहुए स्वजनो में उसका मन झाड़ी के कांटो में उलझे अचल के समान अटक २ जाता है। वह सोचता है, डॉक्टर का इजेक्शन, वैद्यराज की औषधि मुझे नीरोग कर देगी ! परन्तु लोक में जन्ममरण के निश्चित क्रम को देखतेहुए उसकी अन्त-रात्मा कहती है। मूर्ख ! क्यो अपने को भुलावा देता है ? क्या करेंगे ये वैद्य और

---

१ 'यच्चिन्तित तदिह दूरतर प्रयाति यच्चेतसापि न कृत तदिहाभ्युपैति।
प्रातर्भवामि वसुधाधिपचक्रवर्ती सोऽहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी॥'–

डॉक्टर ! डरने से कोई मृत्यु को टाल सका है ? मृत्यु से बचने का उपाय तो एक ही है कि जन्म ही न हो। जब जन्म नहीं होगा तो मृत्यु किसकी[1] ?

नित्य मरने और जन्म लेनेवाले संसारी इस बात से चौंक उठते हैं कि क्या जन्म लेना और न लेना अपने वश में है ? अध्यात्मशास्त्रों का कथन है कि 'हाँ ! जन्म न लेना अपने वश में है।' सम्पूर्ण जैनशास्त्र इसी अपुनर्भव के निरूपण से ओतप्रोत है। वह आत्मदर्शन द्वारा संसार के अस्थिर भोगो के त्याग की शिक्षा देता है और शाश्वत परमात्मपद के मार्ग को बताता है। उस मार्ग से प्राणी मृत्यु को जीतकर मोक्षगामी बनता है। 'मृत्यु' का व्याकरणशास्त्र में अर्थ है—प्राणों का त्याग और मोक्ष का अर्थ है—मुक्ति। 'प्राणत्याग' शब्द में शरीर से प्राणो के अलग होने की ध्वनि है और मुक्ति मे छुटकारे का भाव व्यक्त होता है। अतः प्राण-वियोगवाचक मृत्यु का परिणाम पुनर्जन्म और पुनर्जन्म का अन्त पुनर्मृत्यु है। यह पुनर्जन्म का चक्र मोक्ष होने से पूर्वतक चलता रहता है। भगवान् जिनेन्द्र की वाणी पर सम्यक् आचरण करने से आवागमन का अन्त हो जाता है। शरीर-रूप से वह मृत्यु अन्तिम मृत्यु होती है और उसे मृत्यु न कहकर मुक्ति कहना अधिक उपयुक्त है। मैं शरीर नही हू, आत्मा हू' — यह तत्त्वार्थसन्धान से जानकर, कर्मक्षय कर जो 'समाधिमरण' लेता है, वह जन्ममृत्युपाश से मुक्त हो जाता है। यमराज के मृत्युपाश को वही काट सकता है। आगम की भाषा में इस समाधि-मरण को 'सल्लेखना' कहते है। 'भाव-सग्रह' की उक्ति है कि जब शरीररूप परपदार्थ को त्यागने की इच्छा से जीव आत्मनिष्ठ होकर मित्रो, पत्नी-पुत्रो, धन-वैभव, भौतिक सुखादि से मोह छोडकर पचपद (णमोकार) स्मरण करतेहुए मरणव्रत लेता है, महामुनियो ने उसे 'सल्लेखना' कहा है[2]।

नामान्तर से इसे 'स्वेच्छामृत्यु' कह सकते है। जब पूर्ण वीतरागता का चरम उदय हो और शरीररूप परपदार्थ से भी बन्धन की अनुभूति होने लगे, तब निर्ग्रन्थ मुनि और त्यागीजन 'सल्लेखना' द्वारा ससार के बन्धनसूत्र को सदा के लिए तोड देते है। किसी मराठी कवि ने कहा है—'माझे मरण पाही एलेडोला, तो झाला सोहला अनुपम्य।' अहो ! मैंने अपनी आँखों से अपनी मृत्यु को देख

---

१. 'मृत्योर्बिभेषि कि मूढ ! न म भीत विमुचति।
अजात नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि ॥' —

२. 'मित्रे कलत्रे विभवे तनुजे सौख्ये गृहे यत्र विहाय मोहम्।
सस्मर्यते पचपद स्वचित्ते सल्लेखना साऽभिहिता मुनीन्द्रै ॥'—भावसग्रह

लिया। यह अनुपम महोत्सव है। ऐसे मृत्युमुक्त मोक्षगामी मरने के समय भी वाद्य बजाने जैसे उत्सवों की रचना कर देते है। जन्मवेला पर जो वाद्य बजाये जाते हैं वे तो बजानेवालों की प्रसन्नता के द्योतक हैं परन्तु समाधिमरण लेनेवाला तो अपने ऐहिक त्याग तपोमय जीवन के अन्तिम सन्ध्याकाल में, अपने आचरणों का इतना विमल लोकमंगलकारी कृतित्व सम्मुख रख देता है कि कांसों की ध्वनि सार्थक हो जाती है। अपनी मृत्यु को आमंत्रित करना, उसे देखपाना असाधारण बात है। लोग केवल जीवन को देखते है और जैसे कबूतर अपने पर झपटनेवाली बिल्ली के आक्रमण को नही देखने के लिए आँखे मूँद लेता है, उसी प्रकार मृत्यु से आँख मूँदे रहते हैं। किन्तु क्या बिल्ली आँख मूँदनेवाले कपोत को छोड़ देती है? अथवा क्या यमराज मृत्यु को याद न करने वालो को याद करना भूल जाता है? अतः वीर के सेवक मृत्यु को वीरता से चुनौती देते हैं। वाह! उन्हे मृत्यु से कोई भय नही। स्वय मृत्यु उनका स्पर्श करतेहुए भयत्रस्त होती है। मृत्यु ससारियो को भले त्रस्त करे, परन्तु श्रमण मुनियो को उसी मे अपने जीवनभर की त्याग, तपस्या फलीभूत प्रतीत होती है।

'सल्लेखना' वीतरागता की कसौटी है। वह, मुनिधर्म सिहवृत्ति है, इसकी घोषणा है। इस पथ को दुर्बल पार नही कर सकते। जिन्होने मदन के मद को गलित किया, परिग्रहों के बहुरगी प्रलोभनो पर पॉव रक्खा, अब्रह्मको आजन्म चुनौती दी और पाणिपात्र भिक्षाशी होकर आत्मचिन्तन को सर्वोपरि माना, वे ही अनासक्तियोग के पालन करने वाले समाधिमरणव्रत लेते है। विषयकीट, इन्द्रियदास, परिग्रहो को परलोक तक साथ ले जाने की कल्पना करने वाले तो फूल की चोट से भी मुरझा जाते है। संसार की असारता तथा नाशवत्ता को प० दौलतरामजी ने बहुत सशक्त तथा सीधे शब्दो मे व्यक्त करते हुए लिखा है—'सुर, असुर, खगाधिप जेते मृग ज्यो हरि काल दले ते। मणि, मंत्र, तत्र वहु होई मरते न बचावे कोई।' इस अशरण भावना को सदैव मनःप्रदेश पर अकित रखने वाला मोहपंक में नही फँसता। श्रमण मुनि इस अशरण भावना को सदा समक्ष रखते है। जब तक उनका धर्मध्यान, गुणपालन, महाव्रतो का सरक्षण निर्विघ्न होता है, वे मुनिव्रत पालन करते है और जिस क्षण उन्हे यह प्रतीति हो जाती है कि अब शरीर असाध्यरोगो से घिर गया है तब वे सल्लेखना लेकर शरीर छोड़ देते है। आचार्य समन्तभद्र के वचन है कि 'उपसर्ग होने पर, अकाल पड़ने पर,

वृद्धावस्था में, अप्रतीकार्य रोगस्थिति में धर्मरक्षा करते हुए शरीर छोड़ने को आर्यों ने 'सल्लेखना' नाम दिया है[1]।

'सल्लेखना' के आध्यात्मिक रूप से अपरिचित लोग इसमें 'आत्महत्या' जैसे जघन्य अपशब्द की सम्भावना करते है। ऐसा मानने में उन आत्मवंचितों का उतना दोष नही, जितना उनके स्थूल जीवनदर्शन का। आत्मवादियों का जीवन-दर्शन तपोमय है और व्रत, उपवास, संयम-नियम उसके मुख्य अग हैं। किन्तु जो संसार में केवल आहार, विहार के लिए ही जीवित है उनकी दृष्टि में नश्वर उपादानों से घोर प्रीति रखना ही प्रशसनीय है। वे नखाग्र की चोट लगने पर कराह उठते है और छोटी-मोटी दुर्घटना हो जाए तब तो सगे-सम्बन्धियों तक तार-टेलीफोन भी पहुच जाते है। उनका ससार भयस्थान है। उन्हे दिनभर में सैकडो भयप्रसग उपस्थित होते हैं और इतने ही शोक के स्थान भी। परन्तु तत्त्वविमर्शक विवेकी इनसे परे रहता है। सात प्रकार के भयों से रहित होने के कारण उन्हे सम्यग्-दृष्टि कहा जाता है। इहलोक, परलोक, आकस्मिक, अनुरक्षा, वेदना, मरण और अगुप्ति ये सात भय मनुष्य के पीछे लगे हुए है। मरणभय तो सर्वोपरि है। अतः जो त्यागी शरीर का त्याग करना चाहता है, उसके उदात्त आत्मिक मर्म को साधारण मृत्युभीत जान भी नही सकते। खूंटे गाड़कर खेमे लगाने की आदत यायावरो को नही होती। क्योंकि गडेहुए खूंटे देशस्थिति बन्ध का मोह उत्पन्न कर देते है। सराय छोड़ते यात्री को, डाल छोडती चिडिया को, पतझर मे वृक्ष से अलग होते पत्तों को वियोग की अनुभूति नही होती। सूर्य को पूर्व-पश्चिम से कोई राग-विराग नही होता। वीतराग मुनि भी मोह-मूर्च्छा के परिवारो मे दूर का सम्बन्ध भी नही रखते। वे ससार में सभी बन्धनो को छोड़ चुके होते है और अन्तिम बन्धन 'शरीर' को छोडने के लिए 'समाधिमरण व्रत' लेते है। यह व्रत परम वैराग्यधारी तपस्वियो को शोभा देने वाला है। जैसे रेंहटकूप के पात्र पर्याय से रिक्त होते और भरते रहते है उसी प्रकार यह जीव कर्मकूप में डूबता और रिक्त होता रहता है। त्यागी इस शृंखला को वैराग्य के खड्ग से काट देते है। तथा स्वय मृत्यु के डोले पर सवार हो जाते है। दार्शनिको ने इस का बडा हृदयग्राही वर्णन उपस्थित किया है। जैसे कोई वधू डोले पर बैठकर श्वसुराल जा रही हो, ऐसे मुक्त होते हुए आत्मा का निरूपण किया है। वे कहते है—' सजनि ! डोले

---

१. 'उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजाया च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः' – आ० समन्तभद्र

पर हो जा सवार। लेने आ पहुँचे हैं कहार।' यहाँ आत्मा को सजनी, अरथी को डोला, और मृत्यु को 'कहार' कहकर परिणीता वधू की श्वसुरगृह यात्रा का आनन्द मरण के साथ तन्मय कर दिया है। वस्तुतः जिन्होंने कर्मबन्ध परिणाम के साथ स्कन्ध होतेहुए जीवन को जान लिया है, उन्हें मोहान्धकार की घुटन में जीवन बिताना क्योंकर पसन्द आ सकता है ? वीतराग मुनियों की चर्या दिगम्बरत्व से आरम्भ होती है और समाधिमरण में पर्यवसित होकर ही पूर्णता को प्राप्त करती है। साधु विधिपूर्वक मरणान्तक सल्लेखना करने का निश्चय रखते हैं[1]। ऐसे इस वीर-मरण को आत्मघात कहने वाले हत्या और स्वेच्छामृत्यु के अर्थभेद से अपरिचित नहीं तो क्या हैं ? आत्महत्या वह करता है जो परिस्थिति से पीडित है, उद्विग्न है, जीवन के लिए वाञ्छित संघर्ष करने की क्षमता नही रखता है। अथवा कलहप्रवृत्त है, किसी लोक निन्दासे अभिभूत है। ऐसा व्यक्ति कूए में कूदकर, पहाड से गिरकर, फाँसी लगाकर, विषप्रयोगद्वारा अथवा किसी शस्त्र से स्वय आघात खाकर अपने जीवन को समाप्त करता है। किन्तु समाधिमरण में प्रवृत्त व्यक्ति इन दुष्ट-दोषो से कातर होकर मरणव्रत नही लेता। वह प्रसन्नता-पूर्वक कर्मजाल को तोड़ने के लिए, आत्मा की मुक्ति-अवस्था पाने के लिए तथा अविनश्वर आनन्द-समुद्र में निमग्न होने के लिए निश्चयपूर्वक शरीरत्याग की घोषणा करता है। वह किसी के ऋण से त्रस्त होकर, कलह मे प्रवृत्त होकर अथवा किसी भी राग-द्वेष से उद्विग्न-आकुल होकर मरणप्रवृत्त नही होता। न वह शस्त्र-च्छेद करता है न विषपान। आत्महत्या करनेवाला शान्तिपूर्ण मरणयोजना नहीं बना सकता। वह तो आवेश मे ऐसी मन.स्थिति में होता है कि तुरन्त मर जाना चाहता है। ऊंचाई से कूदना या कपड़ो में आग लगा लेना इस अविवेक-कारिता के लक्षण है। यदि उसे कुछ समय मृत्युनिश्चय से रोक लिया जाए तो वह शान्तचित्त होने पर आत्महत्या के उपाय नही अपना सकता। किन्तु समाधि से देहत्याग करनेवाला तो शान्तचित्त से ही उस व्रत का आरम्भ करता है। आत्म-वध करनेवाले का आत्मबल क्षीण होता है और समाधिमरणवाले का आत्मबल बढ़ा हुआ। आत्महत्या के समय कषाय वढ़ेहुए होते है और समाधि के समय मन्द, क्षीण। कभी २ यौनसम्बन्धो को लेकर, वासना से प्रेरित होकर लोगो को आत्महत्या करते सुना है। परन्तु समाधिमरण में सांसारिक विषयों का लेश भी

१· 'सल्लेखनां करिष्येऽहं विधिना मरणान्तिकीम्।
अवश्यमित्यदः शीलं संनिदध्यात् सदा हृदि ॥'—

शेष नहीं होता। संक्षेप में, यह कि आत्मघाती अपने लिए नरकायु का बन्ध करता है और समाधिव्रती के सभी शुभाशुभ बन्धन नष्ट हो जाते है। आत्महत्या में किसी न किसी के प्रति मरनेवाले का आक्रोश होता है और वीरमरण अंगीकार करनेवाले का मन सबके प्रति क्षमाभाव से ओतप्रोत तथा आत्मलीन रहता है। समाधिमृत्युको अगीकार करनेवाला पढता है – 'रागद्वेषमोहरहितोऽहम्' इत्यादि। श्रीमाघनन्दी आचार्य के द्वारा विरचित ध्यानसूत्रों का एक-एक पद वीतरागभाव को बढाकर देहमोह का नाश करनेवाला है। समाधिमरण के समय दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप, इन चार आराधनाओ को सुनाने का विधान है। दर्शन-आराधना से उसे बताया जाता है कि सारे कर्मबन्ध असम्यग्दर्शन से उत्पन्न होते हैं। देह को आत्मा मानना भी असम्यग्दर्शन है। वास्तव में तो चना और चने का छिलका पृथक् २ है। परपदार्थ में रति असम्यग्दर्शन से होती है। ज्ञानाराधना से मोहनीय कर्मों का क्षय किया जाता है। ज्ञान आत्मा का महत्त्वपूर्ण गुण है। उसीसे समस्त लोक, अलोक उद्भासित होते हैं। केवलज्ञान आत्माके परम विशुद्ध स्वरूप मे स्फुरित होता है। आत्मज्ञान के बिना मोक्ष अप्राप्य है। आत्मा के इस ज्ञानगुण का चिन्तन करने से पुनर्जन्म पर विजय प्राप्त होती है। इसी प्रकार चारित्राराधना से समाधिमरण प्राप्त करनेवाले को बार-बार समझाया जाता है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का प्रयोगक्षेत्र सम्यक्चारित्र है। आत्मा की विशुद्धि चारित्र से होती है। चारित्रपालन किये विना दर्शन तथा ज्ञान की बाते करते रहने से कृतार्थता नही मिलती। सयम का शास्त्रीय ज्ञान ही अपेक्षित नही, उसका व्यावहारिक आचरण प्रयोजनीय है। पच महाव्रत, पंच समिति और तीन गुप्ति चारित्र के ही भेद है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से जीवन में तप का आविर्भाव होता है। जैसे सूखीहुई समिधाओं से यज्ञाग्नि को प्रज्वलित किया जाता है वैसे त्रिरत्न द्वारा तपोमय जीवन को उज्ज्वल किया जाता है। बहिरंग तथा अंतरग तपो से अग्नितप्त काचन के समान आत्मशुद्धि होकर दिव्यता की प्राप्ति होती है। ध्यान, सामायिक, उपवास, प्रायश्चित्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, विनय इत्यादि तपो से परिणामों में अकथनीय विशुद्धि प्राप्त होती है। इन चारो आराधनाओं से आत्मस्थिति शान्त तथा ध्यानमग्न रहती है। ससार के किसी पदार्थ में आसक्ति नहीं हो पाती। यदि 'सल्लेखना' के समय किसी प्रकार की लोकवासना अथवा तपोभंग-विचारणा उत्पन्न होती है तो व्रती को उस दुर्विकल्पचिन्तन का शोचनीय परिणाम भुगतना होता है। क्योकि 'यथा मतिस्तथा गतिः' – जैसी मति

वैसी गति। 'मदनपराजय' में लिखा है कि मृत्युसमय के परिणाम दूसरे भव में भी साथ जाते हैं। 'हेमसेन' पकेहुए कर्कटीफल में कीड़ा हुआ और 'जिनदत्त' अपनी स्त्री के प्रति आर्तरौद्र करने से मेंढकगति को प्राप्त हुआ[1]। अतः यह समय पूर्ण आत्मनिष्ठता से यापन करने योग्य है। जीवनभर का सचित पुण्य, तप, चारित्र इस समय के अल्प प्रमाद से व्याहत हो सकता है। स्वस्थ तथा धीर चित्त से समाधिमरण अनन्तवार जन्म-मृत्यु के कष्टो से मुक्ति दिलाने में समर्थ है।

निराकुलभाव से 'समाधिमरण' को पूर्ण करना जीवन की सम्पूर्ण सचित साधनाओ को सफल बनाना है। मुनित्व को यदि सूर्य से उपमा दी जाए तो दीक्षाग्रहण उसका उषाकाल है, सम्यक्चारित्रपालन तपोमय मध्याह्नवेला है और सल्लेखना सन्ध्या है। जैसे सूर्य का बिम्ब उषाकाल मे प्रसन्न-अरुण होता है वैसा ही सन्ध्यासमय मे भी होता है। जीवन और मरणदशाओ में साम्यबुद्धि रखना मुनियों का आभूषण है। जैसे वर्ष भर पूर्ण परिश्रम करनेवाला छात्र वार्षिक परीक्षा में अच्छे अक लेकर उत्तीर्ण होता है वैसे जीवन में मुनिव्रतों का अप्रमत्त पालन करनेवाले को 'समाधि' परीक्षा में विचलित होने की आवश्यकता नहीं होती। वह सहज भाव से उसको उत्तीर्ण कर जाता है।

'समाधिमरण' व्रतो की रक्षा के प्रति सावधान रहने की प्रतिज्ञा का निर्वाह है। जो व्रत भग करके जीवित रहता है, उसका जीवन क्या अनन्तकाल तक के लिए सुरक्षित होता है ? मृत्यु उसे भी आकर पूछ लेती है। तब, व्रतो की पालना करते हुए ऊर्ध्वगति को प्राप्त करना सर्वोत्तम पक्ष है। शाश्वत धर्मपालन को नश्वर देह के लिए नष्ट नही करना चाहिए। क्योकि देह तो फिर मिल सकता है, धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है[2]।

'समाधिमरण' ग्रहण करनेवाले को चेतना के अन्तिम क्षण तक स्वरूप-स्थिति एव परिणामविशुद्धि के लिए निम्नलिखित 'समाधिसप्तदशी' का अर्थपूर्वक मनन करना चाहिए।

---

१. 'मरणे या मतिर्यस्य सा गतिर्भवति ध्रुवम्।
यथाऽभूद्धेमसेनाख्य पक्वे चिर्भटके कृमि ॥
मरणे या मतिर्यस्य सा गतिर्भवति ध्रुवम्।
यथाऽभूज्जिनदत्ताख्यः स्वाङ्गनार्तेन दर्दुरः ॥' – मदनपराजय

२. 'नावश्य नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः।
देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभ ॥' – सागार० ७।८

'मृत्युमार्गे प्रवृत्तस्य वीतरागो ददातु मे ।
समाधिबोधिपाथेयं यावन् मुक्तिपुरी पुरः'[१] ॥१॥

कृमिजालशताकीर्णे जर्जरे देहपंजरे ।
भज्यमाने न भेतव्य यतस्त्व ज्ञानविग्रहः[२] ॥२॥

ज्ञानिन् ! भय भवेत् कस्मात् प्राप्ते मृत्युमहोत्सवे ।
स्वरूपस्थः पुर याति देही देहान्तर-स्थितिः[३] ॥३॥

सुदत्त प्राप्यते यस्माद् दृश्यते पूर्वसत्तमैः ।
भुज्यते स्वर्भवं सौख्यं मृत्योर्भीतिः कुतः सताम्[४] ॥४॥

आगर्भाद् दुःखसन्तप्तः प्रक्षिप्तो देहपजरे ।
नात्मा विमुच्यतेऽन्येन मृत्युभूमिपति विना[५] ॥५॥

सर्वदुःखप्रद पिण्ड दूरीकृत्यात्मदर्शिभिः ।
मृत्युमित्रप्रसादेन प्राप्यन्ते सुखसम्पद.[६] ॥६॥

---

१. मैं (समाधिमरणद्वारा) मृत्यु मे प्रवृत्त हुआ हूँ । इस मार्ग को निरन्तराय पार कर सकू , इसके लिए भगवान् वीतरागदेव समाधि (स्वरूप के चिन्तन मे योगपूर्ण स्थिति) तथा बोधि (रत्नत्रयलाभ) एव परलोकपथ मे उपकारकपाथेय प्रदान करे जिससे मैं मुक्तिपुरी को पहुँच सकूं ।

२ हे आत्मन् ! शत २ कृमियो से भरा हुआ, जर्जर शरीररूप यह पिजरा टूट रहा है, इस पर तुम भयभीत न हो । क्योकि तुम ज्ञानशरीरधारी हो । यह पौद्गलिक शरीर तुम नही हो ।

३. हे ज्ञानी आत्मन् ! मृत्युमहोत्सव के उपस्थित होने पर तुम किस बात का भय करते हो ? यह आत्मा अपने स्वरूप मे स्थित रहता हुआ एक देह से दूसरे देह मे जाता है । इसमे उद्विग्न होने की कौन-सी बात है ?

४ पूर्वकाल के ऋषि और गणधर आदि सत्पुरुष ऐसा कहते है कि अपने किये हुए कर्तव्य तथा चारित्र का फल तो मृत्यु होने पर ही पाया जाता है । स्वर्गसुखो का भोग भी मृत्यु के अनन्तर ही मिलता है । उस तप परिणामदायी मृत्यु से भय क्या ?

५ ज्ञानी पुरुष विचारता है कि इस कर्मरिपु ने मेरे आत्मा को देहपिंजरे मे बन्दी बना रक्खा है । जिस समय से यह गर्भ मे आया है उसी क्षण से क्षुधा, तृषा, रोग, सयोग-वियोग आदि दु खो ने इसे घेर लिया है । इस बन्धनग्रस्त आत्मा को मृत्युराज के सिवा कौन मुक्त कर सकता है ?

६ आत्मदर्शी लोग सम्पूर्ण दु खो को देने वाले इस देहपिड को दूर करके मृत्युरूप मित्र की कृपा से सुख-सम्पदाओ को प्राप्त करते हैं ।

मृत्युकल्पद्रुमे प्राप्ते येनात्मार्थो न साधितः ।
निमग्नो जन्मजम्बाले स पश्चात् किं करिष्यति[१] ॥७॥
जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः ।
स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा[२] ॥८॥
सुखं दुःखं सदा वेत्ति देहस्थश्च स्वयं व्रजेत् ।
मृत्युभीतिस्तदा कस्य जायते परमार्थतः[३] ॥९॥
ससारासक्तचित्ताना मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम् ।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञानवैराग्यवासिनाम्[४] ॥१०॥
पुराधीशो यदा याति सुकृतस्य बुभुत्सया ।
तदासौ वार्यते केन प्रपचैः पाचभौतिकैः[५] ॥११॥
मृत्युकाले सतां दुःखं यद् भवेद् व्याधिसम्भवम् ।
देहमोहविनाशाय मन्ये शिवसुखाय च[६] ॥१२॥
ज्ञानिनोऽमृतसंगाय मृत्युस्तापकरोऽपि सन् ।
आमकुम्भस्य लोकेऽस्मिन् भवेत् पाकविधिर्यथा[७] ॥१३॥

---

१ जिस जीव ने मृत्युरूपी कल्पद्रुम प्राप्त करके भी अपने कल्याण की सिद्धि नही की, वह ससारसमुद्र मे डूबने के बाद क्या कर सकता है ?

२ ज्ञानी पुरुष मृत्यु को साता कर्म का उदय मानते है जिसकी कृपा से जीर्ण-शीर्ण शरीर छूट कर नवीन शरीर की प्राप्ति होती है ।

३ यह आत्मा देह मे रहकर सुख-दुःख का सदैव अनुभव करता है और स्वय ही परलोक-गमन करता है । तब परमार्थदृष्टि से मृत्युभय किसे हो ?

४. जिन जीवो का चित्त ससार मे आसक्तिमान् है वे अपने आत्मरूप को नही जानते, इसीलिए उन्हे मृत्यु भयप्रद प्रतीत होती है । किन्तु जो महान् आत्माएँ आत्मस्वरूप को जानती है और वैराग्य धारण करती है, उनके लिए तो मृत्यु आनन्ददायी है ।

५. इस जीव की आयु पूर्ण होने पर जब परलोक-सम्बन्धी आयु का उदय आ जाए तब शरीरादि पचभूतो के समूह से परलोकगमन करते हुए कौन इसका प्रतिबन्ध कर सकता है ?

६. मृत्यु के समय कर्म के उदय से रोगादि दुःख उत्पन्न होते हैं । वे व्याधिजन्य दुःख ज्ञानवान् व्यक्ति के लिए देह पर से मोहनिवृत्ति के लिए हेतुभूत होते हैं और उनसे निर्वाणसुख की प्राप्ति होती है ।

७. यद्यपि मृत्यु तापकारी है तथापि ज्ञानी उसे अमृत (मोक्ष) की सगति के लिए कारण मानते हैं । कच्चा कुम्भ अग्निसस्कार होने पर पक्व होता है तथा अमृत (जल) की सगति का पात्र बनता है ।

यत् फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासविडम्बनात् ।
तत् फलं सुखसाध्यं स्यात् मृत्युकाले समाधिना[1] ॥१४॥

अनार्तः शान्तिमान् मर्त्यो न तिर्यक् नापि नारकः ।
धर्मध्यानपरो मर्त्योऽनशनी त्वमरेश्वरः[2] ॥१५॥

तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि फल मृत्यु समाधिना[3] ॥१६॥

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत् प्रीतिरिति हि जनवादः ।
चिरतरशरीरनाशे नवतरलाभे च किं भीरु[4] ॥१७॥

---

१. उत्तम व्रतों के कष्टों को सहन करने के पश्चात् जिस फल की प्राप्ति होती है, समाधि-मरण लेनेवाले को वह फल सुख से (अनायास) प्राप्त हो जाता है।

२. मरणदशा को प्राप्त करते हुए जो सत्पुरुष आर्त परिणामो से रहित होता है, शान्त रहता है, वह जीव तिर्यक् अथवा नारक गति मे नही जाता। जो उस वेला धर्मध्यान-परायण अनशनव्रत लेकर शरीर का त्याग करता है वह इन्द्र अथवा महर्धिक देव होता है।

३ शास्त्रविहित तप तपने का, व्रतो के पालन करने का, तथा शास्त्र-स्वाध्याय का फल समाधिमृत्यु से प्राप्त होता है।

४ ससार में प्रवाद प्रसिद्ध है कि जो अतिपरिचित हैं उनमें अवज्ञाबुद्धि उत्पन्न होना स्वाभाविक है। तथा जो नवीन है उसमें सहज ही प्रीति होना भी स्वाभाविक है। अतः यह देह जो वर्षों पुराना, शिथिल तथा जर्जर हो गया है, इसके नाश होने पर नवीन देह मिलेगा। फिर भय किस लिए? अर्थात् जीर्ण के त्याग और नवीन की प्राप्ति के लिए उत्साहपूर्वक प्रवृत्त होना चाहिए। उस शुभ वेला में अशुभ दुर्गतिदायक कर्मबन्ध नहीं करने चाहिए।